सहजानंद शास्त्रमाला

नियमसार प्रवचन ग्यारहवां भाग

(शुद्धोपयोग अधिकार)

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 002

प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक **'नियमसार प्रवचन ग्यारहवां भाग'** अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है।

श्री नियमसार **आचार्य कुन्दकुन्द** द्वारा रचित आध्यात्मिक ग्रन्थ है. इस पर पूज्य वर्णीजी द्वारा अत्यन्त सरल भाषा में प्रवचन किये गये हैं । प्रस्तुत ग्रन्थ में नियमसार ग्रन्थ की गाथा 159 से 187 तक के प्रवचन संकलित हैं ।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/ वेबसाइड पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुन: प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे |

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर** एवं प्रूफिंग करने हेतु **श्री शांतिलालजी बड़जात्या,** इन्दौर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा
53, मल्हारगंज मेनरोड़
इन्दौर (म०प्र०)
Phone-0731-2410880, 9753414796
Email-vikasnd@gmail.com
www.jainkosh.org

शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आतमराम।।टेक।।
मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान।।
मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।
सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।
जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।
होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम।।
अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।

हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजानंद॰।।१।।

हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजा॰।।२।।

आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजा॰।।३।।

Table of Contents

प्रकाशकीय ..... - 2 -
आत्मकीर्तन ..... - 3 -
आत्म रमण ..... - 3 -
गाथा 159 1
गाथा 160 11
गाथा 161 18
गाथा 162 22
गाथा 163 25
गाथा 164 29
गाथा 165 32
गाथा 167 43
गाथा 168 47
गाथा 169 51
गाथा 170 55
गाथा 171 59
गाथा 172 63
गाथा 173 , 174 67
गाथा 175 71
गाथा 176 74
गाथा 177 78
गाथा 178 81
गाथा 179 84
गाथा 180 88
गाथा 181 91
गाथा 182 95
गाथा 183 98
गाथा 184 99

गाथा 185 104

गाथा 186 108

गाथा 187 111

नियमसार प्रवचन ग्यारहवां भाग

(शुद्धोपयोग अधिकार)

गाथा 159

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं।।159।।

शुद्धोपयोगाधिकार में दोनों नयों से शुद्धोपयोग का विलास—नियमसार ग्रन्थ में शुद्धोपयोग अधिकार नाम का अंतिम अधिकार है, इसमें शुद्धोपयोग का वर्णन किया गया है। व्यक्तरूप शुद्धोपयोग केवलज्ञान और केवलदर्शन है और शक्तिरूप शुद्धोपयोग सहजज्ञान और सहजदर्शन है। शुद्धोपयोग का अवलोकन, आलम्बन समस्त कर्मों के विनाश करने का हेतुभूत है। ग्रन्थ के व्यक्तव्य में यह सब वर्णन आ चुका है, फिर भी मानो चूलिकास्वरूप एक उपसंहारात्मक पद्धति से स्वरूप का और अपने कर्तव्य का और उस कर्तव्य के फल का स्मरण दिलाने के लिए यह गाथा आ रही है। इस गाथा में बताया है कि केवली भगवान व्यवहारनय से सबको जानते हैं और देखते हैं किन्तु निश्चयनय से केवली प्रभु अपने आत्मा को ही जानते और देखते हैं। इस परमज्ञान के स्वपरस्वरूपप्रकाशकता का प्रतिपादन किया गया है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञान का काम जानना है। जानना किसी विषय को ही लेकर होता है, जिसमें कुछ जाना न जाय और जानना हो जाय, ऐसा जानने का स्वरूप नहीं बनता है, तो जो जानन परिणमन है उस परिणमन का ईप्सिततम क्या है, अपना वह जानना किसे है? इस तथ्य को दो नयों से बताया गया है।

वस्तु का अभिन्नकारकत्व—निश्चय से प्रत्येक पदार्थ अपने अभिन्न परिणमन को करता है और उस परिणमन में जो व्यवस्था हुई, परिणमन हुआ उस परिणमन को करता है, ऐसा परिणमन अपने आपके ही परिणाम से करना है। इस परिणमन का फल, ऐसा परिणमन होने से अपने आपका सत्त्व रखना यह फल भी उसही पदार्थ में हुआ करता है। परिणमन चूँकि एक परिणति है, जो परिणमन हुआ वह अगले समय में नहीं रहता है, यों यह परिणमन अध्रुव है, मूल व्यक्त नहीं होता है, किसी मूल से निकलता है। अध्रुव का स्रोत कोई ध्रुव होता है। ध्रुव के बिना अध्रुव व्यक्त नहीं होता है। जैसे पत्ता पेड़ से गिरता है, यह गिरने वाला पत्ता अमूल नहीं है, यह किसी एक ध्रुव पदार्थ से निकलता है, उसे लोक में जिसे ध्रुव कहते हैं यह है पेड़। तो जैसे ध्रुव से अध्रुव का निकलना होता है ऐसे ही इस आत्मपरिणमन का इस ध्रुव आत्मा से निकलना होता है। यह परिणमन अपने आत्मा में होता है, यों षट् कारक का वर्तन अभेदरूप से अपने आपके अपने आपमें है। इस दृष्टि से आत्मा ने जो कुछ जाना वह आत्मा को ही जाना। आत्मा जाननरूप परिणमन किसी दूसरे पदार्थ में नहीं कर सकता है। जो जानन का ही वर्तन हो, ज्ञेयाकार परिणमन हो, निज क्षेत्र में निज ज्ञेयाकार परिणमन हुआ उसे ही इस आत्मा ने जाना। और ऐसा जानते हुए की स्थिति में क्या वास्तव में जाना, इसे निश्चय से बताया नहीं जा सकता। तो उस जानन में जो परपदार्थ विषय हुए उन परपदार्थों का आशय करके प्रतिपादन किया जाता है कि आत्मा ने परपदार्थों को जाना।

दृष्टान्तपूर्वक व्यवहारनय व निश्चयनय की पद्धति का समर्थन—यहाँ एक दृष्टान्त लो। जैसे हम दर्पण को हाथ में लेकर देख रहे हैं, पीठ पीछे दो तीन बालक खड़े हुए हैं, उनको हम नहीं देख रहे हैं। वे हमारे पीठ के पीछे हैं, किन्तु उन बालकों का निमित्त पाकर यह दर्पण उन बालकों के आकाररूप परिणम रहा है, वह प्रतिबिम्बित हो रहा है। हम एक दर्पण को ही देख रहे हैं, पर दर्पण को देखते हुए भी हम बालकों की चेष्टा

का भी बयान करते जाते हैं। अब इस बालक ने टाँग उठाई, अब इसने जीभ निकाली, ये सब वर्णन करते जाते हैं, देख रहे हैं सिर्फ दर्पण को, यों ही हमने किसे देखा, इसका उत्तर लेना चाहें तो दृष्टान्त रूप में निश्चय से तो हमने दर्पण को देखा। यहाँ निश्चय का अर्थ केवल दृष्टान्त के प्रयोजन तक लेना, और व्यवहार से हमने बालकों को देखा, जाना। ऐसे ही हमारा यह ज्ञानप्रकाश यह स्वच्छ ज्ञानस्वरूप दर्पण से भी विलक्षण अधिक स्वच्छ आदर्श है। इस ज्ञान की स्वच्छता में जगत् के सब पदार्थ झलक जाते हैं और जगत् में जो-जो पदार्थ हैं उनका आकार यहाँ ग्रहण में आता है, अर्थात् यह आत्मा ज्ञेयाकाररूप परिणमन करता है अर्थात् परज्ञेयों का आश्रय विषय करता है, निज ज्ञेय में उनके अनुरूप अपना जानना बनाता है, ऐसा ज्ञेयाकाररूप परिणमते हुए हम केवल अपने आत्मा को ही जान रहे हैं किन्तु ऐसा जानते हुए में हम बखान सब परपदार्थों का कर सकते हैं, उन्हें जान लेते हैं।

ज्ञान की प्रकाशकता का नयों द्वारा दिग्दर्शन—हम सीधा परपदार्थों को नहीं जान रहे, स्पष्ट सीधा यथार्थरूप से हम अपने ही परिणमन को जान रहे हैं पर उस परिणमन को हम जान रहे हैं यह बताना चाहे तो किसी परपदार्थ का नाम लेकर ही बता सकेंगे। जैसे आप इस चौकी को देख रहे हैं, जान रहे हैं, आप तो अपने देह में विराजमान् हैं, आपका आत्मा तो उसके भीतर ही अपने स्वरूप में है, उस आत्मा में जितने गुण हैं, शक्ति हैं वे आपके आत्मा में ही हैं। आपके आत्मा से निकलकर इस चौकी तक कुछ नहीं आया और आप जो कुछ कर रहे हैं वह अपने स्वरूप में ही कर रहे हैं। आपका कुछ भी करना स्वरूप से निकलकर चौकी में नहीं आया, तब आप जो जान रहे हैं वह जानना भी आपका कौन करता है? आप अपने आप अपने को ही जान रहे हैं, आपका जानना आपके स्वरूप से निकलकर इस चौकी में न आ जायेगा। आप अपने आपमें ही अपने आपको जान रहे हैं कि यह चौकी है, वास्तव में सीधा आपने चौकी को नहीं जाना, अपने आपको जाना है। ऐसे ही इस प्रकरण में पूर्ण शुद्ध चरमविकास को प्राप्त उपयोग के सम्बन्ध में बताया जा रहा है कि केवली भगवान निश्चय से तो अपने आपको ही जानते देखते हैं और व्यवहार से समस्त जगत् को जानते देखते हैं।

व्यवहार से बहिर्द्रव्यालम्बनता—आत्मा में ज्ञानशक्ति और दर्शनशक्ति है। इस ज्ञान-दर्शन गुण का विकास न होने दे, आवरण हो जाय, इस प्रकार का निमित्तभूत कर्म है—ज्ञानावरण, दर्शनावरण घातिया कर्म। उसके ध्वस्त हो जाने से सकल प्रत्यक्षभूत निर्मल केवलदर्शन प्रकट हो जाता है, उस केवलज्ञान, केवलदर्शन से यह केवली भगवान तीनलोक तीनकाल के समस्त चेतन-अचेतन पदार्थों को, उनके गुण पर्याय को एक ही साथ जानते और देखते हैं। यह भगवान परमेश्वर समस्त लोक को, समस्त पर्यायों को एक साथ जानते देखते हैं, ऐसा प्रतिपादन करना, किसी परपदार्थ का नाम लेकर उपचार करके, आश्रय करके किया गया है, इस कारण यह वर्णन व्यवहारनय से समझना। व्यवहार और निश्चय का मूल अन्तर यह है कि बाह्य द्रव्य का आलम्बन करके बनाया जाय वह तो व्यवहार है और जो केवल स्वद्रव्य की ही बात स्वद्रव्य का ही नाम लेकर स्वद्रव्य में ही बताया जाय, वह निश्चयनय का वर्णन है। यह प्रभु केवली भगवान व्यवहार से समस्त लोकों को जानते हैं।

वर्तमान वृत्ति बताने के लिये दो पद्धतियों का आश्रय—यहाँ यह भाव न लेना कि वह व्यवहार से जानते हैं। सबको तो यह सबका जानना उनका यथार्थ नहीं है। वह जो कर रहे हैं उस ही को व्यवहारनय से बताना और निश्चयनय से बताना—इन दो पद्धतियों का यहाँ आश्रय लिया गया है। वह जानते वही का वही है जैसा निश्चयनय से दिशामात्र बतावेंगे अथवा व्यवहारनय से बतावेंगे। परद्रव्य का आलम्बन लेकर बताने के कारण पराश्रित वर्णन व्यवहारनय का प्रतिपादन हुआ और एक स्व का ही आलम्बन लेकर बताने के कारण

निश्चयनय का प्रतिपादन हुआ। ये प्रभु कार्यपरमात्मा हो चुके हैं, फिर भी निश्चयनय से अपने आपको अर्थात् इस कारणपरमात्मा को जानते और देखते हैं।

स्वपरिणमन के अनुभव की ही शक्यता—जैसे आपने किसी दूसरे का बुखार जानना चाहा तो थर्मामीटर लगाकर उसका बुखार उन नम्बरों से जान जाते हैं, इसे 102 डिग्री बुखार है। वहाँ पर आप उसकी बीमारी का अनुभव नहीं कर पा रहे हैं, किन्तु उसकी बीमारी की मर्यादा को ध्यान में लाकर जो अपना ज्ञान बना रहे हैं उस ज्ञान का अनुभव कर रहे हैं, रोगी की बीमारी का अनुभव नहीं कर रहे हैं। वह आपके ज्ञान का अनुभव कैसा है, उसको बताने का ढंग यही है कि आप उस विषय को बता दें कि इसके इतनी डिग्री बुखार है, हम ऐसा जान रहे हैं। वहाँ आपने निश्चय से तद्विषयक जो ज्ञान किया है उस ज्ञान का ही अनुभव किया है, रोगी के बुखार का अनुभव नहीं किया है, ऐसे ही हम आप सब सर्वत्र सर्वदा जो भी संकल्प-विकल्प ज्ञान करते हैं उसका ही अनुभव करते हैं, दूसरे का अनुभव नहीं करते हैं।

एक वस्तु का अन्यवस्तु से सम्बन्ध का प्रभाव—देखो भैया ! परमार्थत: मेरा इन परपदार्थों के साथ जानने तक का भी सीधा सम्बन्ध नहीं है। मैं सदा अपने को जानता हूँ और कल्पनाएँ, विकल्प उठते हैं इस कारण मैं परपदार्थ के विषय में रागद्वेष करता हूँ। मैं केवल अपना ही करने वाला हूँ, जरा अपनी ओर दृष्टि दो। परपदार्थों को 'मैं करता हूँ, इस विकल्प-अंधकार में दबे रहने का फल अच्छा नहीं होता। यह सब मायाजाल है जो सदा से ही अपने को ही करता आया है और भविष्य में भी सदा अपने को ही करता रहेगा। यह मिथ्यावासना आपको ही क्लेश देगी। इस मिथ्यावासना को हटावो। न मैं किसी का कुछ करता हूँ, न मैं किसी का कोई अधिकारी हूँ, न मैं किसी का कुछ स्वामी हूँ—इस ज्ञानप्रकाश को बनाएँ, वास्तव में यह ही तथ्य की बात है।

अपना-अपना कर्मफल—जिस जीव के विशेष पुण्य का बंध हुआ उसको तो सुखी होना आवश्यक है। वह लौकिक सुखों में कैसे सुखी हो, उसका निमित्तभूत आप बनते हैं तो आप अपने चिन्तन में दूसरे व्यक्ति को आदर देकर सेवा किया करते हैं। बच्चों का भाग्य है और आपसे बड़ा भाग्य है उन बच्चों का जिनकी कि आप सेवा किया करते हैं। आप उन बच्चों को खिला-पिलाकर, बहलाकर उनकी सेवा कर रहे हैं तो इस प्रसंग में आप यह बतावो कि भाग्य आपका बड़ा हुआ या उन बालकों का भाग्य बड़ा हुआ? पुण्य विशेष आपसे उन बालकों का ज्यादा है। यह भी सम्भव है कि आप जब बालक थे तब बहुत पुण्य के साथ आये थे, आपकी भी ऐसी ही सेवा शुश्रूषा होती थी। ज्यों-ज्यों उमर बढ़ती गयी, रागद्वेष, विषय-वासनाएँ बढ़ती गयीं, उन सभी इच्छावों ने आपके पुण्य को जला डाला। आप कुछ कम पुण्यवान् रह गये, यह भी सम्भव है।

पुण्यफलप्राप्ति के बालक—जिनका पुण्य महान् है ऐसे बालकों के प्रति आप यह कल्पना जब तक नहीं कर पाते हैं कि ये मेरे बालक हैं, मैं इन्हें पालता पोषता हूँ तब तक आप उन बालकों की सेवा नहीं कर सकते हैं। उनकी सेवा करने के लिए ही आपमें ममता और कर्तव्य बुद्धि उत्पन्न हो रही है, वस्तुत: आप भी वहाँ केवल अपने परिणाम को ही कर रहे हैं, किसी दूसरे की रक्षा आप नहीं करते हैं, न आप दूसरों को पालते-पोषते हैं, न आप किसी दूसरे के अधिकारी हैं, न स्वामी हैं, आप तो केवल अपने आपमेंहीअपना परिणाम बनाये जा रहे हैं, भला पर को जानने तक का भी सम्बन्ध न हो वहाँ पर के अधिकार और स्वामीपने का सम्बन्ध हो जाय, यह अघटित बात कैसे हो सकती है?

कल्याण में विविक्तता की अनिवार्यता—भैया ! जब तक मोह न त्यागोगे तब तक शान्ति का अनुभव न आ पायेगा। अपना ही तो चित्त है, अपना ही तो उपयोग है, अपने आपमें है, इस उपयोग को केवल अपने में ही लगायें, बाह्य समस्त पदार्थों का विषय त्याग दें तो क्या ऐसा किया नहीं जा सकता? क्या इसमें कुछ कठिनाई आ रही है? यह है मोक्षमार्ग की बात। संसार के संकटों से छूटना है तो अपने आपको केवलरूप में

अनुभव करना ही होगा और अपने आपके कैवल्य में ही संतोष पाना होगा। इन बाह्य पदार्थों से निवृत्त होना ही होगा, कभी भी हो लें। कोई पुरुष तो भोगों को बिना भोगे ही भोगों को त्याग देते हैं, कोई पुरुष भोगों को भोगकर उन्हें असार, अहितरूप समझकर त्याग देते हैं। कोई पुरुष उन भोगों में ही मरकर अंत में परवश होकर भोगों को त्याग देते हैं। बुद्धिमानी तो इसमें है कि जो भोग आखिर छूट ही जायेंगे उन भोगों को पहिले ही छोड़कर अपने जीवन में आराम पायें। छूटना तो नियम से है। जिस पदार्थ का संयोग हुआ है वह पदार्थ रह न सकेगा। अब यह अपनी मर्जी है कि हम उससे किस तरह छूटें?

परिहारविधियों पर एक दृष्टान्त—एक कथानक में यह घटना बतायी है कि भंगिन विष्टा का एक टोकरा भरे हुए लिए चली जा रही थी। शहर के कुछ भले लोगों ने विचारा कि यह खुला हुआ विष्टा का टोकरा लिए जा रही है, इससे तो बहुत से लोगों को कष्ट पहुंचेगा, सो ऐसा करें कि एक कपड़ा ढाँकने को दे दें सो ढाँक लेगी, सो एक बहुत सुन्दर तौलिया दे दिया। अब वह बहुत सुन्दर तौलिया से ढका हुआ टोकरा लिए जा रही है, रास्ते में तीन व्यक्तियों ने सोचा कि इस टोकरी में कोई अच्छी चीज होगी, देखना चाहिए। भंगिन ने उनसे कहा—भाई ! क्यों पीछे लगे हो, इसमें मल भरा हुआ है। इतनी बात सुनकर उन तीनों में से एक लौट गया। उन दो को विश्वास न हुआ, सोचा कि यह हमें बहका रही है। कुछ दूर जाकर भंगिन बोली—भाई ! क्यों पीछे लग रहे हो, इसमें तो मल भरा हुआ है। तो वे दोनों बोले कि हम ऐसे नहीं मानेंगे, हमें तो दिखावो। उसने दिखाया तो देखकर उनमें दोनों में से एक वापिस लौट गया, एक को अभी भी विश्वास न हुआ। वह पीछे लगा रहा। भंगिन बोली, भाई ! तुम क्यों पीछे लगे हुए हो, इसमें मल भरा हुआ है। वह बोला कि हमें तो विश्वास नहीं है, हम तो अच्छी तरह से सूँघ-साँघ कर देखेंगे। जब समझ जायेंगे कि हाँ यह विष्टा है तब मानेंगे। उसने तौलिया उठाकर विष्टा को खोल दिया, अच्छी तरह से सूँघ-साँघ कर जब वह समझ गया कि हाँ यह विष्टा है तब वापिस लौट गया।

ससद्विधि भोगों से निवृत्त होने का अनुरोध—ऐसे ही इन भोगों को ये महापुरुष तीन पद्धतियों से त्यागते हैं। कोई तो उपदेश पाकर अपने ज्ञान से समझकर तुरन्त भोगों को त्याग देते हैं, कोई भोगों का अनुभव करके त्यागते हैं और कोई भोगों में लिप्त रहकर अंत में विवश होकर त्यागते हैं। ये सभी भोगसाधन प्रकट भिन्न हैं, इनसे उत्तमविधि पूर्वक निवृत्त होने का उद्यम करें और अपने आनन्दघन ज्ञानप्रकाश का अनुभव करके अपना कल्याण करें, यही मानवजन्म की सफलता है।

पदार्थसमूह—इस लोक में 6 प्रकार के पदार्थ हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन 6 में से आकाश तो लोक में भी है और लोक से बाहर भी है। आकाश असीम है, शेष 5 द्रव्य केवल लोक के अन्दर ही हैं। लोक उसे ही कहते हैं जहाँ समस्त द्रव्य दिख जायें याने पाये जावें। इन 6 प्रकार के द्रव्यों में धर्मद्रव्य एक है, अधर्मद्रव्य एक है, आकाशद्रव्य एक है, कालद्रव्य असंख्यात हैं, जीव और पुद्गल अनन्त हैं। यह सब गणना कैसे अनुमान में आये? एतदर्थ प्रथम एक का स्वरूप जानिये।

एक पदार्थ के लक्षण में अखण्डता का विवरण—एक पदार्थ उतना होता है जिसका कि दूसरा हिस्सा न हो सके अथवा एक परिणमन जितने में पूरे में होना ही पड़ता है उतने को एक द्रव्य कहते हैं। जैसे हम आप सब जुदे-जुदे जीव हैं क्योंकि हम आप किसी के जीव के कभी दो हिस्से नहीं होते। ऐसा नहीं होता कि शरीर में आधा जीव रह जाय और आधा जीव अलग हो जाय। जब कभी यह जीव शरीर से कुछ बाहर भी रहता है तब भी शरीर से और जहाँ तक बाहर जाय, फैला रहता है। उस स्थिति में भी ऐसा नहीं है कि जीव आधे-आधे भाग में है और बीच भाग में नहीं है। जैसे आपने कभी देखा होगा कि किसी छिपकली की पूँछ लड़ते-लड़ते टूटकर गिर जाती है, आधा धड़ एक जगह तड़फता रहता है और वह पूँछ एक तरफ तड़फती रहती है तो कहीं ऐसा नहीं है कि आधा जीव आधे भाग में है और आधा जीव आधे भाग में है, बीच में कुछ

नहीं है। जीव तो उन दोनों भोगों में पूर्णरूपेण फैला हुआ है, वहाँ कहीं ऐसा नहीं होता कि आधा जीव आधे शरीर में रह गया और आधा जीव आधे शरीर में रह गया। थोड़ी देर बाद जो शरीर का मूल द्रव्य प्राण है, हृदय है, मुख है, जो भी हैं वे सब एक मूल शरीर में आ जाते हैं।

एक पदार्थ के लक्षण में परिणमन के एकत्व का विवरण—आत्मा प्रत्येक एक अखण्ड है, हमारा परिणमन जो कुछ भी होता है, वह पूरे आत्मप्रदेश में होता है। हम ज्ञान करें तो पूरे आत्मा में होगा, हम राग करें तो पूरे आत्मा में होगा। ऐसा नहीं है कि हमारा कुछ परिणमन आधे आत्मा में हो और आधे आत्मा में न हो। इन दो लक्षणों से इस द्रव्य की पहिचान होती है। इस तरह निरख लो, हम आप सब अलग-अलग जीव हैं। हमारा अनुभव आपमें नहीं होता, आपका अनुभव हममें नहीं आता, इस प्रकार स्वतंत्र-स्वतंत्र एक-एक जीव करके अनन्तानन्त जीव हैं।

एकत्व के लक्षण के आधार पर पुद्गलों की गणना—इन पुद्गलों में भी एक-एक अणु करके अनन्तानन्त पुद्गल अणु हैं, दिखने में जो स्कंध आते हैं, ये एक चीज नहीं हैं। ये सब अनन्त परमाणुवों के समूह हैं और इसी कारण जैसे कभी कपड़े में आग लग जाय तो एक खूँट जल रहा है बाकी कपड़ा नहीं जल रहा है, वह कुछ देर से जलेगा। यह बात तब पायी जाती है जब वह कपड़ा एक चीज नहीं है, कपड़ा एक चीज होता या चौकी आदिक कोई भी पदार्थ एक चीज होता तो आग लगने पर एक ही साथ वह सारा पदार्थ जल जाता। पर ये सब अनन्त परमाणुवों के पुंज हैं। जिस पर्याय में जहाँ जो परिणमन होता है वह पूरे में होना ही पड़ता है। इस तरह एक-एक परमाणु करके अनन्त परमाणु पुद्गल हैं, ये समस्त द्रव्य अपने आपके स्वरूपसर्वस्व को लिए हुए स्वतंत्र हैं। इनमें जब विभावपरिणमन होता है तो किसी परपदार्थ की उपाधि का निमित्त पाकर होता है, परंतु उपादान केवल अपने स्वरूप को लिए हुए ही परिणमता है, किसी परनिमित्त के स्वरूप का ग्रहण करके नहीं परिणमता है। यों अनन्तानन्त पदार्थ हैं।

सारभूत पदार्थ—उन सब पदार्थों में जाननहार चेतन व्यवस्थापक ये जीवपदार्थ हैं, इसी कारण समस्त पदार्थों में सारभूत पदार्थ जीव माना गया है। यह ज्ञानवान है और समस्त जीवों में, जिन जीवों के शुद्ध चरम विकास हो गया है, पूर्ण हो गया है, जिनका नाम केवलज्ञान है, जिनका दर्शन केवलदर्शन है ऐसा प्रभु, परमात्मा, अरहंतदेव, सिद्ध भगवान, यह समस्त जीवों में भी श्रेष्ठ है। स्वरूपदृष्टि से यद्यपि समस्त जीव एक स्वभाव वाले हैं, किन्तु रागादिक भावों का अभाव होने से जिन्हें शुद्ध विकास प्रकट हुआ है वे परमात्मा केवली कहलाते हैं।

प्रभु के ज्ञान की स्वपरप्रकाशकता की पद्धति—केवली भगवान के सम्बन्ध में इस प्रकरण में यह बात बतायी जा रही है कि केवली भगवान निश्चय से तो अपने आत्मा को जानते हैं और व्यवहार से समस्त लोक को जानते हैं। भगवान के प्रदेश में कैसी ज्ञानपरिणति चल रही है? इसके बताने के दो प्रकार हैं। भगवान में जो कुछ होता है वह तो एक ही प्रकार की बात है, उसको जब विषय की मुख्यता लेकर कहते हैं तो यह कहा जाता है कि प्रभु सबको जानते हैं और जब अभिन्न आधार की मुख्यता लेकर कहा जाता है तब प्रभु अपने आत्मा को जानता है यों निश्चय से कहा जाता है। इस प्रकरण में यह जानना चाहिए कि ज्ञान का यह स्वभाव है कि वह स्वपरप्रकाशक होता है। अपने आपका प्रकाश करने वाला है ज्ञान, और परपदार्थों का भी प्रकाश करने वाला है ज्ञान।

ज्ञान की स्वपरप्रकाशकता पर एक दृष्टान्त—जैसे एक लौकिक दृष्टान्त दिया जा रहा है कि प्रदीप जलता है, उस प्रदीप में दो प्रकार के धर्म हैं, एक तो अपने आपको प्रकाशित करना और एक पर को प्रकाशित करना। जहाँ पर को प्रकाशित करने की बात कही जाय वहाँ यह अर्थ लेना कि परपदार्थ प्रकाशित होता है उसमें निमित्तभूत यह प्रदीप बनता है, ऐसी दो प्रकार की बातें दीपक में पायी जाती हैं। घट आदिक पदार्थ जो कि

प्रकाशित हो रहे हैं दिया के जलने से, दिया से, ये घट आदि से जुदे हैं, एक नहीं हैं फिर भी दीपक में यह बात देखी जा रही है कि स्व को भी प्रकाशित करे और पर को भी प्रकाशित करे। ऐसे ही भगवान का ज्ञान सारे लोकालोक पदार्थों से अत्यन्त जुदा है, फिर भी कुछ ऐसा पाया जाता है कि अपने आपको तो ये जानते ही हैं और समस्त लोक को भी जानते हैं।

सर्वज्ञानों में स्वपरप्रकाशकता की दृष्टि—जैसे प्रभु के ज्ञान में स्वपर का प्रकाश करने की सामर्थ्य है ऐसे ही हम और आपके ज्ञान में भी अपने को और पर को जानने की सामर्थ्य है। इस समय जब हम अपनी चीजें जान रहे हैं तो यह निश्चय समझिये कि मेरा ज्ञान, मेरा गुण, मेरी ज्ञानशक्ति कहीं मेरे आत्मा को छोड़कर बाहर निकलकर इन पदार्थों को नहीं जान रही है। मेरी ज्ञानशक्ति मेरे ही प्रदेशों में रहकर मेरे ही में परिणम करके इस प्रकार से अपनी वृत्ति कर रही है कि जिसका आकार, जिसका जानन इन सब रूपोंरूप हो रहा है। इस प्रकार ज्ञान में ऐसी अलौकिक सामर्थ्य है, किन्तु हम आप लोग अपने आपके इस ज्ञानस्वरूप की सुध नहीं लेते हैं।

ज्ञान के ज्ञान का आनन्द– भैया ! अतुल आनन्द ज्ञान के ज्ञान में ही पड़ा हुआ है। भोगों के ज्ञान में, जड़ पदार्थों के ज्ञान में आनन्द नहीं है। उन लोगों के ज्ञान में भी जब भी आनन्द होता है तो वह आनन्द अपने आपका ही आनन्द है, भोगों का आनन्द नहीं है। किन्तु मोही जीवों की दृष्टि पर की ओर व्यामुग्ध रहती है, अतएव ये यही समझते हैं कि मुझे आनन्द भोगों से मिला है, परपदार्थों से मिला है। अरे वे भोग वे परपदार्थ और क्या होंगे? पञ्चेन्द्रिय के विषयभूत ही तो हैं। स्पर्शन का विषय स्पर्श है, स्पर्श अचेतन में होता है। रसना इन्द्रिय का विषय रस है, रस अचेतन में होता है। घ्राणेन्द्रिय का विषय घ्राण है, यह भी जड़ पुद्गल में ही होता है, चक्षुइन्द्रिय का विषय रूप है यह भी पुद्गल में है। श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द है, शब्द भी पुद्गल में पाये जाते हैं। शब्द पुद्गल की पर्याय है और वे भी सब गुणों की पर्यायें हैं। इन अचेतन पदार्थों में ज्ञान भी नहीं है, आनन्द भी नहीं है, तब उन पदार्थों से मेरे में ज्ञान कैसे आ जाय, आनन्द कैसे आ जाय? इन पदार्थों को विषय करके जो हमारे में एक विशिष्ट प्रकार का ज्ञान बनता है उस ज्ञान का आनन्द लूटा करते हैं, भोगों के भोगने के समय भी भोगों से आनन्द नहीं है। जो आनन्दस्वरूप है उसकी ओर दृष्टिपात नहीं करते और जहाँ न आनन्द है और न ज्ञान है ऐसे परपदार्थों की ओर आकर्षित होते रहते हैं। इस ही भूल में अब तक संसार में रुलते चले आये हैं और यही भूल जब तक रहेगी तब तक संसार में रुलते रहेंगे।

आत्मविश्राम का अनुरोध—यह मनुष्यजन्म बहुत दुलर्भ जन्म है। अनेक कुयोनियों से निकलकर आज मनुष्य हुए हैं तो मनुष्य भव को भोगों में, मोहरागद्वेष में न खोयें किन्तु अपने आपकी सुध लें। अपने आपके ज्ञानामृत का पान करके तृप्त रहा करें, जिन बाह्यपदार्थों को देखकर हर्षमग्न हुआ करते हैं वे बाह्य पदार्थ विनश्वर हैं और उनकी ओर से मेरे में कोई गुण नहीं आता है, वे अपनी ही जगह हैं, मैं अपने आपमें कल्पनाएँ करके अपना ही जाल गूँथ करके विकल्पों के अनुसार हम कुछ से कुछ माना करते हैं। परमार्थ से मेरा ज्ञान, मेरा आनन्द किसी दूसरे पदार्थ से नहीं मिलता है। एक बार ऐसा उत्तम साहस करके समस्त परपदार्थों को भूलकर अपने आत्मा में परमविश्राम तो लें। अलौकिक आनन्द की झलक होगी और उसही आनन्द में यह सामर्थ्य है कि हमारे संसार के सकल संकट विनष्ट हो जायेंगे, उसके प्रताप से यह ज्ञानस्वरूप की चर्चा चल रही है? जैसे दीपक प्रकाशात्मक होने से अपने आपको भी प्रकाशित करता है और घट आदिक जो भिन्न पदार्थ हैं उनको भी प्रकाशित करता है, इसही प्रकार ज्ञानज्योति से स्वयं ज्ञानात्मक जो निज आत्मा है उस आत्मा को भी जानता है।

आत्मदेव की देहदेवालय से भी विविक्तता—जैसे शीशी के अन्दर पारा रहकर भी शीशी से अत्यन्त भिन्न है, पारे का कुछ भी अंश शीशी में नहीं आता और शीशी का कुछ भी अंश पारे में नहीं जाता। पारा शीशी के

अन्दर पड़ा हुआ भी अपने स्वभाव से भिन्न है, यों ही जानो कि इस देह के अन्दर रहकर भी यह आत्मा देह से जुदा रहने का अपना स्वभाव बनाये हुए है। बल्कि शीशी के जितनी जगह में काँच है वहाँ पारे का तो निवास ही नहीं है, किन्तु यहाँ जिस-जिस जगह भी शरीर है उन-उन अणुवों में इस आत्मा का निवास है, इतने पर भी इस देह से यह आत्मा पूरा विविक्त ही रहने का स्वभाव रख रहा है।

ज्ञानभावना का प्रताप—जो केवल आत्मा को ही जानना चाहता है और इसके उपाय में ज्ञान का क्या स्वरूप है, ज्ञान क्या काम करता है, ज्ञान का जानन क्या है? वह केवल जानन प्रकाश में ही अपना उपयोग देगा, केवल प्रकाशमात्र ही अपने आपकी भावना करेगा, वह इस विविक्त आत्मा को पा लेगा, पहिचान लेगा। अपने आत्मा का परिचय, अपने आपकी प्राप्ति एक ज्ञानभावना में बसी हुई है। हम अपने आपको मैं केवल ज्ञानमात्र हूँ, केवल जाननहार हूँ, जानन ही मेरा स्वरूप है, इस ज्ञानमात्र की बराबर भावना रहे। मैं ज्ञानमात्र हूँ, इस रुचि के साथ रहें। इस दृढ़ता के साथ रहें कि जो शरीर है वह भी विस्मरण हो जाय, लोक भी कुछ है यह भी विस्मरण हो जाय, गाँव-नगर, घर-कुटुम्ब, धन-वैभव समस्त परपदार्थ भूल जायें, उन्हें ध्यान में न लिया जाय, 'केवल ज्ञानमात्र मैं हूँ' इस प्रकार की निरन्तर भावना बनाएँ तो अपने आपके दर्शन ज्ञानानुभव के रूप में होंगे।

निमित्तनैमित्तिक योगपरम्पराखण्डिनी ज्ञानभावना—अहो इस जीव ने अपने आपको नानारूप माना है। यद्यपि यह जीव अशुद्धपर्याय में नानारूप हो रहा है, मनुष्य, तिर्यञ्च आदिक नाना पर्यायोंरूप है, रागद्वेष-मोह नाना रूप है, तथापि अपने को नानारूप मान-मानकर कुछ भी लाभ न होगा, हम संसार के संकटों से मुक्त न हो सकेंगे। यह नानारूपता मेरे स्वभाव की नहीं है। यह ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग का वाचक बन गया है। यह विनश्वर चीज है और इस निमित्तनैमित्तिक योग का खण्डन, परिहार हम केवल अपने आपको ज्ञानमात्र भावना करके, ज्ञानमात्र की उपलब्धि करके मिटा सकते हैं और दूसरा कोई उपाय नहीं है। पर को पर जानकर, निज को निज समझकर पर से हट जायें और निज में ही लग जायें, यह ही एक उपाय है कि हम सब संकटों को दूर कर सकते हैं। सबसे पहिले हमें निज को निज और पर को पर पहिचानना होगा। धन, वैभव, परिजन, मित्रजन इनसे सुख मान रहे हैं, इस भ्रम का खण्डन करना होगा। इन बाह्य समागमों में सुख तो क्या उल्टा क्लेश ही होता है।

अविवेकप्रेरित कल्पनायात्रा—धन-वैभव को, परिजन-मित्रजनों को अपना स्वरूप, अपनी वस्तु मानने में क्लेश ही क्लेश होता है। आनन्द नहीं मिलता है, यह जीव उस क्लेश को ही आनन्द समझता है। जो एक भूले रास्ते पर चल रहा है वह भूला तो है ही, पर उस भूल की ओर बढ़ाता चला जा रहा है। भूल को भूल न माने तो वह तो भूल बढ़ती ही जायेगी, वह भूल से कभी वापिस नहीं हो सकता, यों ही हम आप अन्तरंग में अपनी यात्रा करते जा रहे हैं। काहे की यात्रा? कल्पनाओं की यात्रा, ज्ञानपरिणमन की यात्रा, कभी हम किसी कल्पनारूप परिणम रहे, कभी किसी कल्पनारूप परिणम रहे, ऐसी कल्पनाओं के परिणमन की भीतर में यात्रा कर रहे हैं। हे यात्री, जरा विराम ले, इस भूल की यात्रा में तू अपनी भूल को बढ़ाता मत जा। कुछ ठहर और अपने आपमें सोच कि जिन कल्पनाओं में हम इतना बढ़े जा रहे हैं उन कल्पनाओं से मेरा हित नहीं है।

विनश्वर जीवन में अविनश्वरलाभ का प्रयत्न—हे आत्मन् ! मेरा हित एक निस्तरंग निर्विकल्पज्ञानप्रकाशमात्र के अनुभव में है, उसकी दृष्टि कर, उसके लिए यत्न कर। उस ही उपाय के करने के लिए अपने इस मनुष्यजीवन को जानो। मेरे मनुष्य होने का प्रयोजन एक यही होना चाहिए कि मैं अन्तरंग में ऐसा उपाय और पुरुषार्थ बना लूँ कि सदा के लिए जन्म-मरण, भूख-प्यास, संयोग-वियोग, ये सारे क्लेश दूर हो जायें जो कि

कल्पनाओं से उत्पन्न हुए हैं। यह पुरुषार्थ यदि किया जा सका तो हम लोगों का मनुष्य जन्म पाना, श्रावक कुल पाना, जैनेन्द्रमार्ग पाना—ये सब सफल हैं।

शुद्ध उपयोग की चर्चा—नियमसार के इस अंतिम अधिकार में शुद्धोपयोग का वर्णन चल रहा है। इस प्रसंग में पर्यायशुद्ध उपयोग की बात कही जा रही है किन्तु जिसका अध्यात्म लक्ष्य है वह कुछ भी वर्णन करे समस्त वर्णनों में उसकी शक्ति रूप शुद्ध अंस्तत्त्व का प्रकाश होता ही रहता है। यह तो शुद्धोपयोग का वर्णन है किन्तु जहाँ आस्रव, बंध जैसे सांसारिक तत्त्वों का भी वर्णन चल रहा हो तो अध्यात्मवेदी उन सब वर्णनों में अपने लक्ष्यभूत मूल डोर पर ही आते रहते हैं। शुद्धोपयोग के अर्थात् केवलदर्शन, केवलज्ञान के सम्बन्ध में यह बताते हुए कि केवली प्रभु व्यवहारनय से सबको जानते हैं और निश्चयनय से आत्मा को जानते हैं। प्रसंग चलते-चलते इस समय ज्ञान का स्वरूप चल रहा है।

अपनी चर्चा—यह चर्चा किसी अन्य पदार्थ की न समझना, यही समझना कि यह चर्चा हमारी है, हमारे ज्ञान की है। ज्ञान स्वपरप्रकाशक होता है। इस प्रकरण को लेकर चलना है। खूब उपयोग लगाकर ध्यान से सुनियेगा तो कोई भी बात विदित हुए बिना न रहेगी, ज्ञानातिरिक्त जानते जाइए, हम आपके जानन का गुण है। वह ज्ञान स्वपरप्रकाशक है अर्थात् स्व का ज्ञान करता है और पर का भी ज्ञान करता है। इस स्वपरप्रकाशकता के सम्बन्ध में त्रिस्थानीय उत्तर लगाइए। यह ज्ञान स्व का प्रकाश करता है और पर का प्रकाश करता है अर्थात् आत्मा को भी जानता है और पर को भी जानता है। इस सम्बन्ध में तो बहुत कुछ कहा गया है।

ज्ञान की स्वपरव्यवसायात्मकता—अब स्वपरप्रकाशता की दूसरी सीढ़ी पर आइए। यह ज्ञान स्वपरव्यवसायी है अर्थात् स्व का भी निश्चय करता है और पर का भी निश्चय करता है। इस व्याख्या में न्यायशास्त्र की झलक है, सो दर्शनशास्त्र की पद्धति से इसका अर्थ समझना है। कोई कोई दार्शनिक ज्ञान को स्वसम्वेद्य नहीं मानते। उनका मंतव्य है कि ज्ञान सबको जानता है और जो ज्ञान सब चीजों को जानता है, उस ज्ञान को जानने के लिए एक नया ज्ञान और करना पड़ता है तब यह ठीक बैठता है कि मेरा वह ज्ञान ठीक है और जिस नए ज्ञान का यह निर्णय बनाए कि वह ज्ञान ठीक है इस ज्ञान को भी जानने के लिए एक नया ज्ञान और करना पड़ता है, वह यह निर्णय करेगा कि यह द्वितीय ज्ञान ठीक है। अब यह तृतीय ज्ञान भी ठीक है, इसे समझने के लिए चतुर्थ ज्ञान और करना पड़ेगा। उनका यह रोजगार बड़ा लम्बा चौड़ा है। कभी अन्त ही न होगा। अनवस्था दोष के वारण के यत्न में ''आवश्यकता नहीं है, वहाँ जानने का अंत है'' ऐसा उनका मंतव्य है, किन्तु ज्ञान ऐसा चमत्कारी गुण है कि वही ज्ञान जो परपदार्थों को जान रहा है परपदार्थों का भी निश्चय रखता है और वही ज्ञान अपने आपका भी निश्चय रखता है कि यह ज्ञान सही है, ऐसा स्व पर व्यावसायात्मक यह ज्ञान है।

स्वव्यावसायिता के बिना परव्यावसायिता का अभाव—जो ज्ञान अपने आपका व्यवसाय नहीं करता, निश्चय नहीं करता कि मैं ठीक हूँ, तो जिस ज्ञान से जानता हूँ उसी का ठिकाना नहीं, फिर पदार्थ कहाँ ठीक होगा? जो भी ज्ञान किसी बाह्यपदार्थों को जानता है वह ज्ञान अपने आपके व्यवसायपूर्वक ही पर को जानता है, जो ज्ञान अपने आपका निश्चय नहीं रखता है वह ज्ञान पर का भी निश्चय नहीं रख सकता। यों दर्शनशास्त्र की पद्धति से ज्ञान की स्वपर-प्रकाशकता जानो।

अध्यात्मस्वपरप्रकाशकता—अब अन्तिम श्रेणी में स्वपर-प्रकाशकता का अर्थ लगाएँ, यह है निश्चय अध्यात्म की पद्धति। निश्चय से ज्ञान, ज्ञान के आधारभूत अपने आत्मा को ही जानता है बाह्य को नहीं। बाह्य को जानता तो है, पर उस पद्धति का जिक्र नहीं कर रहे हैं। किस प्रकार जानता है बाह्य को, यह बहुत कुछ कहा जा चुका है। यह ज्ञान अपने आत्मा में ही निश्चयत: जानता है और इस आत्मा में ज्ञान के अतिरिक्त

अन्य भी गुण हैं, अन्य पर्यायें हैं उनमें से ज्ञान कर्ता के रूप में ज्ञान तो स्व है और ज्ञानातिरिक्त अन्य समस्त आत्मीय गुण हैं, पर यह ज्ञान इस आत्मा के आत्मगत आत्मीय परगुणों का भी निश्चय करता है और आत्मीय निज गुण का अर्थात् जाननहार ज्ञानगुण का भी निश्चय करता है याने आत्मनिजगुण का भी निश्चय करता है। यों निश्चयपक्ष से भी स्वपर-प्रकाशकता बनी हुई है।

ज्ञाता के ज्ञान से मोह का प्रक्षय—हम ज्ञान से जानते हैं, जिस ज्ञान से जानते हैं उस ज्ञान का ज्ञान होने पर हमारा मोह दूर हो जाता है। मैं वास्तव में क्या हूँ? इसका शुद्ध ज्ञान हुए बिना मोह दूर नहीं हो सकता। मैं ज्ञान-ज्योति हूँ, सबसे विविक्त अपने सहज स्वभाव में तन्मय ऐसा एकत्व-विभत्व स्वरूप हूँ, ऐसा जब अपने आपका परिचय नहीं होता तो भीतर से यह कुश्रद्धा बन जाती है कि मकान मेरा है, परिजन मेरे हैं, ये मुझे सुख देते हैं, ये मुझे दु:ख देते हैं। अरे प्रियतम् ! अपने अन्तस्तत्त्व को सँभाल कर देख। बाहर में सभी जीव अपनी-अपनी योग्यतानुसार अपना-अपना परिणमन करते हैं, न कोई तुझसे मित्रता करता है और न कोई शत्रुता करता है, वे तो अपने आपके परिणमन से ही फुरसत नहीं पाते हैं। प्रत्येक पदार्थ अपने आपके परिणमन में ही अपने को बनाए रहते हैं। मेरा जगत् में कहीं कुछ नहीं है। मेरा तो यही मैं ही हूँ। ऐसे इस ज्योतिस्वरूप अपने आपकी खबर न रहे तो इसमें रमने का गुण तो है ही, जब इसे अपना खिलौना न मिलेगा तो पर खिलौनों में रमेगा ही। चारित्र गुण कहाँ जाय, वह तो कुछ न कुछ अपना निष्कम्प स्वरूप जब न अनुभूत हुआ तो यह फिर बाहर में रमण करेगा, बाहर में लगेगा।

स्वरूपनिर्णय का परिचय—भैया ! हित तो अपना अपने आपके स्वरूपनिर्णय में है और स्वरूपनिर्णय तभी अपना सच्चा समझिये जब अपने में कषायों की पकड़ न रहा करे। मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं बड़ा हूँ, सबमें जानकार हूँ, अमुक परिस्थिति का हूँ आदिक कुछ भी लगाव चलता है तो वहाँ स्वनिर्णय में अटक है अभी। धर्मचर्चा के नाम पर भी यदि क्रोध, मान, माया, लोभ आदि का प्रसंग आता है तो समझना चाहिए कि अभी हमें स्व का निर्णय नहीं हुआ है। स्व का व्यवसाय होने पर उपेक्षाभाव प्रकट हो जाता है। अरे जहाँ इस निर्णय की डींग मारी जा रही हो कि मैं स्वतंत्र हूँ, परद्रव्य स्वतंत्र हूँ, किसी की क्रिया से मेरा परिणमन नहीं है वहाँ यदि उसके विरुद्ध कोई बात कहे तो वह अपने में बड़ा खेद मानता है, अपनी बात उस दूसरे को मनाने के लिए तैयार हो जाता है। तो बतावो कहाँ रहा स्वनिर्णय? स्व निर्णय का फल है उपेक्षा भाव।

सहज अविकार स्वभाव—यह सहज ज्ञान निर्विकार निरञ्जन स्वभाव में ही निरत रहता है। स्वभाव दृष्टि से कहा जा रहा है, परम निश्चय दृष्टि से। निश्चय स्वात्माश्रित होता है। निश्चय और व्यवहार ये भी बदलते रहते हैं, पर परमनिश्चय नहीं बदलता है। जो निश्चय किसी व्यवहारदृष्टि के मुकाबले निश्चय कहलाता है उससे और अंतरंगदृष्टि मिल जाने पर वह निश्चय व्यवहार बन जाता है और निश्चयस्वरूप द्वितीय उपस्थित हो जाता है, पर यहाँ परमनिश्चय से बात कही जा रही है। यह सहज ज्ञान सतत् ही शाश्वत अविकार स्वभावी है। स्वभाव तका जा रहा है, जो चाहे विभावपर्याय से तिरोभूत भी हो फिर भी प्रज्ञा छेनी में इतनी करामात है कि वह किसी भी प्रकार आवृत्त हुआ भी शुद्ध अंतस्तत्त्व को निरख लेता है, ज्ञान की अटक नहीं रहती है किसी आवरण से। हाँ, जो ज्ञान ही आवृत्त हो उसकी बात अलग है । इस ज्ञान द्वारा हम कितने ही पदार्थ को फाड़कर भीतर प्रवेश कर जाते हैं। जैसे हड्डी का फोटो लेने वाला एक्सरे यन्त्र चमड़ी को, खून को, मांस-मज्जा को—सबको छोड़कर केवल हड्डी का फोटो लेता है—ऐसे ही यह ज्ञान अपने आपके अन्त:स्वरूप को जानना चाहे तो यह न कपड़े से अटकता है, न चमड़े से, न खून से, न मांस-मज्जा से, न हड्डी से, न रागादिक भावों से और न संकल्प-विकल्पों से। एक शुद्धपारिणामिक भाव स्वरूप इस सहजस्वभाव का ग्रहण कर लेता है।

सहज परमपारिणामिक भाव—पारिणामिक भाव का अर्थ शब्द में स्वभाव नहीं है, किन्तु फलित अर्थ स्वभाव से है। जिसका परिणाम प्रयोजन है उस भाव को पारिणामिक भाव कहते हैं, जिसका परिणत रहना ही प्रयोजन है। प्रयोजक ध्रुव होता है, ध्रौव्य अथवा नित्यता ही अपरिणामीपन को नहीं कहते हैं, किन्तु वस्तु के भाव के होते रहने का व्यय न हो, सदैव होते रहना—इसका नाम है नित्य। तो यह एक स्वभाव है, जिसका किसी न किसी रूप में निरन्तर परिणाम चलता है और वह परिणाम इस स्वभाव के स्वाभत्व को कायम रखने के लिये चलता है। तो उन सब परिणामों का जिसके प्रयोजन है, जो प्रयोजन है, वह है पारिणामिक भाव। फलित अर्थ सहज स्वभाव हुआ। शाश्वत स्वभाव त्रिकाल निरुपराग है। एक क्षण भी स्वभाव में यदि उपराग आया हो तो इसका उपराग किसी भी समय नष्ट न हो सकता था, उसका तो लक्षण विकारी ही बनेगा। यों स्वभाव अविकारी ही रहता है। परिणमन विकारी हो तब भी स्वभाव अविकारी है।

अविकारस्वभाव के समर्थन में एक दृष्टान्त—जैसे लोकदृष्टान्त में पानी गर्म हो गया। अग्नि का सन्निधान पाकर वह अपने आपके स्पर्श गुण के परिणमन में गर्म हुआ है, किसी परवस्तु का वहाँ प्रवेश नहीं है, निमित्तनैमित्तिक योग अवश्य वहाँ है। गर्म हो जाने पर भी यह पूछा जाये कि इस पानी के स्वभाव में गर्मी है क्या? यदि कोई यह निर्णय कर ले कि पानी का स्वभाव भी गर्म है तो पानी का स्वभाव तो गर्म नहीं है। यदि पानी का स्वभाव भी गर्म है तो पानी कभी ठण्डा नहीं किया जा सकता। अग्नि का स्वभाव गर्म है तो इसके ठंडा करने के लिये कोई पंखे झकोरता है क्या? पानी यदि गरम है तो उसको ठण्डा करने के लिये पंखे झकोले जाते हैं। गर्मी होने पर भी हम आपकी यह अटल श्रद्धा है कि पानी का स्वभाव गरम है ही नहीं, न कभी हो सकता है—यह एक दृष्टान्त की सीमा तक समझना है। पानी द्रव्य नहीं है, ठण्डा होना भी गुण नहीं है, पर इस प्रसंग में पानी को द्रव्य माना और ठण्डे को गुण माना और गर्मी को विभाव पर्याय माना। ऐसा मानने की दिशा हमें क्यों सूझी? इसका कारण यह है कि हम प्रकट यह पाते हैं कि अग्नि को किसी गर्म पदार्थ का, उपाधि का संयोग नहीं मिलता है तो पानी अपने ठण्डेपन की ओर रहता है। स्वभाव अविकारी होता है। यों ही प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव अविकारी है।

ज्ञान की आत्मगतस्वपरप्रकाशकता—निज सहज अविकार स्वभाव में निरत होने से यह सहज ज्ञान स्वप्रकाशक है और यह ही ज्ञान यद्यपि आत्मा से भिन्न वस्तु नहीं है। समझाने के लिये गुणगुणी का भेद होता है, यों संज्ञा प्रयोजन आदिक की अपेक्षा से इसे प्रतिपादन के लिये छाँट लो और यह देख लो कि यह ज्ञान अपने को भी जानता है और आत्मा में जो श्रद्धा, चारित्र, आनन्द आदिक अनेक गुण हैं, उनका भी प्रकाशक होता है। ये पर हैं आत्मगत। परपदार्थों की बात नहीं कह रहे हैं। आत्मगत ज्ञानातिरिक्त गुण भी ज्ञानेतर होने से ज्ञान की अपेक्षा पर है। यह ज्ञान ज्ञान का प्रकाशक है और श्रद्धा, चारित्र, आनन्द आदिक गुणों का भी प्रकाशक है। अध्यात्म परमनिश्चय से यह है स्वपरप्रकाशकता।

अभिन्नकार्यकारणता—यह आत्मा केवली प्रभु निश्चय से निज कारणपरमात्मा को जानता है अर्थात् आत्मस्वरूप को जानता है और व्यवहार से समस्त सत्समूह को जानता है। कार्यपरमात्मा हो जाने पर भी कारणपरमात्मत्व समाप्त नहीं हो जाता। प्रतिसमय कार्यपरमात्मत्व चलता है, वह कारणपरमात्मत्व का आश्रय लेकर ही चल रहा है केवली प्रभु में भी। कारण के बिना कार्य होते रहना संभव नहीं है। यह ज्ञान जब कर्मबंध का छेद होता है, तब अक्षय मोक्ष सुख का अनुभव करता हुआ सहज विकासमय विकसित रहता है। अब यह ज्ञान अत्यन्त शुद्ध हो गया है। केवली भगवान का यह सर्वथा निरावरण ज्ञान निज रस की अतिशयता से अत्यन्त गम्भीर, धीर और एकस्वरूप है। यह अपने आपकी अचल महिमा में लीन बन रहा है।

आत्मा का जगमग स्वरूप-'सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानन्द रस लीन।' ज्ञान की अपेक्षा आत्मा सर्वव्यापक है, लोक में ही नहीं वरन् अलोक में भी व्यापक है। लोक के बाहर आकाश के सिवाय और कुछ नहीं है।

अलोक में एक भी जीव नहीं है, किन्तु यह ज्ञान अलोक में भी व्यापक हो गया है। तो प्रभु लोक और अलोक के जाननहार हैं। ज्ञान से तो यह इतना व्यापक है, पर आनन्द गुण के अनुभव से यह अपने आपके प्रदेशों से एक भी प्रदेश बाहर में नहीं है। आनन्द का अनुभव अपने आपके ही प्रदेश में है। अनुभव तो निज ज्ञान का भी स्वात्मप्रदेश में है, पर ज्ञान का विषय व्यापक है और आनन्द का विषय स्वात्मा ही है। इसी कारण यह बात घटित हो गई—'सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानन्द रस लीन।' ज्ञान से तो जग और आनन्द से मग है यह आत्मा। यह है केवलज्ञानी पुरुष का जगमग शुद्ध स्वरूप।

आत्मा की स्वपरप्रकाशकता की सिद्धि—इस गाथा में यह सिद्ध किया है कि ये केवलज्ञानमूर्ति अर्थात् केवली भगवान व्यवहारनय से तो निरन्तर समस्त पदार्थों को जानते हैं और निश्चय से ये केवली प्रभु अपने स्वरूप को जानते रहते हैं। क्या हो रहा है वहाँ काम? वह तो एक ही प्रकार का है, उस पर प्रभुता की महिमा बताने के लिये ये निश्चय और व्यवहार दो भेद आ पड़े हैं। बहिर्द्रव्यों का आलम्बन लेकर प्रतिपादन करने वाले व्यवहारनय से तो सर्वज्ञता बतायी गयी है और स्वद्रव्य का ही आलम्बन लेकर प्रतिपादन करने वाले निश्चय से आत्मज्ञता बतायी गयी है। यहाँ यह नहीं समझना कि व्यवहार से जानते हैं तो वे बातें झूठ हैं याने जानते नहीं हैं वास्तव में, किन्तु वास्तव में जानते हैं। पर क्या जानते हैं? इसका प्रतिपादन बाह्यवस्तु का आलम्बन लेकर हो पाया है, इस कारण व्यवहारनय से पर का जानना कहा है। इस तरह इस गाथा में आत्मा की स्वप्रकाशकता सिद्ध की गयी है।

गाथा 160

जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दसणं च तहा।

दिणयरपयासतावं ज वट्टइ तह मुणेयब्बं।।160।।

प्रभु के ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग की युगपत् वर्तना का उद्घोष—पूर्व गाथा में केवली भगवान को स्वपरप्रकाशक कहा गया है। केवली भगवान का ज्ञान भी स्वपरप्रकाशक है और केवली भगवान का दर्शन भी स्वपरप्रकाशक है और यह आत्मा भी स्वपरप्रकाशक है। इस प्रकार इस अधिकार का मुख्य मंतव्य रखकर अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रभु में एक साथ वर्तते हैं। जैसे कि किसी समय सूर्य के नीचे मेघपटल आ जाये तो सूर्य का प्रकाश और सूर्य का आताप—ये दोनों तिरोहित हो जाते हैं। प्रकाश के मायने है उजाला और आताप के मायने है सूर्य की उष्णता के कारण होने वाला जो कुछ प्रभाव है। जब कभी उस मेघपटल का जमाव क्षीण होने लगे या हट जाये तो इस आकाशस्थल के मध्य में प्रजालोक के ऊपर यह सहस्रकिरण अर्थात् सूर्य अपने प्रकाश और अपने प्रताप को एक साथ विकसित करता है। सो मेघपटल के हट जाने पर इस सहस्रकिरण का प्रकाश और प्रताप भी साथ वर्तता है। इस ही प्रकार भगवान परमेश्वर का यह केवलज्ञान और केवलदर्शन एक साथ वर्तता है।

सहस्रकिरणत्व की जिज्ञासा—द्रष्टांत में अभी सहस्रकिरण नाम कहा गया, उसके सम्बन्ध में अब यह जिज्ञासा हो सकती है कि क्या सूर्य की ये हजार किरणें यहाँ आती हैं? दिखता तो ऐसा ही है कि सूर्य में से हजारों किरणें निकल रही हैं और सिद्धान्त में यों सुना है कि किसी भी वस्तु का द्रव्य, गुण, पर्याय उस वस्तुप्रदेश से बाहर नहीं निकलता है। सूर्य की वे किरणें क्या सूर्यद्रव्य हैं या सूर्य के गुण हैं या सूर्य के परिणमन हैं? ये किरणें कहाँ से निकली? क्या चीज हैं?

वस्तु का स्वतन्त्र परिणमन—वस्तु का स्वरूप त्रिकाल वही रहता है। किसी भी पदार्थ का गुण और पर्याय उस पदार्थ के प्रदेश को छोड़कर बाहर नहीं हुआ करता है। यह बात सर्वत्र घटा लो। चाहे कहीं कोई जबरदस्ती की घटना हो, वहाँ पर भी चाहे लगता ऐसा है कि अमुक पुरुष ने अमुक का हाथ पकड़कर यों घसीट दिया, पर उस पुरुष का गुण अथवा पर्याय उस पुरुष से बाहर अपना कर्तव्य बताने नहीं जाता। सर्वत्र यही अर्थ लगाना। जैसे अमुक प्रकार से कोई बलवान् मनुष्य परिणत हो रहा है, जिसकी मुट्ठी में अमुक मनुष्य का हाथ फँसा है तो उस क्रियाशील बलवान् पुरुष के चलने का निमित्त पाकर यह पुरुष भी यों फिसल गया। कितना भी जबरदस्ती का प्रयोग हो, वहाँ पर भी कोई पदार्थ अपनी क्रियावों से दूसरे पदार्थ को परिणमाता नहीं है।

प्रकाश में प्रकाशक व प्रकाश्य का निमित्तनैमित्तिक योग—पहिले यह निर्णय करो कि सूर्य कितना बड़ा है? जिसे लोग देखते है कि यह तो कोई हाथ-डेढ़ हाथ का लम्बा-चौड़ा है, पर सिद्धान्त में बताया है कि करीब दो हजार कोश का लम्बा-चौड़ा है। उस सूर्य का प्रकाश भी उस सूर्य में है, उस सूर्य से बाहर नहीं है, किन्तु सूर्य एक बहुत चमकीला पिंड है और यहाँ के पदार्थ भी सूर्य के बराबर चमकीले तो नहीं हैं, किन्तु चमकीले होने की प्रकृति प्रत्येक पुद्गलस्कंध पदार्थ रखता है। अब यहाँ के पदार्थ भी उस सूर्य का सम्बन्ध पाकर निमित्तनैमित्तिक योगवश प्रकाशमान् हो गये। ये प्रकाश वस्तुतः सूर्य का नहीं है, किन्तु सूर्य का निमित्त पाकर प्रत्येक पदार्थ का अपना-अपना प्रकाश है। यदि ऐसा न होता और सूर्य का प्रकाश सर्वत्र होता है तो प्रत्येक पदार्थ का प्रकाश एक रूप रहना चाहिए था। फिर यह अन्तर क्यों आ गया कि पालिशदार चीजें अधिक प्रकाशित हैं, काँच उससे अधिक और दर्पण उससे अधिक प्रकाशित है? यदि सूर्य का प्रकाश है तो एक रूप रहना चाहिए था। इससे ही यह सिद्धि है कि जो पदार्थ जितने चमकीले होने की योग्यता रखते हैं, सूर्य का सन्निधानमात्र पाकर ये पदार्थ अपनी अपनी योग्यतानुसार प्रकाशमान् हो गये।

प्रकाशित सूक्ष्म स्कन्धों का पंक्तिरूप दर्शन—ये सब दृश्यमान स्थूल पदार्थ हैं। इनके सम्बन्ध में यह आशंका नहीं होती कि यह भी सूर्य की किरण है। पर आकाश में जहाँ बीच में कोई अतिस्थूल पदार्थ नजर नहीं आते, वहाँ से किरण सी निकलती लगती है और पूरी आँख खोलकर देखो तो इतनी ज्यादा किरणें नहीं मालूम होती, पर आँख को बहुत कुछ बंद करके थोड़ा ही खोलकर देखो तो ज्यादा किरणें मालूम होती हैं। इसका कारण यह है कि जैसे यह अतिस्थूल पदार्थ प्रकाशमान है, इसी प्रकार इस आसमान में भी पड़े हुए सूक्ष्म स्कंध प्रकाशमान होते हैं। कभी देखा भी होगा कि किसी छत के कोने से, तक्का से अथवा खपरैल के घर से किसी छिद्र से कोई जरासा प्रकाश आ रहा हो तो वहाँ बहुत से सूक्ष्म–हल्के कण गोल-गोल उठते हुए नीचे – ऊँचे नजर आते हैं। ऐसे सूक्ष्म स्कंध आसमान में पड़े हुए हैं और वे प्रकाशमान हैं। यह मनुष्य जब अपनी आँखों से कुछ तेज-सी अवस्था बनाकर सूर्य को देखता है तो यह एक नेत्रों से देखने की विधि है, रूपदर्शन करने की नेत्र में प्रकृति है कि उस समय सूक्ष्म स्कंध इस एक पंक्तिरूप से नजर आते हैं। प्रकाशित तो वह था ही, अब नेत्रों से आपने पंक्तिरूप से देखा, सब वह किरण मान लिया जाता है और सिद्धान्त में जो यह वर्णन है कि सूर्य में सहस्र किरणें हैं, इसका अर्थ ही यह है कि सूर्य का निमित्त पाकर पदार्थ प्रकाशित हो जाते हैं, जिन्हें देखने पर हमें सहस्र किरणरूप में दृष्ट होता है। ऐसे प्रकाश का वह निमित्त है। उससे भी सूर्य की महिमा गायी जाती है।

दृष्टान्तपूर्वक प्रभु के ज्ञानदर्शन की युगपद्धति का समर्थन—यह सूर्य जब मेघपटल से आच्छादित है, तब इसका प्रताप और प्रकाश तिरोहित है। मेघपटल के दूर होते ही प्रताप और प्रकाश एक साथ प्रकट होते हैं— ऐसे ही ज्ञानावरण कर्म के पटल के उदय का निमित्त पाकर छद्मस्थ अवस्था में यह ज्ञान और दर्शन

तिरोहित, आवृत्त रहता था, तब आत्मपुरुषार्थ का निमित्त पाकर यह आवरण द्रव्यकर्म का हटा और उस काल में यह ज्ञान और दर्शन एक साथ उदित हुए।

छद्मस्थों के उपयोग की क्रमवर्तना—ज्ञान और दर्शन गुण इस जीव में शाश्वत गुण हैं और जितने गुण होते हैं उन गुणों का निरन्तर परिणमन भी होता है। इस प्रकार यद्यपि ज्ञान की पर्याय भी सतत चलती है प्रत्येक जीव में और दर्शन की भी पर्याय सतत् चलती है, फिर भी उनका उपयोग, जिसे इंगलिश में यूज कहते हैं, छद्मस्थ अवस्था में क्रम से होता है अर्थात् जब उपयोग ज्ञानपर्यायों को प्रश्रय दे रहा है, उस काल में दर्शन को प्रश्रय नहीं हो रहा है। जब दर्शन को प्रश्रय मिलता है, तब ज्ञान को नहीं मिल रहा। ऐसी यह छद्मस्थ अवस्था अशक्य अवस्था है। किन्तु केवली भगवान का उपयोग ज्ञान और दर्शन दोनों में एक साथ प्रकट है। उनका यह उपयोग अत्यन्त विशुद्ध है।

छद्मस्थ व प्रभु के उपयोग की विशेषतायें—छद्मस्थ जीवों के उपयोग में और केवली भगवान के उपयोग में कितनी ही बातों से विशेषता है। हम अन्तर्मुहूर्त के उपयोग से ज्ञान और दर्शन किया करते हैं। यों कहो कि प्रभु का उपयोग तो क्षणक्षणवर्ती स्वतन्त्र होकर समर्थ है और हमारा उपयोग अध्रुव अन्तर्मुहूर्त की परम्परा रखकर सीमित समर्थ है। यहाँ क्षणिक और अध्रुव से यह अर्थ जानना कि प्रभु का परिज्ञान तो एक ही समय में हुआ, उसी समय में पूर्ण अर्थक्रियाकारिता बनती है अर्थात् जानने लगते हैं। किन्तु हम सबका उपयोग अन्तर्मुहूर्त की परम्परा से जानने में प्रवृत्त होता है। पर्याय यद्यपि सर्वत्र प्रतिसमय नवीन-नवीन होती है, परन्तु उसका व्यक्तरूप कार्य, व्यवहाररूप कार्य किसी का कुछ परम्परा में बनता है और किसी का परम्परा लिए हुए बिना ही अपने समय में बन जाता है। जैसे और भी देखिये, हम आप लोग राग करते हैं, पर प्रतिसमय का राग अनुभव में नहीं आ सकता। अन्तर्मुहूर्त तक होते हुए रागपर्यायों से हम रागव्यवहार कर पाते हैं। प्रभु का ज्ञान इतना समर्थ है कि निरन्तर प्रतिक्षण पूर्ण अर्थक्रियाकारी रहा करता है। चेतन, अचेतन समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक तीन लोक, तीन काल के समस्त ज्ञेयों में केवलज्ञान और केवलदर्शन एक साथ वर्तता है। हाँ, संसारी को ज्ञान दर्शनपूर्वक होता हैं।

छद्मस्थ के उपयोग की वृत्ति का विवरण—अब कुछ इसी प्रसंग में अपने काम की बात कही जा रही है। कठिन भी है और सरल भी है, ध्यान से सुनिये। जैसे इस समय हम इस खम्भे को जान रहे हैं, इसका ज्ञान छोड़कर हम इस चौकी को जानने लगे तो खम्भे का ज्ञान छूटा और चौकी का ज्ञान हुआ। इस खम्भे और चौकी दोनों के ज्ञान के बीच में थोड़े समय का अन्तर रहता है, जिसका भान हम लोग नहीं कर पाते हैं। एक पदार्थ का ज्ञान छोड़कर दूसरे पदार्थ का ज्ञान जब हम करने जाते हैं तो उस बीच में अन्तरात्मा में हमारा दर्शन होता है। एक पदार्थ का ज्ञान छोड़कर दूसरे पदार्थ का ज्ञान करने के बीच में हमारे आपके छद्मस्थों के दर्शनोपयोग होता है और उस ज्ञान और इस दर्शन में होता क्या है? ज्ञान की बात तो सबको मालूम है कि ज्ञान से हम समझते हैं कि यह अमुक चीज है और दर्शन में क्या होता है? उसको यों समझ लीजिये कि एक पदार्थ का ज्ञान छोड़ने के बाद दूसरे पदार्थ को जानने में हम सफल हो जाएं—ऐसी सामर्थ्य हम अन्तर में झुककर लेते हैं। यही है दर्शन। यों समझिये कि हमारा उपयोग एक सर्पगति से चलता है। इन पदार्थों की ओर उपयोग गया, फिर अपने आपकी ओर झुका, फिर दूसरे पदार्थ पर उपयोग गया, फिर और गया—ऐसा निरन्तर उपयोग सर्पगति से स्वपर की ओर चलता रहता है, किन्तु जो जीव आसक्त हैं, परद्रव्यों के लोभी हैं, परपदार्थों की ओर आकर्षण होने से, परपदार्थों की ओर धुन बनने से वे अपने आपकी ओर झुकने वाले कामों से अपरिचित रहते हैं। यह मोह का माहात्म्य है, मिथ्यात्व में ऐसा ही होता है।

सहूलियत का अनुपयोग—देखो भैया ! कितनी सहूलियत है हम आप सबको कि हम अन्तर अन्तर्मुहूर्त में अपनी ओर झुकते रहते हैं। मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनों ही अपनी-अपनी ओर झुकते हैं। दर्शनोपयोग का

काम सबके चलता है, पर जिसको इस दर्शन का भी दर्शन हो जाता है, उसको समझिये कि इसे सम्यग्दर्शन हुआ है। एक पुरुष धनी होने के ख्याल से पारस पत्थर की खोज के लिये चला। सोचा कि क्या रोजिगार करना, कहीं से एक पारस पत्थर मिल जाये तो फिर मालोमाल हो जायेंगे। किसी पुरुष ने उसे बताया कि अमुक पहाड़ पर पारस पाषाण है। उसने वहाँ जाकर 10-20 गाड़ी पत्थरों का ढेर समुद्र के किनारे लगा दिया। समुद्र के किनारे एक लोहे का डण्डा गाड़ दिया। उन करोड़ों पत्थरों में कोई एक पारस पाषाण भी था। वह पत्थर उठाकर लोहे पर मारे और देखे कि यह लोहा सोना हुआ कि नहीं। नहीं हुआ तो उसे समुद्र में फेंक देता। अब यही क्रम उसका जल्दी–जल्दी का बन गया। पत्थर को उठाये, लोहे पर मारे और समुद्र में फेंक दे। उसी धुन में एक पारस पत्थर को भी उठाया, मारा और समुद्र में फेंक दिया। देखा तो लोहा सोना हो गया। अब वह पछताता है कि हाय ! पारस पत्थर तो समुद्र में फेंक दिया। तो जैसे उसकी धुन बन गई कि पारस पत्थर को समुद्र में फेंक दिया, ऐसे ही हम आप सब ज्ञान करते हैं बाह्यपदार्थों का, पर इन पदार्थों में हम आपके लोभ लगा है। बाहरी पुद्गल जो कि अचेतन हैं, इनमें इतना आकर्षण है कि हम दिन रात में न जाने कितना अपना ज्ञान बदलते हैं और अपनी ओर झुका करते हैं, पर आकर्षण बाह्यपदार्थों में होने से हम अपने मुकाबले को भूल जाते हैं और इनमें ही रत रहा करते हैं। यह है छद्मस्थों की परिणति।

विशुद्ध व अविशुद्ध ज्ञान का परिणाम—छद्मस्थों के ज्ञान दर्शनपूर्वक होता है। दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते हैं, किन्तु केवली भगवान में ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग एक साथ परिणमते रहते हैं। प्रभु का ज्ञान और दर्शन समस्त लोक का ज्ञाता और द्रष्टा है, इसी कारण अब जो भी हम आपकी कल्पना में इष्ट है, उन इष्टों से भी इष्ट सब कुछ प्राप्त हो गया और समस्त अनिष्ट नष्ट हो चुके। यही एक सर्वोत्कृष्ट वैभव है। यह वैभव हम आप सबके मौजूद है, पर इस विधि की स्मृति न करके और इस नाक, थूक, मल के पिंड, इन कुछ जीवों को अपना मानकर उनको ही उपयोग में बसाये रहते हैं। मेरे तो सब कुछ ये ही हैं। अपना तन, मन, धन, वचन—सब कुछ उन मायामय जीवों के लिये ही सौंप रहे हैं। इस प्रकार के ढलाचला में यह कब तक रुलेगा? जब तक यह अपने इस लगाव की डोर को काट न डालेगा, जब तक यह समस्त पर के विकल्पों का त्यागकर अपने इस निर्विकल्प अखण्ड चैतन्य चमत्कारमात्र शुद्ध ज्ञान ज्योतिस्वरूप को न अनुभवेगा, तब तक इसके कर्मबन्धन दूर न हो सकेंगे और यह जन्म के बाद मरण व मरण के बाद जन्म—ऐसे ही क्लेश पाता रहेगा।

व्यर्थ का ममत्व और उसका फल—भैया !पूर्वभव में जो कुछ भी समागम मिला था, उसकी आज खबर भी है क्या? न की तरह है। चाहे आज के इस समागम से करोड़ों गुना अधिक समागम पहिले मिला हो, पर आज कुछ भी नहीं है। उसका आज कोई भी विकल्प नहीं हो रहा है, किन्तु उस काल के विकल्पों के संस्कार में बसे हुए हम आज न कुछ थोड़े से वैभव को अपना सर्वस्व मान रहे हैं। कुछ काल बाद में ये भी सब समागम न रहेंगे। इनको भी त्यागकर आगे किसी भव में जन्म लेंगे। तो जो अध्रुव है, विनश्वर है, चलते हुए मुसाफिर के लिये मार्ग में मिले हुए पेड़ों की तरह है, उन विनश्वर, विनाशीक चीजों में अपना श्रद्धान्, ज्ञान, रमण बनाना यह अपने आपके प्रभु पर बहुत बड़ा अन्याय है। जिस प्रभु के प्रसाद से अर्थात् निर्मलता से कुयोनियों से निकलकर आज मनुष्य में आये हैं, इन विषय-कषायों के हमले इस प्रभु पर कर रहे हैं तो प्रभु को तो एक धीरे से अन्तर में इतना सा ही आशीर्वाद देना है कि जिस निगोद से निकले थे, वहीं फिर चले जावो।

उत्तम अवसर के सदुपयोग का विवेक—अहो, यह बड़ा उत्कृष्ट अवसर पाया है। ये पशु, पक्षी, गाय, बैल, भैंस, कुत्ते—ये सब मन्दिर क्या जानें, गुरु क्या जानें, देव क्या जानें, शास्त्र क्या जानें, वचन बोलना क्या जानें? अपने मन की बात दूसरों को नहीं बता सकते, दूसरे के मन की बात खुद नहीं ग्रहण कर सकते।

कितनी जघन्य दशा है? और हम आप आज कितनी ऊँची स्थिति में हैं—विचार करते हैं, विवेक करते हैं। ऐसे इस अवसर में विशुद्ध धर्म को भी पाकर हम मोह में ही पगे रहें, विषय-कषायों में ही रत रहें, दूसरे मोही मलिन जीवों को ही अपना सर्वस्व समर्पण करते रहें तो इसका परिणाम क्या होगा? फिर हम सावधान हो सकने के लायक भी न रहें—ऐसी भी स्थिति हो सकती है। इससे हमारा कर्तव्य है कि हम अपने स्वरूप की सुध लें और इन विनश्वर मायामय गोरखधन्धों से कुछ विरक्ति पायें। इस शुद्ध ज्ञान के आलम्बन से ही हम आपमें वह निर्मलता जागेगी, जिसमें विशुद्ध आत्मीय आनन्द का अनुभव होता है।

प्रभु की प्रभुता—स्वात्माश्रय निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यान के प्रसाद से जिसने आत्मा के सहज शुद्ध चरम विकास अवस्था को प्राप्त किया है ऐसे धर्मतीर्थ के अधिनाथ सर्वज्ञदेव के यह केवलज्ञान और केवलदर्शन का उपयोग प्रतिक्षण निरन्तर एक साथ चलता रहता है। जिसकी कषायों में अटक हो उसके उपयोग में इस प्रकार की अटक आ सकती है कि दर्शन और ज्ञान दोनों का उपयोग एक साथ न कर सके, परन्तु प्रभु तो कषायरहित है और इस कषायरहितता के प्रताप से अघातिया कर्मों का भी विध्वंस करके जिन्होंने अनन्तचतुष्टयात्मक सर्वज्ञता प्राप्त की है—ऐसे यह प्रभु जो ज्ञानतेज की राशि हैं, समस्त अंधकार जिन्होंने नष्ट कर दिया है और भव्य लोगों के अज्ञान-अन्धकार के दूर होने में भी जो निमित्त हैं—ऐसे प्रभु की भक्ति कषाय और अज्ञान-अन्धकार को दूर कर देती है।

प्रभुभक्ति व उसका प्रसाद—प्रभु की भक्ति उत्कृष्ट तब कहलाती है, जब प्रभु के अतिरिक्त अन्य अप्रभुवों में अथवा मोह-रागद्वेष से लिप्तों में जिनकी दृष्टि भी विशुद्ध नहीं हुई है—ऐसे परिजन, मित्रजन किन्हीं में भी चित्त न बसता हो, सबसे अलौकिक उत्कृष्ट यह प्रभु है ऐसा जिसका दर्शन हुआ करता हो, उस पुरुष के ही प्रभु की उत्कृष्ट भक्ति हो सकती है। प्रभुभक्ति बिना पूरा पड़ना, अपना निस्तार होना कठिन है। जो पुरुष प्रभु की अभेदभक्ति में भी पहुंचे हैं, वे पुरुष भी प्रभुभक्ति के प्रसाद से पहुंचे हैं। ज्ञान भी शुद्ध हो जाये और हमारा चारित्र भी शुद्ध हो जाये, हम अपने व्रत आदिक क्रियावों में भी बड़ी सावधानी रखें, फिर भी हे प्रभो ! हे ज्ञानपुञ्ज ! जब तक तुम्हारे प्रति उत्कृष्ट भक्ति नहीं जगती है, तब तक हम इस मोह-किवाड़ से आवृत मुक्तिमन्दिर के द्वार को नहीं खोल सकते हैं।

प्रभुभक्ति की आवश्यकता—भैया ! यदि इन दुर्विकल्पों को मिटाना हो तो एक उत्कृष्ट ज्ञानप्रकाश के प्रति भक्ति करनी होगी। हम आप इस समय जिस स्थिति में हैं, उस स्थिति पर कुछ नजर तो डालें। हम कुछ ज्ञान प्राप्त करके यह सोचा करते हैं, प्रश्न किया करते हैं कि हमने अपने जानने योग्य बात तो सब जान लीया, किन्तु उस शुद्ध ज्ञान की परिणति में स्थिर नहीं हो पाते अथवा हमारा चित्त अस्थिर रहता है, हम ज्ञानोपयोग में नहीं टिक पाते, इसका कारण क्या है? इसका कारण यह है कि हमारी जो आज की परिस्थिति है, उस परिस्थिति में प्रभुभक्ति की साधना होनी चाहिये। इस प्रभुभक्ति में प्रवृत्ति हो।

प्रभुभक्ति का प्रताप—प्रभु में जो ज्योति प्रकट है वह स्वरूप, वह स्वभाव मेरे आत्मा में भी है। वह एक अतुल निधि है, अमर्यादित सुख को देने वाली है। वह आज भावकर्मों के पृथ्वीपटल के नीचे दबी हुई है निधि। रागद्वेष, विषयकषाय, इन परिणामों से दबा हुआ है यह शुद्ध ज्ञानानन्द का खजाना। इस पृथ्वीपटल को खोदने में समर्थ, इन भावकर्मों को उड़ा देने में समर्थ हमारा साधन एक प्रभुस्तवन है, प्रभुभक्ति है, प्रभु की उपासना है। उस प्रभुस्तवनरूप से यदि हम इस कर्म-पृथ्वी-पटल को खोदें तो हमें यह ज्ञानानन्दनिधि प्राप्त होगी, जिस ज्ञानानन्दनिधि की चर्चा में ही हमें विलक्षण आनन्द आता है। फिर जब निधि प्राप्त हो जावे तो उसके आनन्द का अनुभव वे ही जान सकते हैं कि बहुत उत्कृष्ट आनन्द है।

धर्म के बिना नीरसता—यह मनुष्य खोटी चर्चाएँ करके पापों को भोग करके अपने को विश्राम और शान्ति में नहीं ला पाता है। ऐसे पुरुष की लोक में कदर भी नहीं है। प्रत्येक गोष्ठी में चाहे वह साधारण जनों की

गोष्ठी हो, चाहे वह पढ़े-लिखे लोगों की गोष्ठी हो, धर्म की बात कुछ व्यवहार में आए बिना उस समूह की शोभा नहीं होती है। प्रत्येक देश, प्रत्येक मण्डल इस धर्म का नाम आगे रखता ही है, चाहे कोई इस आशय में अधर्म की भी बात सोच ले। अधर्म का रूपक रखकर कोई पुरुष, कोई देश, कोई समूह उन्नत नहीं हो पाया है। जरा धर्म की हितकारिता का भी अंदाज तो करो। विवाह आदिक अवसरों में यदि धार्मिकता का कुछ सम्बन्ध, प्रसंग न लाया जाये—जैसे मन्दिर आना, कुछ मन्दिर में चढ़ावा चढ़ाना, दोनों का मिलकर पूजन करना अथवा भँवर के समय जो विधि-विधान पूजन किये जाते हैं, यह किसी भी प्रकार की धार्मिक योजना न हो तो संसारी जनों के लिये रसिक माना गया भी समारोह नीरस माना जायेगा। धर्म का सम्बन्ध हुए बिना जीवन में रस आ ही नहीं सकता है, चाहे कोई किसी भी प्रकार का यत्न करे।

ज्ञानदीप के प्रकाश में निर्विघ्न आत्मयात्रा—शान्तिमार्ग में, अध्यात्ममार्ग में, अध्यात्मप्रवाह में और धर्म के मर्म तक पहुंचने में यह निश्चल प्रभुभक्ति एक अनुपम बल प्रदान करती है। हमें अपने अन्तरंग की यात्रा करना है। उस यात्रा में हमारे बड़े विघ्न पड़े हुए हैं। प्रथम तो हमारा यह मार्ग जिस पर हमें चलना है, अन्धकार से प्रच्छन्न है, ढका हुआ है, यह जीवन हमारे अज्ञान-अंधकार से व्याप्त है और फिर चलें भी तो बीच में उस मार्ग में बहुत प्रकार के गड्ढे पड़ते हैं, वे क्लेश के गड्ढे हैं। इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, वेदना, दुराशय आदि अनेक गड्ढे भी पड़े हुए हैं मार्ग में, अन्धेरा भी है मार्ग में। अब हम कैसे उस मार्ग को तय करें और इष्ट साधन में पहुंच जायें? इसका एक ही उपाय है कि हम अपना ज्ञानदीपक जलाकर उस मार्ग को तय करें तो अंधकार की भी बाधा न रहेगी और क्लेश के गड्ढों को बचा-बचाकर अथवा उन ही गड्ढों में से उतर-उतरकर जाना पड़े तो सँभल-सँभलकर उन क्लेशों के गड्ढे में भी उतर सकते हैं और उस ज्ञानदीपक के प्रकाश के सहारे हम अपने इष्ट स्थान पर पहुँच सकते हैं, किन्तु उस ज्ञानदीपक की ज्योति बढ़ाते रहने के लिये हमें प्रभुभक्तिरूप तैल की नितान्त आवश्यकता है, अन्यथा यह ज्ञानदीप कब तक जल सकता है? विषयकषायों की झंझावायु इतनी तीव्र चलती है कि यह ज्ञानदीप तो एक ही झोंके में बुझ सकता है। हमारा ज्ञान सजग रहे, हम अपने आपमें बहुत सावधान रहें, इसके लिये आवश्यकता है कि हम प्रभु की भक्ति में अपना उपयोग लगायें।

प्रभुस्वरूप—प्रभु किसका नाम है? अरे, जो शुद्ध ज्ञानानन्द का पिंड है उसका नाम प्रभु है। प्रभु नामरहित होता है। हम नाम लेकर प्रभु पर दृष्टि डालें तो हमारे उपयोग में प्रभुता किनारा हो जाती है; पर्याय, कुल, देह, अवगाहना—ये सब सामने आ जाते हैं। अत: प्रभुभक्ति नामरहित होकर खुद भी अपने नाम का ध्यान न करें और प्रभु के भी नाम का कुछ भी ध्यान न करें—ऐसा निर्नाम होकर निर्नाम ज्ञानानन्दस्वभावमात्र प्रभु की भक्ति हो तो वहाँ प्रभु की उपासना बन सकती है। नाम लेकर भक्ति हो तो वह व्यवहारभक्ति में आ जाता है और नाम की कल्पना बिना केवल ज्ञानानन्दस्वरूप की भक्ति हो तो वह निश्चयभक्ति में आता है।

व्यवहारभक्ति का उपकार—भैया ! व्यवहारभक्ति भी कर्तव्य है, उससे यह ज्ञात होता है और एक पक्का प्रमाण बैठ जाता है कि हाँ, प्रभु हुए हैं। ऋषभ, वीर, महावीर, श्रीराम आदिक का चारित्र बाँचकर, नाम लेकर इन्होंने इन्द्रिय-विजय किया, मोह को क्षीण किया और उसके प्रताप से परमप्रभुता प्राप्त की, यह प्रमाण हो जाता है, श्रद्धान् भी एक समूल बन जाता है, फिर भी व्यवहारभक्ति में निश्चय की दृष्टि न रहे, उसका झुकाव न रहे तो यह व्यवहारभक्ति व्यवहार ही में बढ़-बढ़कर और अनेक विपरीतता बता करके नानारूप रख लेता है, जिसका कि यह फल है कि आज प्रभु के नाम पर अनेक नाम वाले विभिन्न धर्मों के प्रभु का विस्तार बन गया है। कोई कहते हैं कि हमारे प्रभु ईश हैं, हमारे प्रभु खुदा हैं, हमारे विष्णु हैं, हमारे शिव हैं और फिर इसी पद्धति में कोई यह भी कहते हैं कि हमारे प्रभु ऋषभ हैं, महावीर हैं।

भक्त और भगवान की निकटता—हे प्रभो ! जब तक यह भक्त अपनी स्वच्छता प्रकट नहीं करता है, तब तक प्रभु की भी महिमा कुछ ख्यात नहीं होती है। यों तो परमाणु की महिमा भी परमाणु में है, पर हमारी महिमा कर विस्तार, हमारी महिमा की परिस्थिति तो इस निर्मलचित्त भक्ति की करतूत से है। तब क्या कहें नाथ ! तुम भक्तों के उठाने वाले हो, तारने वाले हो या भक्त प्रभु के उठाने वाले हैं। तारना नाम उठाने का है। हे प्रभो ! तुम भक्तों का उत्थान करने वाले हो या भक्त तुम्हारा उत्थान करने वाले हैं। तुम्हारे स्मरण के प्रसाद से भक्त उठता है और भक्त की इस निर्मलता की करतूत से और भक्तों द्वारा आपका गुणगान होने से आप उठते हैं। पानी में तैरने वाले लोग हवाभरी हुई मसक को पानी में डालकर उस पर पेट रखकर तैरते जाते हैं और तैरते-तैरते किनारे पर पहुंच जाते हैं। हम क्या कहें कि यह पुरुष मसक ले जाता है या मसक पुरुष को ले जाती है? प्रभु और भक्त की अतीव सन्निकटता हो जाये भक्त के उपयोग में तो प्रभु की उपासना से भक्ति में सच्चिदानन्दमयता प्रकट प्रतिभास हो जाती है। वहाँ ज्ञानानन्दपुञ्ज प्रभु की उपासना का आनन्द प्रकट होता है।

चित्तविशुद्धी का उपाय—कुछ लोग यह आशंका करते हैं कि हमारा चित्त धर्म में नहीं लगता, ज्ञान में नहीं स्थिर हो पाता, त्याग और विरक्ति नहीं उत्पन्न होती। अरे, कहाँ से त्याग और विरक्ति उत्पन्न हो? कोई अग्रिम अन्तरिम स्थान को छोड़कर, छलांग मारकर स्थिति शक्ति न विचारकर एकदम आगे जाना चाहे तो कैसे जाये? हम अपने प्रभु-भजन आदि साधनों को तजकर प्रभुभक्ति न करके ज्ञान में, ध्यान में अपने को स्थिर नहीं कर सकते हैं। कहीं भी बैठे हों, मन्दिर में हों, घर में हों अथवा यात्रा में हों, प्रभु के प्रति यदि भक्ति न जगे तो हम धर्ममार्ग में आगे नहीं बढ़ सकते हैं। हे नाथ ! आपका प्रताप और प्रकाश एकदम प्रकट हो रहा है। आपका प्रताप तो यह है कि राग-द्वेष, इष्ट-अनिष्ट, संकल्प-विकल्प, भावकर्म कोई अब प्रकट नहीं हो सकते हैं और प्रकाश यह है कि समस्त लोक त्रिकालवर्ती समस्त अर्थसमूह आपके ज्ञान में एक साथ प्रकट है—ऐसे विशुद्ध प्रभु की उपासना हमारे उपयोग को धीर बना सकती है।

मोहीजनों की उद्दण्डता—ये मोहीजन अपने ज्ञान की होड़ में भगवान से भी आगे बढ़ना चाहते हैं। भगवान तो जो है उसी को जानते हैं, जो नहीं है उसे नहीं जानते, किन्तु यहाँ यह मोही पुरुष जो नहीं है उसे जानने की होड़ कर रहे हैं। मकान मेरा नहीं है। भगवान नहीं जानते कि यह मकान अमुकचन्द का है, पर हम अमुकचन्द खूब डटकर जान रहे हैं कि यह मकान मेरा है। अरे, तुम महापुरुषों से होड़ लगावोगे तो गिर ही जावोगे, पतन ही होगा। धन, वैभव, सम्पदा अपना नहीं है। भगवान के ज्ञान में यह नहीं झलकता कि यह इसका धन है, इसका मकान है, इसके रिश्तेदार हैं। वे ऐसे हैं ही नहीं, जानें किसे? वे ज्ञान के धनी तो हैं, पर जो हैं उसके ज्ञान के धनी हैं और यहाँ मोही पुरुष जो बात नहीं है, उसमें भी अपनी होड़ मचा रहे हैं। हे प्रभो ! तब तक तुम्हारी शुद्ध भक्ति न जगेगी, जब तक विषयकषायों के गड्ढों से उठने का हममें बल प्रकट न हो सकेगा।

शरणभूत ब्रह्मदर्शन—ब्रह्म का स्वरूप आनन्द है, इसी का ही स्मरण आपके स्तवन में होता है। वह स्वरूप मेरे देह में भी व्यवस्थित है, किन्तु मोह के अंधकार से आछन्न हो जाने के कारण इसको जान नहीं सकते हैं। प्यासे आदमी को अपने ही पीठ पीछे अवस्थित जलाशय की खबर न हो तो वह प्यासा ही मर जाता है। ऐसे ही आनन्द के अभिलाषी इस पुरुष को अपने आपमें बसे हुए इस आनन्दसागर की खबर नहीं है, सो यह तो प्यासा ही प्यासा रहकर आनन्द की अभिलाषा-अभिलाषा ही करके और उसके लिये विपरीत प्रयत्न करके यह अपना विनाश कर डालता है। हे प्रभो ! सम्यग्ज्ञान-नौका पर चढ़कर आपने संसार-सागर को पार करके यह मुक्ति नाम की शाश्वत नगरी प्राप्त की है। अब हे नाथ ! जिस मार्ग से तुमने संकटों से उबरकर यह

आनन्दधाम प्राप्त किया है, उसे मैं भी प्राप्त करूँगा। जीव को सिवाय एक इस अध्यात्ममग्नता के अन्य कुछ शरण नहीं है।

युगपत् स्वपरप्रकाशकता—इस प्रकार इस शुद्धोपयोग अधिकार में इन दो गाथावों में भगवान का प्रताप और प्रकाश का प्रकाशन किया है। प्रभु में केवलज्ञान निरन्तर है उपयोगरूप में। केवलज्ञान के द्वारा त्रिलोक त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को जानते हैं और समस्त पदार्थों को जान रहे आत्मा को अवलोकित कर रहे हैं केवलदर्शन के द्वारा। यों प्रभु ज्ञान और दर्शन से निरन्तर स्वपरप्रकाशक बन रहे हैं। प्रभु स्वपरप्रकाशक हैं, उनका ज्ञान भी स्वपरप्रकाशक है व दर्शन भी स्वपरप्रकाशक है। ये प्रभु आत्मीय आनन्द का निरन्तर अनुभव कर रहे हैं।

गाथा 161

णाणं परप्पयासं दिट्ठी अप्पप्पयासया चेव।

अप्पा सपरहयासो होदित्ति हि मण्णसे जदि हि।।161।।

आत्मा की स्वपरप्रकाशकता की विधि में शंकाकार का मंतव्य—इस गाथा में शंकाकार जिज्ञासु आत्मा का स्वपरप्रकाशकपना इस प्रकार सिद्ध करना चाहता है कि ज्ञान तो परप्रकाशक है और दर्शन आत्मप्रकाशक है और चूँकि आत्मा ज्ञान दर्शन दोनों गुणों से युक्त है, इस कारण आत्मा स्वपरप्रकाशक है। ऐसा यदि मानते हो तो आचार्यदेव उत्तर में कह रहे हैं। इस पर जो विपदा हो सकती है, उसे आचार्यदेव अगली गाथा में बतावेंगे, फिर चूँकि समाधान करने का संकल्प इसी गाथा में कहा गया है, इस कारण कुछ समाधान इसी में बताया जायेगा।

शंकाकार के पक्ष का विवरण—शंकाकार का यह मंतव्य है कि आत्मा, ज्ञान दर्शन आदिक विशेष गुणों से समृद्ध है अर्थात् आत्मा में अनन्त गुण हैं और यह आत्मा उन सब अनन्त गुणों से तन्मय है, उनमें से एक ज्ञान गुण है। वह ज्ञान शुद्ध आत्मा के प्रकाशन में समर्थ नहीं है, वह तो केवल पर का ही प्रकाश करता है। लोगों के अंदाज में यही बात आती है कि हम ज्ञान से बाहरी पदार्थों को जाना करते हैं और जब यह बात सही बैठ जाती है कि ज्ञान पर का प्रकाशक है तो यह भी सिद्ध हो गया कि आत्मा केवल अपने अन्तर में अपने आत्मा का ही प्रकाश करता है। इस विधि से आत्मा स्व और पर का प्रकाशक है—ऐसा शंकाकार ने अपना पूर्वपक्ष रक्खा है। इसके समाधान में अब सुनिये।

शंकाकार द्वारा अभिमत आत्मप्रकाशकता की विधि का समाधान—आत्मा है एक प्रतिभासस्वरूप पदार्थ। वह प्रतिभास साकार स्वरूप भी है और निराकार स्वरूप भी है। निराकार प्रतिभास न हो तो साकार प्रतिभास हो ही नहीं सकता। आत्मा निराकार प्रतिभास भी है और साकार प्रतिभास भी है। साकार प्रतिभास का अर्थ यह है कि पदार्थ के जाननेरूप प्रतिभास है, प्रतिभास को समझने रूप विकल्प है। यो यह साकार प्रतिभास ज्ञान कहलाता है और निराकार प्रतिभास दर्शन कहलाता है। जहाँ पदार्थों के ग्रहण का विकल्प नहीं है, वह निराकार प्रतिभास है। इस दिशा में यद्यपि यह शीघ्रता में कहा जा सकता है। तब तो फिर यह सिद्ध हो गया कि जो बाह्य प्रकाश करे वह ज्ञान है और जो अन्तरंग को प्रकाश करे वह दर्शन है, किन्तु यहाँ यह भी ध्यान में लायें कि वह साकार प्रतिभास आत्मा में है या बाह्यपदार्थ में है। यदि यह ज्ञान केवल बाह्यपदार्थों को ही जाने याने बाह्यपदार्थों में ही यह ज्ञान हो तो इसका अर्थ यह हुआ कि ज्ञान का आधार आत्मा नहीं रहा। ज्ञान

का आधार आत्मा तब माना जा सकता है, जब ज्ञानमय आत्मा माना जाये। ज्ञानमय आत्मा मानने पर यह मानना अनिवार्य है कि यह ज्ञान आत्मा को भी जानता है।

समाधान में दीपक का दृष्टान्त—भैया ! कहीं ऐसा दीपक देखा है जो पर को तो प्रकाश करे और खुद को प्रकाश न करे? यदि ऐसा दीपक होने लगे तो बड़ी अव्यवस्था मच जायेगी। किसी से कहा जाये कि उस कमरे में लालटेन जल रही है जरा उसे उठा लाना तो क्या वह यह कहेगा कि हमको जलती हुई एक लालटेन दे दो, जिससे उस लालटेन को देख सके और ला सके, क्योंकि अब ऐसे भी दीपक माने जाने लगे हैं जो खुद का तो प्रकाश करें नहीं और बाह्य में ही प्रकाश करते हैं तो ऐसे दीपक को लाने के लिये, ढूँढने के लिये नया दीपक चाहिये। इस सिद्धान्त को समझने के लिये दर्शनशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र की संधि पर ध्यान देना होगा। दर्शनशास्त्र के अनुसार यह ज्ञान पर को प्रकाशित करता है और ज्ञान निज स्वरूप को भी प्रकाशित करता है। भले ही कोई परपदार्थ के व्यामोह के कारण अपने ज्ञान की प्रकाशकता न समझे, किन्तु युक्ति से ही विचारो कि ऐसा कोई भी ज्ञान जो अपने आपके बारे में यह न जानता हो कि मैं ज्ञान पुष्ट हूँ, ठीक हूँ, तब तक बाहरी पदार्थों को भी ठीक नहीं जान सकता, यों ज्ञान प्रकाशक भी है और परप्रकाशक भी है। अब यह ज्ञान स्वतंत्र निराधार तो है नहीं, कोई अलग वस्तु है नहीं। आत्मा ही ज्ञान है। आत्मा को समझने के लिये भेद करके उसमें से यह ज्ञानगुण विभक्त किया है। यह ज्ञान यदि आत्मा को प्रकाशित न करे तो पर को भी प्रकाशित नहीं कर सकता है।

व्यवहार से अभिमत परप्रकाशकता के एकान्त पर आपत्ति—व्यवहार पक्ष के वक्तव्य को सुनकर कि ज्ञान पर का प्रकाशक है व्यवहार से और उस व्यवहार पक्ष का एकान्त करके यदि सर्वथा यह ही माना जाय कि ज्ञान पर का प्रकाशक है तो ज्ञान का आत्मा से सम्बन्ध नहीं रहा, क्योंकि यह ज्ञान तो सदा बाहर में ही अवस्थित है। काम करने से ही होता है और काम करने से ही स्थान मिलता है। ज्ञान ने जब इस पक्ष में केवल बाहर ही काम किया, बाह्यपदार्थों में ही इसका फिर अवस्थान होगा। इसका आत्मा से क्या सम्बन्ध रहा? जो ज्ञान आत्मा में प्रभाव न डाले, जिस ज्ञान की क्रिया का विषय आत्मा न रहे, इसका अर्थ यह है कि ज्ञान अलग है, आत्मा अलग है। ऐसा पृथक् ज्ञान निराधार होने से सद्भूत न हो सकेगा।

ज्ञान को मात्र परप्रकाशक मानने में ज्ञान की सर्वगतता का अभाव—पदार्थ में जितने भी गुण होते हैं, उन सब गुणों की क्रियावों का विषय वही पदार्थ होता है। ज्ञान ही क्या, जिस ज्ञान का जो भी काम है, चाहे वह चेतक गुण है या अचेतक गुण है, उन गुणों की जो अर्थक्रिया है, उन समस्त क्रियावों का विषय यह आत्मा है। कोई भी गुण बाहर के काम करे और अपने आधार के काम न करे तो इसका अर्थ यही तो हुआ कि जैसे कोई परद्रव्य हो, वह जितना भिन्न है आत्मा से उतना ही भिन्न वह गुण होगा, जिसकी क्रिया का विषय पर रहे और आत्मा न रहे। आप जो कुछ सोचते हैं, उस सोचने का विषय आप ही रहते हैं, मैं तो नहीं हो जाता। आप जो भी विकल्प करते हैं उसका अनुभव आपमें ही रहता है, मुझमें तो नहीं होता, क्योंकि मेरे से आपका कुछ सम्बन्ध नहीं। आप भिन्न पदार्थ हैं, मैं भिन्न पदार्थ हूँ। यों ही इस ज्ञानगुण में अर्थक्रिया का विषय केवल पर है, खुद नहीं है। तो इसका अर्थ यह हुआ कि यह ज्ञान आत्मा से भिन्न है और ऐसा होने पर जब आत्मा की प्रतिपत्ति न हो सकी, आत्मा को यह ज्ञान न जान सका तो ज्ञान को फिर सर्वगत भी कैसे कह सकेंगे?

स्वप्रकाशकता के बिना ज्ञान की सर्वगतता का मखौल—वाह रे, शंकाकार के ज्ञान का सर्वगतपना कि सबमें तो यह व्यापक बन जाये और आत्मा में यह व्यापक न हो सके, अपने ठौर ठिकाने से न रहने पर पर को अपना ठौर बनाने वाले लोग तो ठोकरें खाते फिरते हैं। यों यह ज्ञान खुद में व्यापक न हो और अन्यत्र व्यापक हो चले तो ठोकर खाता रहेगा, इसका सिद्धान्त ही कुछ न हो सकेगा और फिर तो यह ज्ञान

मृगतृष्णा के जल की तरह प्रतिभासमात्र ही रहेगा, फिर तो ठोस परिज्ञान कुछ कर ही नहीं सकते, क्योंकि इस ज्ञान ने अपना आधार छोड़ दिया। इस ज्ञान की पुष्टि का करने वाला तो ज्ञान का स्वत्व था, उस स्वत्व का विच्छेद हो गया। अब यदि यह जानता हो तो समझ लो यों जानता है मृगतृष्णा-जल की तरह अटपट भ्रमरूप, जिसका कुछ ठोस मूल्य भी नहीं है। जैसे कोई चालाक पुरुष किसी प्रसंग में कभी हँसता भी है तो वह बेमूल हँसता है। उसके खुश होने का आधार कुछ नहीं है। सो केवल उसकी आदत में ऐसा शुमार हो गया है, उसे अपनी ऐसी व्यवहार-कला बनाई है कि आपको अपना बड़प्पन जताने के लिए एक ढंग से, जैसे बड़े पुरुष किसी बात पर मुस्कराते हँसते रहते हैं। इस तरह की मुद्रा से बात करेंगे, हँसेंगे; पर उनका यह हास्य, उनका यह हर्ष अमूल है, भीतर में कुछ जड़ नहीं है। यों ही यह ज्ञान जानेगा भी तो नाममात्र मृगतृष्णाजल की तरह भ्रममात्र, निराधार, अटपट, उसका कोई ठोस प्रमाण भी न रहेगा। इस कारण ज्ञान को केवल परप्रकाशक मत मानो। उसमें ज्ञान की भी सिद्धि न हो सकेगी।

ज्ञान को मात्र परप्रकाशक मानने पर अचेतन पदार्थों के अभाव का प्रसंग—एक नई आपत्ति और सुनिये। यह ज्ञान यदि पर में ही व्यापक बनता है तो ज्ञान जिसमें व्यापक है, ज्ञान का जो विषय है वह सब ज्ञानमय ही रहेगा। यों सारा जगत् ज्ञानमय हो जायेगा, कुछ अचेतन रहेगा ही नहीं। फिर तो एक विज्ञान अद्वैतवाद आ उठेगा। विज्ञानवाद में यह सिद्धान्त है कि जो कुछ है वह सब ज्ञान ही है। यह भींत दिखती है तो झूठ दिखती है। है नहीं कुछ। जो कुछ भी दिख रहा है यह सब कोरा भ्रम है। सब ज्ञान ही ज्ञान है। ऐसा विज्ञानवाद का सिद्धान्त है। वस्तुत: ऐसा है नहीं। अरे, ये प्रकट अचेतन हैं। जाननहार कोई पदार्थ अलग रहता है, किन्तु विज्ञानवाद में यह सब ज्ञान ही ज्ञान है—ऐसा माना जाता है।

ज्ञानैकान्त में परिणमनों की भ्रांति की भ्रांति—ज्ञानाद्वैत की सिद्धि के प्रमाण के लिये शंकाकार की ओर से पूछ रहे हैं—अच्छा, यह तो बतावो कि जब सोते हुए में स्वप्न आता है और उस स्वप्न के समय में जो कुछ दिखा वह सही लगेगा कि न लगेगा? यह नदी है, मैं यहाँ गिर गया—यों स्वप्न में देखा तो दु:खी हुआ कि नहीं? कुछ डूबने जैसा स्वप्न आ जाये, तब की बात सोचो व यह तो बतावो कि उस समय वहाँ है क्या? केवल ज्ञान ही ज्ञान है, कल्पना ही कल्पना है, है कुछ नहीं। वह सब भ्रम में दिखता है। ऐसे ही विज्ञानवाद यह कहता है कि तुम्हें भ्रम हो गया है कि यह भींत मालूम पड़ती है, चौकी मालूम पड़ती है। यह तो सब ज्ञान ही ज्ञान है, कल्पना ही कल्पना है, है कुछ नहीं।

वास्तविक परिणमनों में स्वप्नभ्रम की तुलना—अरे बाबा ! हम हाथ से उठाकर, टटोलकर भी तो देख रहे हैं कि यह चौकी है। इस भींत से हम टकरा भी तो जाते हैं कि यह भींत है। अरे, तो क्या स्वप्न में टकराते नहीं हो? किसी चीज को स्वप्न में उठाकर रखते नहीं हो? वहाँ भी तो तुम्हें सही नजर आता है। यहाँ भी ये सब तुम्हें सही मालूम पड़ते हैं, यह सब भ्रममात्र है। यों ज्ञान का आधार आत्मा को न मानोगे और बाह्य में व्यापक मानोगे तब क्या हो जायेगा? सब ज्ञान ही ज्ञान तत्त्व रह जायेगा, क्योंकि फिर ज्ञान से जुदा कुछ नहीं रहा। तो ज्ञान भी किसका नाम है? लो यों ज्ञान भी मिट जायेगा। अरे ! सीधे-सीधे ठीक सिद्धान्त की बात मानते जावो, आत्मा स्वपरप्रकाशक है, ज्ञान स्वपरप्रकाशक है और दर्शन स्वपरप्रकाशक है।

दृश्यमान पदार्थों की मायारूपता का कारण—भैया ! जो चीज जिस प्रकार से असार है उसको उस प्रकार से असार समझो, अन्य भांति से असार समझने का यत्न न करो। ये बाहरी पदार्थ जो भी नजर आ रहे हैं ये सब मायारूप हैं, पर ये मायारूप किस कारण से हैं, उसकी विधि तो यथार्थ जानो। यों ही कहने से काम न चलेगा कि जैसे स्वप्न में यह दिखता है कि वह भ्रम है, मायारूप है—ऐसे ही इन खुली हुई आँखों से भी जो कुछ दिखता है यह माया है। यों माया नहीं है, किन्तु जो कुछ दिखता है वह परमार्थस्वरूप नहीं है। परमार्थस्वरूप तो इन भौतिकों में अणु-अणु हैं और उन अणुवों का यह ढेर बन गया, जिसका विश्वास नहीं

है, विनश्वर है, संयोगवियोग होता रहता है। यों विनश्वर संयोगवियोगात्मक ये सब पिंड नजर आ रहे हैं, इसलिये माया हैं परमार्थ नहीं हैं। यह ज्ञान माया को भी जानता है, परमार्थ को भी जानता है, स्व को भी जानता है।

दर्शन की प्रकाशकता के सम्बन्ध में शंका समाधान—ऐसे ही केवल अभ्यन्तर का ही प्रकाश करता है, बाह्यवस्तुवों का नहीं। ठीक है, दर्शन भी जो करता है सो ठीक है, ज्ञान भी जो करता है सो ठीक है, किन्तु इन दोनों का प्रतिपादन जब हम बाह्यद्रव्यों का सहारा लेकर करते हैं और उसमें जो कुछ कहा जाता है वह व्यवहार का वर्णन है और उसमें बाह्यद्रव्य ही बताये जायेंगे, यों दर्शन भी परप्रकाशक समझा जायेगा और स्वप्रकाशक भी समझा जायेगा।

दर्शन से परप्रकाशकता की भी सिद्धि—और भी देखो भैया ! बात केवल एक समझाने के लिये कही जा रही है—यह आँख देखती है, यह हमेशा बाहरी चीजों को देखती है खुद को तो देख ही नहीं पाती। आँखों में कभी काजल लगा हो तो उसे आँखें खुद नहीं देख पातीं। आँखें दर्पण को देखेंगी तो जान पायेंगी कि मेरे में काजल लगा है, वहाँ भी उसने बाहरी चीजों को रखा। तो दर्शन तो प्रत्यक्ष बाहर ही बाहर देखता है, खुद को नहीं देखता है। यह एक समझाने के लिये दलील है और तुम अड़ रहे इस बात पर कि आत्मा का दर्शन पर को प्रकाश करता ही नहीं, मात्र खुद का प्रकाश करता है। तुम उल्टी बात बनाये जा रहे हो। यद्यपि दर्शन का विषय मुख्यता से आत्मा ही है। पर की बात कहना तो व्यवहार से है, लेकिन उसके समझाने के भी यों ढंग होते हैं। जो रोग ज्यादा बढ़ गया है, उसे लेवल पर लाने के लिये भी उसके विरुद्ध भी कुछ दवाई दी जाती है।

आत्मा, ज्ञान व दर्शन की स्वपरप्रकाशकता की सिद्धि का उपसंहार—खैर, युक्त बात इतनी है कि आत्मा प्रतिभासात्मक है और वह स्वपरप्रकाशात्मक है। पर का प्रतिभास करने में भी स्व का प्रतिभास साथ चल रहा है और स्व का प्रतिभास करने में भी पर का प्रतिभास साथ चल रहा है। ज्ञान ने समस्त विश्व को जाना और यह जानना ठीक है। इस प्रकार से खुद को भी जाना और ऐसे खुद को जानने वाले ज्ञान से तन्मय आत्मा को प्रतिभास में ले लिया गया है। इस प्रकार से दर्शन भी स्वपरप्रकाशक हुआ और ज्ञान भी स्वपरप्रकाशक हुआ। जिन सिद्धान्तों में यह लक्षण किया गया है। अन्तर्मुख चित्प्रकाश को दर्शन कहते हैं और बहिर्मुख चित्प्रकाश को दर्शन कहते हैं। करणानुयोगशास्त्र में इसी प्रकार परिभाषा है। उसमें भी यह निषेध नहीं किया गया था कि बहिर्मुख चित्प्रकाश करने वाला आत्मा स्व का प्रकाश नहीं करता है। वहाँ तो बहिर्मुखता की पद्धति बताई है। यों ज्ञान और दर्शन में स्वपरप्रकाशकता युक्तियुक्त है, इस कारण आत्मा ज्ञानदर्शनस्वरूप है और वह स्वपर का प्रकाश करता है, यह सिद्ध हुआ।

केवली भगवान का ज्ञातृत्व व द्रष्टत्व—ये भगवान केवली समस्त लोक को जानते हैं, फिर भी मोह का अभाव होने से पररूप परिणमते नहीं हैं अर्थात् कल्पना में पर का सम्बन्ध, पर का हित आदिक की भावना प्रभाव नहीं डालती। इस प्रकार यह समस्त विश्व ज्ञेयाकार को पी लेने वाला भी यह भगवान प्रभु मुक्त स्वरूप है। यह तो अल्पज्ञानी, रागी, द्वेषी, मोहियों की बात है कि ''तन की भूख है तनिकसी, तीन पाव या सेर। मन की भूख अपार है, लीलन चहत सुमेर।।'' यह ज्ञान सहज परमात्मतत्त्व को जानता हुआ समस्त लोक को जानता है। यह नित्य शुद्ध क्षायिक ज्ञान है और दर्शन भी नित्य शुद्ध क्षायिक दर्शन है और स्वपर को साक्षात् प्रकाशित करता है। यह आत्मा भी स्वपरप्रकाशक होता है, इस प्रकार शंका के समाधान में संकेत किया गया है। अब इसका विशदरूप से समाधान अगली गाथा में करेंगे।

गाथा 162

णाणं परप्पयासं तइया णाणेण दंसणं भिण्णं।

ण हवदि परदव्बगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा।।162।।

ज्ञान की मात्र परप्रकाशकता का निषेध—पूर्व गाथा में जो शंकाकार ने पक्ष रक्खा था कि आत्मा परप्रकाशक इस प्रकार है कि आत्मा का ज्ञानदर्शनस्वरूप, उसमें ज्ञान है परप्रकाशक और दर्शन है स्वप्रकाशक, इस ही कारण आत्मा स्वपरप्रकाशक है। इस पूर्व पक्ष के समाधान में सिद्धान्तरूप इस गाथा में प्रतिपादन किया है। यदि ज्ञान मात्र पर का प्रकाशक हो तो ज्ञान से दर्शन जुदा कहलायेगा और यह तो स्वीकार ही कर लिया था शंकाकार ने कि दर्शनपरप्रकाशक नहीं है। तो दर्शन तो रहा स्वप्रकाशक ही इस शंकाकार के मन्तव्य में और ज्ञान रहा परप्रकाशक ही। जिसका इतना विरुद्ध काम है, विरुद्ध मुख है तो वे दोनों भिन्न ही हैं। ज्ञान तो पर की ओर मुख किये हुए है, दर्शन स्व की ओरमुख किये हुए है—ऐसे अत्यन्त भिन्न ज्ञान और दर्शन का एक जगह कैसे सम्बन्ध होगा?

ज्ञान की अनात्मनिष्ठता में अभाव की आपत्ति—जैसे विन्ध्याचल पर्वत और हिमाचल पर्वत—ये दोनों जुदी-जुदी दिशा में बने हुए हैं, भिन्न-भिन्न क्षेत्र में बने हुए हैं तो क्या एक हो जायेंगे? नहीं होंगे। तो शंकाकार यह कहता है कि इसमें क्या हर्ज है? ज्ञान जुदी चीज है, दर्शन जुदी चीज है। ज्ञान तो बाह्यनिष्ठ हो गया, दर्शन आत्मनिष्ठ हो गया। यहाँ उत्तर में कह रहे हैं कि हे जिज्ञासु ! यदि ज्ञान आत्मनिष्ठ नहीं है, आत्मा से सम्बन्ध नहीं रखता, सम्बन्ध रखने का अर्थ प्रकाश करना होता है। इस आत्मा का प्रकाश न करे तब ज्ञान का सम्बन्ध क्या? ज्ञान कोई अलग द्रव्य नहीं है कि संयोग मान लिया जाये कि आत्मा में ज्ञान का संयोग हो गया है। जैसे कि चौकी का और वस्तु से संयोग हो गया। ज्ञान का सम्बन्ध जाननरूप ही हुआ करता है, अन्यरूप नहीं होता। ज्ञान का सम्बन्ध आत्मा से नहीं माना तुमने, क्योंकि तुम्हारे मन्तव्य में ज्ञान जानता नहीं आत्मा को, पर को जानता है। तो ज्ञान का सम्बन्ध पर से रहा, परनिष्ठ हो गया। आत्मा तो आधार रहा नहीं और ज्ञान का पर आधार है ही नहीं। परपदार्थ तो समस्त अचेतन हैं। जो आत्मनिष्ठ है यह दर्शन ही है। ज्ञान तो अब निराधार हो गया। निराधार होने से ज्ञान शून्य हो जायेगा। कुछ भी नहीं रहा ज्ञान।

ज्ञान की मात्र परप्रकाशकता मानने में आपत्ति का विवरण—यद्यपि इस आशंका इसी प्रकार का समाधान कल की गाथा में कर दिया गया था, क्योंकि उस पूर्व गाथा में उत्तर देने का भी पूज्यश्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने वादा कर लिया था। उसी समाधान को पूज्यश्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव गाथा के रूप में वर्णित कर रहे हैं। ज्ञान को मात्र परप्रकाशक मानने पर क्या विपदा आती है, इस बात का वर्णन इस गाथा में है। ज्ञान जानने का काम करता है, पर शंकाकार ने यह कहा है कि ज्ञान मात्र पर को जानने का काम करता है, किन्तु सिद्धान्त यह कह रहा है कि ज्ञानमात्र पर को ही नहीं जानता है। देखो ज्ञान स्व को जाने बिना किस ही प्रकार अव्यक्तरूप से सही, न हम उसे पकड़ पायें, फिर भी यह ज्ञान अन्तरंग में यदि अपने आपको जानता न हो तो जो ज्ञान किया जा रहा है, वह ज्ञान पक्का है, ठीक है, उसका ज्ञान सही है इस प्रकार का अपने आपमें निर्णय न होने से पर के जानने की भी गारंटी क्या रही? हमने यह ठीक-ठीक जाना कि नहीं जाना? इस पकाई के साथ ही पर के जानने की पकाई है। हाँ, मैंने ठीक समझा है कि यह चौकी है। इतना अंश यदि न प्रकट हो तो चौकी के जानने की कीमत क्या रही? वह तो अटपट प्रतिभास मात्र ही रह गया।

ज्ञान की अनात्मनिष्ठता मानने पर ज्ञान की शून्यता की आपत्ति का विवरण—अब इसी प्रसंग से सम्बन्धित यहाँ यह बात कही जा रही है कि ज्ञान आत्मनिष्ठ नहीं है तो निराधार होने से ज्ञान में शून्यता आ जाएगी। दर्शन शास्त्र में है एक सिद्धान्त ऐसा, जिसने ज्ञान को केवल परप्रकाशक माना है, स्वप्रकाशक नहीं माना है और उसही से सम्बन्धित यह भी कुछ दर्शन का मंतव्य है कि ज्ञान आत्मा का गुण नहीं है, आत्मा का धर्म नहीं है, स्वभाव नहीं है। ज्ञान से आत्मा तन्मय नहीं है, आत्मा तो केवल चेतन है। इस चेतन आत्मा में ज्ञान का जब संयोग होता है तो आत्मा ज्ञानी बनता है। इस सिद्धान्त में ज्ञान को व आत्मा को जुदा-जुदा कर दिया गया है। वे जो ऐसा कहते हैं उसमें भी कुछ बल है, उन्होंने यह आशय क्या समझकर बनाया है? उनका परम्परा का मूल भाव समझने के लिये इस ओर ध्यान दो कि हम आप जो कुछ भी ज्ञान करते हैं, यह ज्ञान आत्मा में कहाँ रहता है? हुआ ज्ञान और मिट गया। अभी भींत को जान लिया, अब चौकी को जानने लगे, वह ज्ञान मिट गया। तो ज्ञान के संयोग-वियोग तो हो रहे हैं ना? ऐसा ही निरखकर वह पक्ष बना रहा है, जिसका समाधान दिया जा चुका है।

ज्ञान को कलंक माने जाने का एक सिद्धान्त—इस प्रसंग से ही सम्बन्धित यह भी बात उनके अभिमत में है कि इस आत्मा के साथ जब तक ज्ञान रहेगा तब तक संसार में रुलना पड़ेगा, जन्म-मरण लेना पड़ेगा, और जब इस ज्ञान से मुक्त हो जाएगा तो जीव को मोक्ष मिल जायेगा, ऐसा भी उनका सिद्धान्त है। इसमें भी उनका परम्परापूर्वक मूल पूर्व का आशय समझने के लिए इस ओर ध्यान दीजिये। हम आप लोगों का ज्ञान यह सब क्लेश का कारण बन रहा है। धन, वैभव, परिजन, सम्पदा, यश, प्रतिष्ठा—इनमें फँसा हुआ ज्ञान हम सबके दु:ख का कारण है और ऐसा लगता है कि हम यदि ऐसा ज्ञान न बनाया करें तो कोई क्लेश न होगा। यदि यह ज्ञान मिट जाए तो सारा क्लेश भी मिट जाये। इस अंश को लेकर उनका यह सिद्धान्त बना है कि ज्ञान का जब तक जीव में संयोग है तब तक जीव को संसार में रुलना पड़ता है और जब ज्ञान बिल्कुल हट जाए, यह जीव जीव ही रह जाए, चेतन ही रह जाये, ज्ञान न रहे तो इसको मुक्ति है। इससे तो यह शिक्षा लेनी चाहिये थी कि ज्ञानस्वभाव जीव का स्वरूप हैं, ज्ञानविपरिणमन नहीं।

ज्ञान की निष्कलंकरूपता का समर्थन—वह चेतन क्या है कि जिसमें ज्ञान का सम्बन्ध न रहे और फिर भी चेतन रहे? ऐसा अपरिणामवादियों ये पूछिये तो उनका स्पष्ट कथन है 'चैतन्यं पुरुपस्य स्वरूपं'। चैतन्य तो पुरुष का स्वरूप हैं। उसमें ज्ञानपना कहाँ बताया गया है? ज्ञान तो तरंग है आत्मा निस्तरंग है। ऐसा कहाँ से उन्हें बल मिला? इस ओर ध्यान दीजिये। हम आप ज्ञान करते हैं तो अन्त:तरंग तो उठती ही है। कोई बड़ा निर्मल ज्ञान भी करे तो भी अर्थाकार विकल्प तो होता ही है। ऐसे ही अंश को कुछ प्रतिग्रह में रखकर यह बात कही गई है कि आत्मा का स्वरूप ज्ञान नहीं है, चैतन्य है। अब देखते जाइये, ये सब मंतव्य ज्ञान को मात्र परप्रकाशक ही मानने पर बने हैं। यहाँ यह ध्यान में ही नहीं रहा कि ज्ञानशक्ति के मूल में तो केवल ज्ञानाकार है, उसकी खबर न रही और उसका परिणमन उस व्यक्त परिणमन में ज्ञेयाकार आता है। ज्ञान का स्वरूप ज्ञेयाकार है यह सिद्धान्त भी नहीं कहा। वह तो उसका उस उस समय का परिणमन है, पर ज्ञान ज्ञानाकार में शाश्वत अव्यक्तरूप से रहता है।

स्वपरप्रकाशकता का अविनाभाव—वह ज्ञान जिससे भी सम्बन्धित होगा, उसको प्रकाश किए बिना बाहर को प्रकाश कर दे, यह कैसे हो सकता है? दीपक जिस कमरे में रखा होगा, दीपक का जो आधार है और निकट चलो—दीपक का स्वयं ही जो आधार है, निश्चय से जो भी आधार है, दीपक आधार को तो प्रकाशित न करे और कह दें कि दीपक का सम्बन्ध इस जगह है, यह कैसे सम्भव है? अरे, ज्ञानज्योतिस्वरूप जानन का सम्बन्ध है। उसका अर्थ यह है कि यह उसे जान रहा है। यह ज्ञान स्वपरप्रकाशक है और आत्मा भी स्वपरप्रकाशक है। केवल मात्र परप्रकाशक नहीं है।

ज्ञान की परप्रकाशकता के एकान्त में अचेतनों के प्रभाव का प्रसंग—इस सम्बन्ध में और भी दृष्टि डालो। यह ज्ञानमात्र पर से सम्बन्ध रखे, यदि मात्र पर का ही प्रकाशक हो तो यह ज्ञान जहाँ-जहाँ गया वे-वे सब द्रव्य चैतन्य बन जायेंगे, क्योंकि ज्ञान का आत्मा से सम्बन्ध तो माना नहीं। ज्ञान का सम्बन्ध पर से माना गया है, पर का ही प्रकाशक है। तो जहाँ-जहाँ पर में गया वे सब द्रव्य चेतन बन जायेंगे। इस तरह फिर इस तीन लोक में कोई भी पदार्थ अचेतन न रहेगा। यह भी एक दूषण है। सिद्धान्त की बात ता यह है कि ज्ञान ज्ञान के आधारभूत आत्मा में रहता हुआ ही वह इस विधि से परिणमता है कि जो कुछ भी सत् पदार्थ है वह विदित हो जाता है। इस ज्ञान को परपदार्थों में लगाना-जोड़ना नहीं पड़ता। यह ज्ञान परपदार्थों में प्रवेश कर-करके नहीं जानता है। यह ज्ञान तो अपने आत्मा में शक्ति गुणरूप रहता हुआ यहीं विराजा हुआ यह राजा सब कुछ परिचय लेता रहता है।

सिद्धान्तपक्ष का निगमन—इतनी बात सुनकर जिज्ञासु कहता है कि हाँ, ठीक, आया समझ में कि ज्ञान केवल पर का प्रकाशक नहीं है। आया न समझ में? हाँ, तो यह भी समझो कि दर्शन भी केवल आत्मनिष्ठ नहीं है। दर्शन की अन्तर्मुखी वृत्ति है, यह बात तो है, किन्तु इसका सर्वथा यह अर्थ नहीं हो जाता कि दर्शन में पर का प्रकाश नहीं है और ज्ञान में स्व का प्रकाश नहीं है। अरे, ये तो प्रकाशात्मक आत्मा के धर्म हैं, यही समाधान इस सिद्धान्त पर सारभूत है, ज्ञान में भी कथञ्चित् स्वपरप्रकाशकता है और दर्शन में भी कथञ्चित स्वपरप्रकाशकता है।

ज्ञानस्वरूप आत्मा—अब जरा आत्मतत्त्व के विषय में यह निर्णय कर लो कि यह आत्मा ज्ञान से भिन्न है या अभिन्न है। यदि आत्मा ज्ञान से सर्वथा अभिन्न ही है तब तो चुपचाप बैठो, बात ही न करो ज्ञान के विषय में। यदि ज्ञान से आत्मा को सर्वथा भिन्न करोगे तो भी आत्मा की चर्चा छोड़ो, इससे कुछ सम्बन्ध ही नहीं रहा, फिर तो यह ज्ञान जहाँ होगा, वहाँ रहेगा, यह आत्मा तो बेचारा दरिद्र ही रहा, ज्ञान शून्य ही रहा। ज्ञान से आत्मा सर्वथा भिन्न नहीं है और ज्ञान से आत्मा सर्वथा अभिन्न नहीं है। कथचिंत भिन्न है और कथञ्चित् अभिन्न है। अब यह दृष्टि दो कि ज्ञान के जो निरन्तर के परिणमन हैं, पूर्व और अपर, प्रतिक्षण के परिणमन, उनका प्रवाह याने जो निरन्तर ज्ञान के परिणमन का प्रवाह है बस उसी प्रवाह का एकत्व तो आत्मा है। इस निगाह से भी समझ लो, यह ज्ञान स्वपरप्रकाशक है।

अखण्ड आत्मा के प्रतिबोध के लिये प्रयोजनवश भेद—समस्त पापसमूह का नाश करने का स्वभाव रखने वाले इस आत्मा में ज्ञान और दर्शन का भेद एक संज्ञाभेद से, प्रतिपादनभेद से भेद किया गया है। इनकी संज्ञा जुदी है। संज्ञा भी इनकी जुदी है। आत्मा तो एक है और ज्ञान नाना हैं। सिद्धान्त भेद में मतिज्ञानादिक पाँच और परिणमनभेद में अनगिनते भेद हैं। ज्ञान का लक्षण जाननमात्र है, आत्मा का लक्षण ज्ञानादिक गुण और उनके समस्त पर्यायों से जो युक्त है वह आत्मा है। प्रयोजन भी भिन्न है। जब प्रतिपादन का हमारा प्रयोजन होता है तब इसमें भेद चलते हैं। परमार्थ से जैसे अग्नि में और उष्णता में अंतर नहीं है, इसी प्रकार से आत्मा में और ज्ञानदर्शन में कुछ अन्तर नहीं है।

आत्मा का अनात्मावों से पार्थक्य—आत्मा ज्ञानदर्शनात्मक है, प्रतिभास स्वरूप यह आत्मा अपने स्वरूप में परिपूर्ण है। अन्य समस्त पदार्थों से यह अत्यन्त न्यारा है। देह में रहते हुए भी देह की ओर यह रंच झुकता नहीं है। यह आत्मा तो स्वरूप में ही रहता है, देह अपने स्वरूप में ही रहता है। यह आत्मा विकल्परूप हाथ से इस देह को हिलाता, डुलाता, झकझोरता है, किन्तु यह देह आत्मा की बात कुछ सुनता ही नहीं है। यह देह अपने गुणपर्याय में मग्न है। जिस आत्मा का इस निकटवर्ती एकक्षेत्रावगाही देह से भी सम्बन्ध नहीं है, उस आत्मा का इन जड़पदार्थों से अन्त:सम्बन्ध मानने की जो श्रद्धा की जा रही है, वह इस परमात्मतत्त्व पर बड़ा प्रहार है और यह अपने आपके प्रभु पर बड़ा अन्याय है, महापाप है। यदि अपनी भलाई चाहते हो तो

अन्तरंग में सत्य श्रद्धा बना लो कि मैं सब पदार्थों से न्यारा केवल अपने स्वरूपमात्र हूँ। बात सही हो तो मान लो, न सही हो तो न मानो, निर्णय तो देख लो।

मोह की विडम्बना—भैया ! कितनी ही बार इन परपदार्थों की ओर से अनेक आपत्तियाँ भोगते आ रहे हैं और फिर भी नहीं मानते हैं। इस मोह का फल तो खुद को ही भोगना पड़ेगा। कोई एक बूढ़ा अपने नाती-पोतों को खिलाकर प्रेम करके उन्हें अपने सिर पर चढ़ाकर खिलाता था। वे नाती-पोते थप्पड़ मारें, मूँछ भी नोचें, परेशान करें। वह बूढ़ा बड़ा दु:खी होता था, कभी रोता भी जाता। वहाँ से निकले एक साधु। पूछा—बूढ़े बाबाजी ! तुम क्यों दु:खी हो? तो उस बूढ़े ने अपने दु:ख का कारण बताया। तो साधु ने कहा कि हम तुम्हें ऐसा उपाय बतावें कि तुम्हारे ये सारे दु:ख दूर हो जावें। उस बूढ़े ने समझा कि साधु महाराज कुछ मन्त्र फूँक देंगे तो ये नाती-पोते चौबीस घण्टे हमारी हू-हजूरी में लग जायेंगे। साधु ने कहा कि तुम अपना घर छोड़कर हमारे संग में हो जावो, तुम्हारा सारा संकट मिट जायेगा। तो वह बूढ़ा बोला कि महाराज ! ये नाती-पोते चाहे हमें मारें, चाहे जो करें, पर हम उनके बब्बा तो न मिट जायेंगे। हम उनके बब्बा ही कहलायेंगे और वे हमारे नाती ही कहलायेंगे। तो ये मोही जीव दु:खी भी होते जाते हैं और दु:ख के ही कार्य करते जाते हैं।

आत्मा की सुरक्षाकला—भैया ! अपने ज्ञान को जिस क्षण भी संभाल लो उसी क्षण सारे क्लेश भी मिट जायेंगे। कोई नदी में तैरने वाला कछुवा पानी में सिर ऊपर उठाकर चले तो सैकड़ों पक्षी उसकी चोंच पकड़ने के लिये झपटते हैं। अरे कछुवे ! तू क्यों घबड़ाता है, क्यों दु:खी होता है, जरासी कला में ही तेरे संकट दूर हो जायेंगे। वह क्या कला है कि पानी में चार अंगुल डूब जा, फिर सभी पक्षी तेरा क्या बिगाड लेंगे? यों ही हे आत्मन् ! तूने बाह्य में अपना ज्ञान उपयोग बनाया है तो तू इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग में बढ़ गया है और दु:खी हो रहा है। तो तू दु:खी मत हो। तेरे में तो वह कला है कि तेरे सभी संताप एक साथ नष्ट हो सकते हैं। वह कला है तेरी ही अन्तर्मुखवृत्ति। अपनी अन्तर्मुखवृत्ति करके अपने आपके स्वरूप में मग्न हो जा, फिर एक भी संताप न रहेंगे। यह ज्ञानमय आत्मा आत्मा आनन्दमय है और सबसे निर्मल है, इसके आलम्बन से ही समस्त संकट दूर होंगे।

गाथा 163

अप्पा परप्पयासो तइया अप्पेणं दंसणं भिण्णं।

ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा।।163।।

आत्मा की मात्र परप्रकाशकता मानने में दोषापत्ति व उसका निवारक सिद्धान्त—पहिली गाथा में ज्ञान को केवल परप्रकाशक मानने का खण्डन किया था और यह श्रद्धान उत्पन्न किया था कि ज्ञान स्व का और पर का दोनों का प्रकाशक है। अब इस गाथा में आत्मा के सम्बन्ध में कह रहे हैं कि आत्मा भी स्व का और पर का प्रकाशक है। शंकाकार के मन्तव्य के अनुसार यदि आत्मा केवल पर का प्रकाशक हो तो दर्शन आत्मा से भिन्न हो जायेगा, क्योंकि दर्शन का लक्षण स्वप्रकाशक माना है और आत्मा हो जाये मात्र परप्रकाशक तो जो मात्र परप्रकाशकता मानने में ज्ञान के प्रसंग ने दोष दिया था वे ही सब दोष आत्मा को परप्रकाशकमात्र मानने में आ गये, क्योंकि भाव और भाववान ये एक अस्तित्व करि रचे गए हैं। कोई कहे कि अग्नि की गर्मी ईंधन को जला डालती है तो इसका अर्थ यह है कि अग्नि ईंधन को जला डालती है। क्या ऐसा होता है कि गर्मी तो ईंधन को जला दे और अग्नि ईंधन को न जलाए या अग्नि ईंधन को जला दे और गर्मी ईंधन को न

जलावे? बात तो दोनों ही जगह एक है—चाहे गर्मी कह लो, चाहे अग्नि कह लो। गर्मी है भाव और अग्नि है भाववान। भाव और भाववान एक ही अस्तित्व से रचे गये हैं। ये जुदे-जुदे नहीं हैं।

आत्मा को स्वपरप्रकाशकता के समर्थन के सम्बन्ध में—पहली गाथा में ज्ञान को व दर्शन को जुदा मानने की पद्धति दिखाकर दोष बताया था। ऐसा बिल्कुल विमुख दिखाया था जिसका एक आधार भी न बने। अब यहाँ आत्मा को और ज्ञान को जुदा दिखने की पद्धति कही जा रही है। मूल बात यह है कि यह मैं आत्मा अपने को भी समझता हूँ और परपदार्थों की बात भी समझता हूँ। इसमें कोई इतना ही अंश ग्रहण करे कि मैं पर को ही समझता हूँ, आत्मा को नहीं समझता हूँ तो वहाँ यह आपत्ति आती है कि फिर अपने को समझने वाला फिर रहा कौन? उत्तर में कहोगे कि दर्शन। यदि दर्शन का नाम जुदा रहा, आत्मा का काम जुदा रहा तो ये दोनों भिन्न हो जायेंगे। यदि कहोगे कि ठीक है, आत्मा मात्र परद्रव्यगत् ही नहीं है। आत्मा आत्मा का ही प्रकाशक है, आत्मनिष्ठ है। तो इसी प्रकार दर्शन भी आत्मनिष्ठ है, वह भी मात्र परप्रकाशक नहीं है। इस तरह यह सिद्ध होता है कि आत्मा स्व और पर का प्रकाशक है, ज्ञान भी स्वपरप्रकाशक है और दर्शन भी स्वपरप्रकाशक है।

उत्कृष्ट अवसर का अनुपयोग—हम आप लोगों ने आज कितना उत्कृष्ट अवसर पाया है। इस अवसर का आभार मानने के लिए, इस अवसर पर न्यौछावर हो जाने के लिए हम अपने वचन प्रकट नहीं कर सकते हैं। कैसा वह सजग सचेत मनुष्यजन्म मिला है? हम अपने इस ज्ञान के द्वारा कितना चिन्तन, मनन कर सकते हैं और दु:खों के नष्ट होने का कितना उपाय बना सकते हैं? दु:ख दु:ख से दूर नहीं होता। दु:ख तो सत्य आनन्द के अनुभव से दूर होता है। इतने श्रेष्ठ जीवन को हम विषय और कषायों में, विकल्पों में अपने को उल्झाकर यों गँवा दें, जैसे कोई दुर्लभ रत्न को पाकर कौवों को उड़ाने के लिए समुद्र में फेंक दे। कोई कौवा समुद्र के ऊपर उड़ रहा था। किसी पुरुष को ऐसा ही कौतूहल हुआ कि अपने पास में जो दुर्लभ रत्न था उसे कौवों को उड़ाने के लिए फेंक दिया। वह समुद्र में गिर गया। इसमें कौनसी बडी सावधानी की करतूत की इसने? यों ही इस उत्कृष्ट सारभूत जीवन को विषय और कषायों में ही लगा दिया तो इस दुर्लभ नर-रत्न को इसने यों ही खो दिया समझिए। किञ्चित् प्रयोजन के लिए, कल्पनामात्र सुख के लिए ऐसे उत्कृष्ट अवसर को हम यों ही बिता दें, यह कितनी अफसोस की बात है?

उत्कृष्ट अवसर का दुरुपयोग—जैसे किसी को बर्तन मांजने के लिए राख चाहिए थी। यदि कीमती चंदन के वनों को जलाकर उसकी राख बनाकर बर्तन मांजे तो क्या उसे कोई बुद्धिमान कहेगा? अरे, कितना कीमती का चंदन पेड़—सेर भरके भी वज़न का पचासों रुपये में मिल जाता है, उसे यों ही बर्तन मांजने के लिए जला दें तो इसमें कोई बुद्धिमानी नहीं है। ऐसे ही कल्पनाजन्य इन्द्रिय-सुख को प्राप्त करने के लिए इस दुर्लभ ज्ञानोपयोग का, इस विशुद्ध विकास का इसने यों उपयोग किया तो यह कितने खेद की बात है? हाथी जैसा श्रेष्ठ पशु पाकर कोई हाथी पर मल ढोये, ईंधन ढोये तो क्या यह कोई बुद्धिमानी का काम है? इसी प्रकार ऐसे इस उत्कृष्ट ज्ञान को पाकर हम विकल्प-मैले को ही ढोते रहें, कल्पनाएँ ही अटपट ऊँधी-सूँधी बना बनाकर अपने आपके प्रभु को हैरान करते रहें, दु:खी करते रहें तो क्या यह कोई बुद्धिमानी का काम है?

भैया ! जितना भयंकर द्वेष परिणाम है उससे भी भयंकर राग परिणाम है। किसी भी पदार्थ से राग किया जाए वह मेरे लिए कुछ सहाय नहीं है, कभी सहाय हो नहीं सकता। एक तो वस्तु के परिणमन हैं, सब स्वतन्त्र हैं, किसी के परिणमन को कोई दूसरा बदल नहीं सकता है। हमें चाहिए कि हम अपना उपादान दु:ख योग्य न बनाएँ। जैसे आनन्द का विकास हो उस प्रकार का उसका परिणाम बनाएँ, यही हमें करना चाहिए।

वर्तमान उत्कृष्ट अवसर के परिचय के लिए अतीत दुर्दशावों का विवरण—यह जीव अनादि काल से निगोद अवस्था में रहा आया है। अनन्तकाल तो निगोद में बीता। निगोद जीव ऐसे सूक्ष्म होते हैं जो आँखों से

कभी दिख नहीं सकते। वे निगोद जीव कहीं तो निराश्रय रहते हैं। यह जो पोल भी आकाश में दिख रहा है यहाँ भी सर्वत्र ठसाठस भरे पड़े हुए हैं। वे निराश्रय जीव हैं और साश्रय जीव वनस्पति के फल में पत्तों में, जड़ों में और किसी-किसी त्रस काय में भी दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चारइन्द्रिय व किसी-किसी पंचेन्द्रिय जीवों के शरीर में भी रहा करते हैं। निगोद जीव इन 8 जगहों को छोड़कर अन्य सब शरीरों में रहते हैं। वे 8 स्थान कौन हैं जहाँ निगोद नहीं होते? पृथ्वी का शरीर, जल का शरीर, अग्नि और वायु का शरीर—चार तो ये स्थावर हैं जिनमें निगोद जीव नहीं रहते हैं। देव और नारकियों का शरीर इनमें भी निगोद जीव नहीं रहते हैं। केवली भगवान का शरीर परमौदारिक होता है, उसमें निगोद जीव नहीं रहते हैं और एक आहारक शरीर है जिसमें निगोद जीव नहीं रहते, यह छठे गुणस्थानवर्ती मुनियों के मस्तक से धवल पवित्र प्रकट होता है। इन 8 शरीरों के अलावा अन्य जितने भी संसारी जीवों के शरीर हैं उनमें निगोद जीव बसा करते हैं। निगोद जीवों की स्थिति में एक श्वास में 18 बार जन्म-मरण करना बना रहता है। श्वास भी कौनसी? स्वस्थ पुरुष की नाड़ी एक बार उचकने में जितना समय लगता है उतने समय का नाम श्वास है। मुख से हवा लेने का नाम भी श्वास है और इस नाड़ी के भी चलने का नाम श्वास है। इतने में 18 बार जन्म-मरण करना होता है। हे आत्मन् ! अपनी पहिले की दु:ख की स्थिति को भी तो सोचो। उन निगोदिया जीवों के स्थितियों के दु:ख का विचार तो कर।

निगोदनिर्गमन—निगोद से निकला तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येक वनस्पति, इनमें उत्पन्न हुआ। ये भी स्थावर एकेन्द्रिय जीव हैं, इनमें जिह्वा तक भी प्रकट नहीं है केवल स्पर्शन इन्द्रिय है। ये दशायें अन्य जीवों की हैं ऐसा समझकर अलग न हो जाना, इन सब दशावों को कभी हम आपने भी भोगी है। स्थावर से निकला तो दो इन्द्रिय जीव हुआ। दो इन्द्रिय जीव वे हैं जो बिना पैरों के छोटे-छोटे जीव जमीन पर रेंगते फिरते हैं, लट, केचुवा, जोक, शंख, कौड़ी, सीप इनमें जो जीव हैं वे दो इन्द्रिय हैं। उनकी क्या स्थिति है? इस अपरिचित लोक में उनकी कुछ गिनती भी होती है क्या? लोग उन्हें बिल्कुल बेकार जड़वत् मानते हैं और अपने किसी उपयोग में उनकी हिंसा करते हुए कुछ हिचकिचाते नहीं हैं। बिरले ही व्यक्ति ऐसे होते हैं जो उन जीवों की हिंसा से अपने को बचाते हैं।

दोइन्द्रिय से निकलकर तीनइन्द्रिय में आगमन—दो इन्द्रिय जीव से निकला तो उसका और विकास हो गया, तीनइन्द्रिय हो गया, अब स्पर्शन, रसना और घ्राण इन तीन इन्द्रियों का सुयोग मिल गया। यह सब हम आपकी कहानी है। चींटा, चींटी, बिच्छू आदिक हुए, वहाँ भी कौनसे महत्त्व की स्थिति प्राप्त की? केवल आहार कर लेना और खाने ही खाने की संज्ञा व अन्य संज्ञायें बनी रहना।

चतुरिन्द्रिय व पञ्चेन्द्रिय में आगमन—तीन इन्द्रिय से निकलकर चारइन्द्रिय जीव हुआ, आँखें भी मिल गयीं, तो देखो जैसे हम आप आँखों से सब कुछ देख लेते हैं ऐसे ही ये मच्छर, मक्खी आदिक भी आँख से देखा करते हैं पर उसके देखने की कुछ कीमत है क्या? उससे वे अपना फायदा निकाल पाते हैं क्या? अपने को इन्द्रिय-विषय के पोषण में ही लगाते रहते हैं। फिर और कुछ विकास हुआ तो पञ्चेन्द्रिय हुए, पर वहाँ भी कितने ही जीव तो असंज्ञी होते हैं, मन नहीं है, हित-अहित की कुछ बात नहीं सोच सकते हैं, ऐसा असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय का भव पा लेने पर भी कुछ हित की बात हुई क्या? कदाचित् मन भी मिला और पञ्चेन्द्रिय बना, ऐसा मनुष्य भी बना, तो भी क्या लाभ है? जो लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य हैं वे आँखों से नहीं दिखते, बड़े सूक्ष्मरूप में अदृश्य हैं, शरीर के अंगों में उत्पन्न होते रहते हैं, वहाँ भी कौनसा कल्याण कर सके? पञ्चेन्द्रिय में पशु, पक्षी बने तो उनकी स्थिति तो आप प्रकट देखा करते हैं। कौनसा हित मिलता है?

श्रेष्ठ मनुष्यभव का सदुपयोग—इन सब कुयोनियों का त्याग कर आज श्रेष्ठ मनुष्यभव में आये हैं तो हे प्रियतम् ! इसे यों ही दु:ख में मत बिता दो। केवल क्लेश, मोह, राग, द्वेष, विकार—इनमें ही इन अमूल्य

क्षणों को मत गँवा दो। कुछ दया करो अपने आप पर। अपने आपको प्रसन्नता में, आनन्द में, ज्ञानविकास में, शुद्ध अभिप्राय में अपने को लेवो। जितने भी समागम हैं ये सब तेरे लिए बेड़ी हैं। जैसे बेड़ी में फँसा हुआ कैदी कैसा बन्धन में पड़ा हुआ है, दु:खी है, ऐसे ही परिजन-वैभव के, मोह के बन्धन में पड़ा हुआ प्राणी कैसा बन्धन में जकड़ा हुआ है? ये समागम जिस पर तू नखरे करता है, अभिमान करता है ये सब तेरी बरबादी के निमित्त कारण हैं। तू इन मिले हुए समागमों का अहंकार तज दे। इनको अहित मानकर इनकी आस्था को तज दे। अपने आपको सँभाल, अपने आपकी आस्था में रह। देख तेरा आत्मा अनन्त आनन्द और अनन्त महिमा का निधान है। सब कुछ सारभूत, कल्याणभूत तेरा तुझमें है। तू अपने से बाहर जब निकलता है तब क्लेश ही क्लेश तुझे प्राप्त होता है। अंतर में तो आनन्द ही आनन्द बसा हुआ है। पायी हुई शक्तियों का सदुपयोग करो। इतनी उत्तम ज्ञानशक्ति का सदुपयोग करो। मोह, राग-द्वेष में ही इस उपयोग को बसाकर इन चेतन-अचेतन मोह के विषयभूत पदार्थों के साथ बिके हुए अपने आपको रिक्त मत कर दो। अपनी निधि, अपनी महिमा को निरखो। यह आत्मा स्वपरप्रकाशक है।

आत्मा के स्वपरप्रकाशकता की अनन्त महिमा—इस स्वपरप्रकाशकता को अनन्त महिमा बतायी गयी है। यह आत्मा समस्त द्रव्यों में सारभूत है और इन सारभूत आत्मद्रव्यों में ही आत्मतत्त्व के सहज स्वरूप का दर्शन है। यही सहजस्वरूप समयसार कहलाता है। जो इस कारणसमयसार से अपरिचित होते हैं उन्हें फिर जगत् में संकट नहीं रहता है। सकलपरमात्मा का जीवनमुक्त नाम है, किन्तु जो पद्धतिशैली सम्यग्दृष्टि की है उस शैली को निरखकर अनेक जन उसे भी जीवनमुक्त कहते हैं।

स्वरूपप्रवेश का अनुरोध—जो अपने आपको ज्ञानमात्र समझता है वह विशुद्ध आनन्द में पहुँचता है। इस विशुद्ध ज्ञानानन्द में पहुँचने का उपाय यह है कि विरक्तिसहित अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभव करते जाइए। मैं आत्मा केवलमात्र हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ, अपनी दया की बात कही जा रही है, सब दु:ख और संकटों से दूर हो जाने की बात कही जा रही है। तेरे परमकल्याण की बात है। इन मोहीजनों से आप कुछ लाभ न पा लोगे। मोहियों को प्रसन्न करने के लिए, जनता से अपने को बड़ा कहलवाने के लिए ही धनसंचय की होड़ मत करो। इस प्रकरण से तो अंत में बड़ी मुँह की खानी पड़ेगी। आपको ही कष्ट का अनुभवन करना पड़ेगा। इन असार, भिन्न, अचेतन पुद्गलों के खातिर इस अनन्त महिमा-निधान परमार्थ पदार्थ को लगा दिया, इसका दुरुपयोग किया, यह कितने बड़े विषाद की बात है?

धर्मपालन—देखो भैया ! अब यह कहा जाय कि धर्म करो, तब क्या करना है? तू अपने आपको ज्ञानप्रकाशमात्र अनुभव कर। केवल ज्ञाताद्रष्टा रह। यह आत्मा स्वयं धर्म है। यह आत्मा साक्षात् धर्मस्वरूप है, शुद्ध ज्ञानस्वरूपात्मक है। जिसे इस प्रतिभासस्वरूप आत्मतत्त्व का दर्शन होता है उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। ये सम्यग्दृष्टि जीव इन इन्द्रियविषयों को नष्ट करने में स्वभावत: ही समर्थ हैं, किन्तु जब भ्रम करके विपरीत वृत्ति से रहा तो ये सब उपद्रव इसके सिर पर मँडराने लगते हैं। यह आत्मा अपने आपमें अपने आपके द्वारा गुप्त ही गुप्त अपने में आनन्द का अनुभव कर पाता है। इसे कहीं कुछ दिखाना नहीं है। बनावट, सजावट, दिखावट से आत्मा को कुछ मिलता नहीं है। तुम अपने आपमें अन्दर ही अन्दर ज्ञान का घूँट उतारते जावो और विशुद्ध ज्ञाता रहकर समस्त क्लेशजालों को दूर कर लो। यह सब कल्याण की बात अपने आपमें अपने आपके द्वारा अत्यन्त सुगम है। इस दुर्लभ संसार का समुचित लाभ उठा लो अन्यथा इस अपने ज्ञान सामर्थ्य का दुरुपयोग करने से फिर उन्हीं भवों में रुलना-फिरना बना रहेगा, जो भव बहुत असमर्थ विलासरूप हैं, एकेन्द्रिय आदि के भव। अब नीचे से उठ-उठकर आज इतनी उच्च अवस्था में आये हैं तो अब गिरने का काम तो न करें। ऐसा ही पुरुषार्थ बना, ऐसे ही निर्मलता कर कि तू उठे। गिरने वाली बात के करने से तुझे

लाभ कुछ न मिलेगा। इस स्वपरप्रकाशक ज्ञानानन्दस्वरूप अपने आत्मा का विश्वास कर और उसही में अपने आपके उपयोग को रमा।

गाथा 164

णाणं परप्पयासं ववहारणयेण दंसणं तम्हा।

अप्पा परप्पयासो ववहारणयेण दंसणं तम्हा।।164।।

व्यवहारनय से परप्रकाशकता का समर्थन—इस प्रकरण में अब तक यह सिद्ध किया गया है कि ज्ञान स्वपरप्रकाशक है, दर्शन स्वपरप्रकाशक है और आत्मा स्वपरप्रकाशक है और इस स्वपरप्रकाशकता के बारे में यह भी प्रसिद्ध कर दिया गया कि व्यवहारनय से तो इन तीनों में परप्रकाशकता है और निश्चयनय से इन तीनों में स्वप्रकाशकता है। आत्मा धर्म है, ज्ञान और दर्शन धर्म है। ये तीनों कोई स्वतंत्र सत् नहीं हैं, किन्तु प्रतिपादन के सम्बन्ध में भेद किये जाने पर इस बात की विशेषता बतायी गयी है। व्यवहारनय से जो कहा गया है उसके समर्थनरूप में व्यवहारनय की सफलता का उद्योत इस गाथा में करते हैं। व्यवहारनय से ज्ञान परप्रकाशक है और इसी कारण दर्शन भी व्यवहारनय से परप्रकाशक है और आत्मा भी व्यवहारनय से परप्रकाशक है।

व्यवहारनय से निश्चयनय का दिग्दर्शन—व्यवहारनय उसे कहते हैं जिससे पराश्रित प्रतिपादन या बोध किया जाय और निश्चयनय उसे कहते हैं जिससे स्वाश्रित प्रतिपादन और बोध किया जाय। जिस पदार्थ का वर्णन करना है उस पदार्थ का ही उस पदार्थ में सब कुछ दिखाया जाय, इसको तो कहते हैं निश्चयनय और दूसरे किसी पदार्थ का नाम लेकर फिर कुछ बताया जाय, यह है व्यवहारनय। आत्मा अपने रागपरिणमन से रागी होता है, अपनी योग्यता से अपने ही गुणों के विकाररूप से परिणत होकर रागी होता है यह बात भी सत्य है और ऐसा कहना यह निश्चयनय का कथन है। आत्मा अपने आप अपने ही सत्त्व के कारण रागी नहीं होता है, किन्तु कर्मों के उदय का निमित्त पाकर ही रागी होता है। यह राग कर्मों के उदय से होता है यह बात भी सत्य है और इस पराश्रित प्रतिपादन का नाम है व्यवहारनय।

परमार्थपरिचय से व्यवहारनय की कार्यकारिता—व्यवहारनय में परमार्थमर्म की दृष्टि न हो तो वह व्यवहाराभास कहलाने लगता है व्यवहारनय नहीं रहता है। जिस कर्म के उदय से राग हुआ है ऐसा वर्णन सुनकर यदि यह ही दृष्टि बना ली जाय कि कर्मों के उदय से राग की किरण निकलती है, कर्मों से राग पैदा होता है, कर्मों का परिणमन है, वह व्यवहाराभास हो गया। वह असत्य कथन हो गया। व्यवहार के प्रतिपादन में किस ओर दृष्टि दिलायी गयी है? उसका परिग्रहण होना चाहिए। अपने कल्याण के लिए निश्चय का प्रतिपादन भी कार्यकारी है और व्यवहारनय का प्रतिपादन भी कार्यकारी है।

नयों के एकान्त से अलाभ—यथार्थ स्वरूप से अपरिचित होकर निश्चय को एकान्त बनाने पर भी काम बिगड़ता है। जैसे आत्मा अपने ही गुणों से रागी होता है उसको सर्वथा एकान्त मान लिया जाय कि आत्मा से ही राग चला करते हैं तो यह स्वभाव बन बैठेगा। व्यवहार की अपेक्षा छोड़कर निरपेक्ष, परिपूर्ण सर्वथा मान लिया जाय तो यह राग करना जीव का स्वभाव हो जायेगा और यह फिर कभी मिट न सकेगा। यदि जीव में ऐसा स्वभाव मानते हो कि कभी राग होता है तो उसमें भी यह अटपट बात बन जायेगी कि कभी मिट गया तो फिर हो जायेगा, क्योंकि वह राग जीव के स्वभाव से ही उत्पन्न हुआ करता है। आज नहीं है राग, फिर कभी हो बैठेगा। तब निश्चय को ऐसा ही एकान्त मान लेने पर, अपने व्यवहारनय की अपेक्षा छोड़ देने पर यहाँ भी हित का मार्ग रुद्ध हो गया? कोई व्यवहार को ही एकान्त मान ले, अजी, कर्मों के उदय से ही राग

होता है, जीव क्या करेगा? तो कर्मों के उदय से होता है तो साहब अब कर्मों का उदय ही प्रभु कहलायेगा। उसकी मर्जी होगी तो राग बनेगा, उसकी मर्जी न हो तो राग न मिटेगा। राग के होने न होने की स्वतंत्रता कर्मों की है तो फिर जो करे सो भोगे। कर्मों ने ही राग किया है तो हमारी बला से। कर्म राग करते हैं तो कर्म भोगेंगे, मेरा क्या बिगड़ता है उसमें? यों इस एकान्त में भी हित न मिल पायेगा।

प्रज्ञ पुरुष की तत्त्वनिपुणता—जैसे कोई बालक खेल में अत्यन्त निपुण हो तो उसके लिए वह खेल खेलना आसान है। चलकर, बैठकर, मुड़कर उस खेल को वह खेला करता है। इसही प्रकार वस्तुस्वरूप के यथार्थ परिचय की कला में निपुण ज्ञानी पुरुष प्रत्येक दृष्टि से अपनी कला देखता रहता है। वह व्यवहारनय के प्रतिपादन से भी हित निकालता है और निश्चयनय के प्रतिपादन से भी हित निकालता है। अहित तो दुराशय है, नयों के प्रयोग से अहित नहीं है।

सदाशय में व्यवहारनय से भी लाभ की प्रस्तावना—भैया ! कहो व्यवहारनय का प्रतिपादन इसकी शुद्ध दृष्टि का बहुत अधिक भी साधक बन जाय। जैसे कि समयसार में जीवजीवाधिकार है, वहाँ यह बताया गया है कि जीव में राग नहीं, द्वेष नहीं, कर्म नहीं, देह नहीं, ये सब परभाव हैं, पुद्गलद्रव्य से उत्पन्न हुए हैं और इस ही प्रसंग में, इस ही संदर्भ में यह कह दिया कि शुद्ध निश्चयनय से ये रागादिक पौद्गलिक हैं, पर यथार्थज्ञान का, मर्म का परिचयी पुरुष कहीं भी भ्रम में नहीं पड सकता है और इस दिशा में जहाँ यह बताया है कि शुद्ध निश्चय से रागभाव पौद्गलिक है, वहाँ प्रयोजन यह है कि वह द्रष्टा पुरुष अपने आपको शुद्ध चैतन्यमात्र समझ लेवे। इस निश्चयनय का नाम है विवक्षित एक देश शुद्ध निश्चयनय।

सदाशय में व्यवहारनय और निश्चयनय की एक मंजिल—विवक्षित एकदेश शुद्धनिश्चयनय में कितनी उत्तम अन्तरंग की तैयारी है कि ये रागादिक भाव हैं, ये जीव के स्वरूप नहीं हैं। जीव तो शुद्ध चैतन्यस्वरूपमात्र है और फिर ये रागादिक, ये हो कैसे गये? ये रागादिक क्या जीव के निजभाव नहीं हैं, हाँ, स्वभाव नहीं हैं, सहजभाव नहीं हैं? हाँ हाँ नहीं हैं। तो क्या परभाव हैं? इसका मतलब रागादिक परभाव है, इसका मतलब यह है कि यह परपदार्थों के साथ अन्वयव्यतिरेक इन रागादिक भावों का पुण्यकर्मोदय के साथ है। इससे पुद्गल कर्मों के उदय के निमित्त से उत्पन्न हुए भाव हैं, ये परभाव हैं। तब फिर ये रागादिक किसके क्या हो गए, किसके बन गए? हम इन रागादिकों को किसके निकट पहुंचाएँ, इन रागादिकों की रक्षा का भार किसके जिम्मे, सौंपोगे? पुद्गल के जिम्मे, क्योंकि मैं शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ, मैं अपने आपको शुद्ध चैतन्यस्वरूप ही निरखना चाहता हूँ, ऐसे शुद्धस्वरूप की दृष्टि का आश्रय होने पर इन रागादिक भावों को जो कि आत्मा के ही निजभाव हैं, औदयिक परिणमन हैं फिर भी इसे पौद्गलिक बता देना इसकी प्रशंसा की गई है। भूल कहाँ है? नय सब पथप्रदर्शक होते हैं। नय का अर्थ यह भी है जो इस जीव को हित की ओर ले जाय वह नय है। नय का अर्थ यह भी है कि जो इस जीव को यथार्थ परिज्ञान की ओर ले जाय, प्रमाणपरिगृहीत अर्थ के एकदेश के ज्ञान में ले जाय उसका नाम नय है। यह नय जब निरपेक्ष होता है तब मिथ्या होता है और जब सापेक्ष होता है तब ये सम्यक् कहलाता है।

व्यवहारनय से परप्रकाशकता के प्रतिपादन में अन्तरंग आशय—इस प्रसंग में व्यवहार की सफलता का प्रतिपादन किया गया है। समस्त जो कर्म ज्ञानावरणादिक होते हैं उनके क्षय से उत्पन्न होने वाला जो निर्मल केवलज्ञान है वह मूर्त, अमूर्त, चेतन, अचेतन समस्त परपदार्थों के गुण और पर्यायों के समूह का प्रकाशक है, ज्ञान सबको जानता है। यह बात व्यवहारनय से समझनी है। कहीं उसका कोई यह अर्थ न लगा ले कि यह ज्ञान परपदार्थों में प्रवेश कर-करके उन परपदार्थों को आधार बना-बनाकर जानता है। ऐसा कोई न समझ ले, इसके लिए यह व्यवहारनय का कथानक है, यह बात समझायी गयी है। ज्ञान शक्ति है और शक्ति शक्तिमान

में रहती है। शक्ति और शक्तिमान का कोई भेद नहीं है। यह ज्ञान अपने आत्मप्रदेश में रहते हुए ही यहाँ ही जाननरूप व्यवस्था से समस्त पदार्थों का परिज्ञान कर रहा है। किसी भी परपदार्थ में यह जाता नहीं है।

अपना ज्ञान और दर्शन—भैया ! अपन आँखों से किन्हीं चीजों को निरखते हैं, यह एक ज्ञान हुआ, इसे दर्शन नहीं कहा करते। आँखों से देखने का नाम दर्शन नहीं है। इसे भी ज्ञान कहते हैं। समस्त इन्द्रियों से ज्ञान ही होता है, दर्शन नहीं होता है। जैसे स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा कोई ठंडा, गर्म, रूखा, चिकना आदि परिज्ञान हुआ तो उसे दर्शन नहीं कहा, उसे ज्ञान कहा है, ऐसे ही रसनाइन्द्रिय के द्वारा जो खट्टा, मीठा आदि रसों का परिज्ञान हुआ उसे दर्शन नहीं कहते हैं, वह ज्ञान है। ऐसे ही घ्राण इन्द्रिय द्वारा जो गंध का परिज्ञान होता है यह भी दर्शन नहीं है, ज्ञान है। इस ही प्रकार नेत्रेन्द्रिय द्वारा जो हमने रूप का परिचय कर लिया है, यह काला है, पीला है, नीला है, यह भी दर्शन नहीं है, यह भी ज्ञान है और कर्णेन्द्रिय के द्वारा जो कुछ भी हमें शब्दों का परिचय मिलता है वह भी दर्शन नहीं है, ज्ञान है। दर्शन तो इन सब पदार्थों को जानने की शक्ति से सम्पन्न आत्मा को प्रतिभासना सो दर्शन है।

दृष्टान्तपूर्वक प्रतिभास में निश्चय व व्यवहार के अंश का समर्थन—चूँकि हमने ऐसे जाननहार आत्मा को देखा तो हमने फिर सबको देख लिया, यों व्यवहारनय से कहा जायेगा। जैसे हम दर्पण को तो देख रहे हैं और पीठ पीछे खड़े हुए दो चार व्यक्तियों की हरकतें उस दर्पण में प्रतिबिम्बित हो रही हैं, हम दर्पण को देख रहे हैं, इसमें ही यह बात आ गयी कि हम उन तीन चार व्यक्तियों की हरकत को भी देख रहे हैं, पर हम उनकी हरकत को कहाँ देखते हैं? हम तो दर्पण को ही देख रहे हैं। ऐसे ही ज्ञान द्वारा समस्त पदार्थों का परिज्ञान हुआ और ऐसे परिज्ञान करने वाले या परिज्ञान की परिणति रखने वाले आत्मा को हमने एक झलक में देख लिया, इसका अर्थ यह हो गया कि मैंने आत्मा को देख लिया और सबको देख लिया। यों सबको देख लेना, इतना अंश तो है व्यवहारनय का और अपने को देख लेना, यह अंश है निश्चयनय का। ऐसे ही हमने ज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को जाना, किन्तु सब पदार्थों में तन्मय होकर नहीं जाना। मैं यह ज्ञान अपने ही आत्मा में ठहरकर इन सब पदार्थों को जानता रहता हूँ, तो हुआ क्या कि ज्ञान में जो जाननरूप, ज्ञेयाकाररूप किया उसको हमने जाना, यह है निश्चयनय से और सब पदार्थों को जान लिया, यह है व्यवहारनय से।

निश्चयव्यवहारविधान का प्रतिबोध—नयप्रतिबोध के लिये एक लौकिक दृष्टान्त लीजिये। आपके 101 डिग्री बुखार चढ़ा है तो आप उस बुखार को जान रहे हैं, एक तो यह जानना है और दूसरे को 101 डिग्री बुखार हो तो उसके थर्मामीटर लगाकर देख लिया कि 101 डिग्री बुखार चढ़ा है। तो इन दोनों जाननों में क्या अन्तर है? अपने बुखार को जानना, लौकिक दृष्टान्त में तन्मय होकर अनुभवने रूप जाना है और दूसरे के बुखार को जानना तन्मय होकर अनुभवने रूप नहीं जाना है। इसी तरह यह ज्ञान अपने आपके ज्ञेयाकारों को जानता है, वह तन्मय होकर अनुभवने वाली बात है और अन्य समस्त पदार्थों का जो जानना है यह तन्मय होकर अनुभवने वाली बात नहीं है। यही यहाँ व्यवहारनय और निश्चयनय का अन्तर जानना चाहिए। जिस पर व्यवहारनय से यह ज्ञान परप्रकाशक है इस ही प्रकार यह दर्शन भी परप्रकाशक है और इसही तरह कार्यपरमात्मा अरहंतदेव जो बड़े-बड़े इन्द्र, देवेन्द्रों के द्वारा भी प्रत्यक्ष वंदना के योग्य हैं ऐसे तीर्थंकर परमदेव के आत्मा का भी परप्रकाशत्व जानना चाहिए, अर्थात् वह आत्मा भी व्यवहारनय से परप्रकाशक है।

परमदेव की महिमा—ये तीर्थंकर परमदेव तीन लोक के प्रक्षोभ के हेतुभूत हैं। प्रक्षोभ मायने खलबली। खलबली हर्ष में भी होती है और विषाद में भी होती है। जब तीर्थंकर देव जन्मते हैं तो तीनों लोक में खलबली मच जाती है। भवनवासी, वैमानिक, व्यंतर और ज्योतिषी आदि देवों के निवास में स्वयं ही शंखध्वनि, घंटाध्वनि, आसन का हिलना–ये सब खलबली मच जाती है। निमित्तनैमित्तिक योग की परख

करना, कितना विचित्र सम्बन्ध है? तीर्थंकर देव के पुण्य कर्मों का उदय भी आत्मा से निकलकर उन शंख और घंटों में ठोकर नहीं मारता है और उन कर्मों में ठोकर मारने की योग्यता भी नहीं है और फिर भी इतनी विचित्र घटनायें हुआ करती हैं, यह सब बिल्कुल भिन्न-भिन्न स्थानों पर होकर हो रहा है, यह एक विचित्र बात है। ऐसे तीन लोक के प्रक्षोभ का कारणभूत तीर्थंकर परमदेव का आत्मा भी व्यवहारनय से परप्रकाशक है, यह आत्मा भगवान, ज्ञान व दर्शन भी व्यवहार से परप्रकाशक है, इसी प्रकार व्यवहारनय से परप्रकाशकता और निश्चयनय से स्वपरप्रकाशकता दृष्ट की है।

प्रभु और छद्मस्थ के ज्ञानदर्शन की वृत्ति का परिचय—भगवान कार्यपरमात्मा के केवलज्ञान और केवलदर्शन एक साथ होते हैं। इस कारण यह बात तो स्पष्ट घटित होती है कि केवलज्ञान से जो जान रहे हैं ऐसा जानते हुए आत्मा को जो दर्शन से प्रतिभास कर रहे हैं उनका दर्शन भी व्यवहारनय से परप्रकाशक है। किन्तु यहाँ छद्मस्थ अवस्था में चूँकि ज्ञान दर्शनपूर्वक होता है, अत: जिस ज्ञान के लिए तैयारी कर रहा है यह आत्मा, एक ज्ञान छोड़ करके नवीन जानन की तैयारी के काल में, इस ज्ञानयोग्यता सम्पन्न आत्मा को प्रतिभास रहा है। और साथ ही यह जानो कि छद्मस्थ अवस्था में भी ज्ञान का परिणमन और दर्शन का परिणमन एक साथ होता है। केवल उपयोग क्रम पूर्वक है। कोई भी गुण ऐसा नहीं है जो गुण अपने परिणमन को एक क्षण भी बंद कर सके। चूँकि आत्मा में जैसे ज्ञान शाश्वत गुण माना है यों ही दर्शन भी शाश्वत गुण माना है और इन दोनों गुणों का परिणमन प्रतिक्षण निरन्तर होता रहता है, पर उपयोग, जिसे यूज कहते हैं इंग्लिश में, छद्मस्थ अवस्था में क्रमपूर्वक होता है और इस दर्शनोपयोग की स्थिति में यह आत्मा नवीन ज्ञान की तैयारी के सम्मुख होते हुए की स्थिति में ज्ञान की जिस वृत्तिरूप परिणम रहा है, उस आत्मा को प्रतिभासने का काम कर रहा है। इस तरह यह आत्मा, ज्ञान, और दर्शन ये व्यवहारनय से परप्रकाशक कहे गये हैं।

ज्ञानपुञ्ज का जयवाद—यह कार्यपरमात्मा भगवान जिसने दोषों को जीता है, जिसके चरण देवेन्द्र और नरेन्द्रों के मुकुटों से प्रकाशमान होते हैं, जो लोकालोक के समस्त पदार्थों को एक साथ जानते हैं, ये समस्त पदार्थ स्वतंत्र हैं, किसी का सत्त्व किसी दूसरे पदार्थ में प्राप्त नहीं होता है, ऐसी भिन्न-भिन्न स्वतंत्र–स्वतंत्र चीजें हैं, वे जैसी हैं तैसे उन्हें प्रभु एक साथ जानते हैं। वह जिनेन्द्र जयवंत हो। किसी भी महापुरुष के जयवाद में अपना जयवाद विदित होता है और लोकव्यवहार में भी किसी-किसी की यह पद्धति होती है। भिखारी लोग भी सेठ लोगों के यहाँ भोजन पा जाने पर आशीर्वाद देकर जाते हैं, तुम खूब फलो फूलो। वह अपने फले फूले बनने के परिणाम के हर्ष की ज्ञप्ति है। ऐसे ही भगवान के गुणों का स्मरण करते हुए की स्थिति में जो हमारे गुणविकास की ज्ञप्ति हो रही है उसके हर्ष में हम समा नहीं पाते हैं और प्रभु का मुख से जयवाद बोलते हैं। उसमें अपने ही जय की बात निहित है और दूसरी बात यह है कि जयवाद में श्रद्धा का प्रकाशन है, हम भगवान के उपकार से कितना उपकृत हुए हैं, उसका बदला देने की सामर्थ्य हममें कहाँ है? ये ही वंदन, नमस्कार और जयवाद के शब्द ही आभारप्रदर्शन के लिए समर्थ हो पाते हैं। वह प्रभु जयवंत हो।

गाथा 165

णाणं अप्पपयासं णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा।

अप्पा अप्पपयासो णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा।।165।।

निश्चयनय से स्वप्रकाशकता का समर्थन—इस गाथा में निश्चयनय से आत्मा में, ज्ञान में व दर्शन में स्वप्रकाशकता के स्वरूप का समर्थन किया है। निश्चयनय से ज्ञान स्वपरप्रकाशक है और इस ही प्रकार दर्शन भी स्वपरप्रकाशक है और निश्चयनय से आत्मा स्वपरप्रकाशक है। यों ज्ञान, दर्शन और आत्मा ये सब निश्चयनय से अपना ही प्रकाश करते हैं। शुद्ध ज्ञान का लक्षण स्वप्रकाशकपना है। ज्ञान में ज्ञान के कारण ज्ञेयाकार परिणमन होने पर भी ज्ञान ने उस निज ज्ञेयाकार को ही प्रकाशित किया है पर ज्ञेयाकार को ज्ञान ने नहीं प्रकाशित किया है। इस ही प्रकार सर्व आवरणों से मुक्त शुद्ध दर्शन में भी स्व का प्रकाश हुआ है, पर प्रकाश नहीं किया गया है निश्चयनय से।

ज्ञान व दर्शन में प्रधान प्रकाश—यहाँ अपने आपके समझने के लिए अपने चर्चा-क्षेत्र के अन्दर ही यह बात जानें, यहाँ ज्ञान की परप्रकाशकता जल्दी समझ में आ जाती है और दर्शन के व्यवहारनय की परप्रकाशकता विलम्ब से समझ में आती है और दर्शन की स्वप्रकाशकता शीघ्र समझ में आती है और ज्ञान की स्वप्रकाशकता विलम्ब से समझ में आती है। कारण यह है कि ज्ञान होता है बहिर्मुख चित्प्रकाश और दर्शन होता है अन्तर्मुख चित्प्रकाश। ज्ञान का अर्थ जानन है, यह तो बात सुविदित है। दर्शन का काम सामान्यप्रतिभास है, यह लोगों को कुछ कम विदित रहता है। हम जो कुछ समझ पाते हैं, जिस समझ में यह ग्रहण हुआ है कि यह है कुछ, वह तो है ज्ञान, उससे भी पहिले जो सामान्यप्रतिभास है जिसके बारे में हम कुछ भी निर्देश नहीं कर सकते हैं वह है दर्शन।

ज्ञान के मूलनिकट में दर्शन—हमने आँखों देखा और यह जाना कि यह बहुत बढ़िया हरा रंग है, यह क्या हुआ? ज्ञान या दर्शन? ज्ञान। हमने इतना ही जाना कि यह हरा रंग है यह भी ज्ञान हुआ और हरे रंग को जाना, पर हरा है यों कुछ समझा ही नहीं है रूप के बारे में, सो कुछ यहाँ न सोच सके कि यह हरा है किन्तु, उसे ग्रहण में ले लिया कि यह है, यह भी हुआ ज्ञान। अब इससे और भीतर में नीचे में जो प्रतिभास है वह है दर्शन। दर्शन को नाम लेकर नहीं बता सकते कि दर्शन में क्या जाना? दर्शन सामान्यप्रतिभासस्वरूप है। नाम लेकर तो सामान्य कहलायेगा या विशेष? जहाँ नाम लिया वही विशेष बन जाता है, सामान्य निर्नाम होता है। उसकी संज्ञा हम नहीं रख सकते हैं।

लौकिक और आध्यात्मिक सामान्य-विशेष—लोकरूढ़ि से सामान्य तो हमारे लिए व्यवहार के हैं। ये वास्तविक सामान्य नहीं हैं, विशेष हैं। जैसे सब लोग बैठे हैं और कह दिया जैन समाज, तो लोग तो कहते हैं कि सामान्य बात कह रहे हैं, किसी व्यक्ति का नाम तो नहीं लिया। तो व्यक्ति के मुकाबले में जैनसमाज कहना सामान्य है, पर जनसमाज इस शब्द के मुकाबले में जैनसमाज विशेष हो गया। और कह दिया कि जीव समाज, जिसमें सभी जीव आ जायें तो जीवसमाज के सामने समस्त जनसमाज भी विशेष हो गया। और कहा पदार्थसमूह, इसके सामने यह जीवसमाज भी विशेष हो गया। जहाँ तक भी हमारे ग्रहण में आकार है, सकल है तहाँ तक है विशेष। सामान्य तो निर्विशेष होता है। देखो, दुनिया में आदर विशेष का हुआ करता है, सामान्य का नहीं, किन्तु कल्याण मार्ग में, शान्तिमार्ग में, अध्यात्मक्षेत्र में सामान्य की कदर है, विशेष की नहीं। विशेष को पकड़कर रहने में शान्ति नहीं, आनन्द नहीं, मोक्षमार्ग नहीं। जितना सामान्य की ओर लगाव है उतने ही हम उन्नति में हैं।

आत्मपरिचय के लिये आत्मविश्राम की आवश्यकता—यह ज्ञान निश्चयनय से स्व का ही प्रकाश कर रहा है और यह दर्शन भी स्व का ही प्रकाश कर रहा है। यह आत्मा भी चूँकि निश्चय से समस्त इन्द्रिय के व्यापार से रहित है, भीतर गुनगुनाहट, विकल्परूप भाव-व्यापारों से भी रहित है इस कारण अपने प्रकाश के लक्षण से ही लक्षित होता है। मैं आत्मा क्या हूँ, इसकी जानकारी आँखें फाड़कर देखने से नहीं हो सकती है। जरा अमुक पुरुष के आत्मा का निरीक्षण तो करो, आँखें फाड़कर आत्मा का निरीक्षण न हो जायेगा। किसी भी

इन्द्रिय से हम व्यापार करके हम आत्मा को नहीं पहिचान सकते हैं। यह इन्द्रियव्यापार, यह इन्द्रियज्ञान, यह इन्द्रियसुख, ये सब तो मुझे बहकाने के प्रलोभन हैं। हे आत्मन् ! तू इस प्रलोभन में न बहका रह, नहीं तो तू अपनी निधि का अधिकारी नहीं बन सकता।

ज्ञानी की स्वनिधिरुचि पर एक दृष्टान्त—किसी सेठ के एक नाबालिग बच्चा हो और वह सेठ गुजर जाय तो सरकार उसकी जायदाद को अपने कोर्ट में ले लेती है और उसकी एवज में मानो 500 रु. मासिक खर्च को दे देती है। वह बालक 15, 16 वर्ष का हो जाय, उसे हर महीने 500 रु. मिल जाते हैं तो वह उसमें मग्न रहता है, सरकार के गुण गाता है, देखो सरकार घर बैठे हमें 500 रुपये माहवार भेजती है। अभी उसे यह पता नहीं है कि 20 लाख की जायदाद कोर्ट आफ बोर्ड अधीन के है। जब 18 वर्ष का हो गया तब उसे ज्ञान हुआ कि मेरी 20 लाख की निधि तो सरकार के अधीन है, अब वह 500) रुपये महीना लेना स्वीकार नहीं करता। सरकार को नोटिस दे देता है कि मैं अब बालिग हो गया हूँ, मुझे 500) रुपये माहवार न चाहिए। मेरी 20 लाख की जायदाद मुझे दी जाय। उसकी निधि उसे मिल जाती है।

ज्ञानी की स्वनिधिरुचि—यों ही ये संसारी आत्माएँ नाबालिग हैं। अनादिकाल से नाबालिग चले आये अभी भी बालिग नहीं हुए। इनका बालिग होना समय पर निर्भर नहीं है कि कितना समय बीत जाय तो हम आप बालिग बन जायें। हम आपका बालिग बनना सम्यक्त्व पर निर्भर है। जिस दिन सम्यक्त्व हो जाय, समझो कि हम बालिग हो गए हैं। इन नाबालिग संसारी प्राणियों की निधि तो मानो पुण्य-सरकार ने हर ली है और इस अनन्तज्ञान, अनन्त आनन्द की निधि को हर करके इन इन्द्रियजन्य ज्ञान और सुख में रम रहे हैं। जब वस्तुस्वरूप का सच्चा ज्ञान हो जाता है तो वह विवेकी इस पुण्य—सरकार को नोटिस दे देता है कि मुझे न चाहिए ये इन्द्रियजन्य सुख और इन्द्रियजन्य ज्ञान। यह इन्द्रियजन्य सुखों को भोगने को भी मना कर देता है और इन्द्रियजन्य ज्ञान के व्यापार को भी मना कर देता है। जब इसे अपने आपका बल मिलता है वहाँ पुण्य-सरकार विलीन हो जाती है। इसे आत्मीय आनन्द की निधि मिल जाती है।

आत्मा की स्वरूपप्रत्यक्षता—निश्चय से देखिये, दर्शन भी बाह्य पदार्थों से विमुख है, इस कारण वह भी स्व का ही प्रकाशक है। यों स्वरूप-प्रत्यक्षलक्षण से यह आत्मा निरखा जाता है। परिणमन-प्रत्यक्ष और स्वरूप-प्रत्यक्ष, दो तरह प्रत्यक्षपना परखें। परिणमन-प्रत्यक्ष तो अवधिज्ञान, मन:पर्यायज्ञान और केवलज्ञान में होता है, किन्तु स्वरूपप्रत्यक्ष सम्यग्दृष्टि के हो जाता है। जैसे लोग कहते हैं 'जल में मीन पियासी, मोहि सुन-सुन आवे हाँसी।' यों ही यह देखिये कि ज्ञानस्वरूप ही तो यह मैं हूँ, फिर भी अपने ज्ञान को नहीं जान पाता, यह हँसी की ही तो बात है। खेद की बात है यह खुद की ही बात है, अन्य की नहीं। मैं अखण्ड हूँ और सहज ज्ञान-दर्शन-स्वरूप हूँ। सब कुछ जानता हुआ भी अथवा कुछ भी जानता हुआ भी अपने स्वरूप में अपने मूल में समस्त द्रव्यगुणपर्यायों के विकल्प से पृथक् हूँ। यह अपने सहज स्वरूप की चर्चा चल रही है। मैं तो जो हूँ सो हूँ।

शुद्ध आत्मत्व का स्वरूप—समयसार में जहाँ शुद्ध आत्मा का लक्षण पूछा गया है, वहाँ यह उत्तर हुआ है कि यह आत्मा न तो कषायसहित है और न कषायरहित है, किन्तु एक ज्ञायकस्वरूप है। उसमें भी अमुक का जानने वाला है, इस ढंग से न निरखना, किन्तु शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र है यों देखना। यह नाथ तो जो है सो ही है। इसे किसी भी विशेषण के नाम से नहीं बता सकते हैं। आत्मा कषायसहित नहीं है, कुछ धर्मध्यान बनाने पर यह बात समझ में आती है कि जीव में कषाय का स्वभाव नहीं है, कर्मोदय का निमित्त पाकर ही कषाय हुआ है सो जीव कषायसहित नहीं है। जीव कषायरहित भी नहीं है यह बात मुश्किल से समझ में आती है। आत्मा कषायरहित भी नहीं है तो फिर तीसरी बात क्या? तीसरी बात जो है सो है। न जीव कषायसहित है और न कषायरहित है, फिर जो है सो है।

निरपेक्ष स्वरूप की दृष्टि का एक दृष्टान्त—अभी यहाँ कुछ विकल्प उठा सकते हैं कि ये तो बातें ही हो रही है, जैसा चाहे मोड दो, जैसा चाहे बोल दो। अच्छा हमें आप यही बतावो कि यह चौकी पुस्तकसहित है या पुस्तकरहित है, इसका क्या स्वरूप है? इस चौकी का पुस्तकसहित होना तो स्वरूप नहीं है, यह तो आप मान जायेंगे क्योंकि पुस्तक सहित स्वरूप यदि होता तो सदा पुस्तक सहित ही रहना चाहिए। पुस्तक इस चौकी पर रखी हुई हो, फिर भी इस चौकी का स्वरूप पुस्तक सहित होना नहीं है। तो क्या चौकी का स्वरूप पुस्तकरहित है? चौकी का स्वरूप पुस्तकरहित भी नहीं है। तो क्या है? जितनी लम्बी चौडी है, जैसा काठ है, जिस रंग का है उसका वर्णन करके बता दिया जाय कि ऐसी चौकी है, पर वस्तु का नाम लेकर चाहे सहितपना को बतावो, यह अन्यवस्तु का स्वरूप नहीं है।

परभावरहितपने का जल्प भी अपमान—भैया ! कभी-कभी तो रहितपने की बात भी बुरी लगने लगती है। जैसे कहा जाय कि तुम्हारे बाप तो जेल से रहित हो गये, तो बात तो ठीक कही जा रही है जेल में नहीं हैं, पर यह भी बुरा लग रहा है कि नहीं? क्यों बुरा लग रहा है कि इसमें यह भाव आ गया है कि यह जेल में थे, अब जेल से रहित हो गये हैं, तो उसने तो गाली दे दी है कि ये जेल में थे, अब जेल से रहित हो गये हैं। ऐसे ही जीव के स्वरूप में हम यह सोचें कि जीव कषायरहित है तो इसका अर्थ यह है कि कषाय की बात पहिले सोची है। जीव में कषाय का स्वरूप कब था, जो अब यह कह रहे हो कि जीव कषायरहित है।

परभावनिषेध में भी विकल्प—किसी से कहा जाय कि भाई तुम 9 बजे रात को अमुक जगह जावो, जरूरी काम है और देखो यहाँ से ये इतनी दूर जाने के बाद एक वट का पेड़ मिलता है, उसमें लोग व्यर्थ गप्प उड़ाते हैं कि यहाँ तीन चार भूत रहते हैं, सो भूत तो बिल्कुल नहीं है, तुम डरना मत। वहाँ भूत नहीं हैं, यही तो कहा, किन्तु यह सुनकर जाने वाला व्यक्ति वट के पास पहूँचकर डरने लगेगा। क्यों डरते हो, यही तो समझाया था के भूत नहीं हैं, यह पीछे बोला जायेगा, पहिले तो भूत बोल रहे हो, फिर कहते हो कि भूत नहीं हैं। तो पहिले भूत का विकल्प करके दिल तो घबरा गया। अच्छा तो यह था कि वह कुछ भी न कहता। कह देता कि चले जावो अमुक जगह, तो वह उस वट के नीचे से भी निकल जाता, पर घबराहट नहीं होती। आत्मा को कषायरहित करने में प्रथम तो आत्मा के निजस्वरूप का उपयोग छोड़कर कषायों को देखता गया और आत्मा कषायों से रहित है, यह यों निरखे तो यह भी विकल्प है।

स्वरूपमनन—यह जीव विकल्पों से परे रहने के स्वभाव वाला है। इसका स्वरूप—संचेतन ही लक्षण है, ऐसे निज प्रकाश द्वारा पूर्णरूप से अन्तर्मुख होने के कारण यह आत्मा अखण्ड, अद्वैत, चैतन्यचमत्कारमात्र है, यों निश्चयनय से आत्मा के स्वरूप का आख्यान किया गया है कि आत्मा और ज्ञान-दर्शन भी स्वप्रकाशक हैं। निश्चय से आत्मा स्वप्रकाशक है, ज्ञान भी स्वप्रकाशक है और दर्शन भी स्वप्रकाशक है। एकाकार अपने रस के विस्तार से भरपूर पवित्र अनादि अनन्त यह आत्मा अपने निर्विकल्प महिमा में ही सदा वास करता है। जो पुरुष आत्मस्वरूप के उपयोग में मग्न हो जाता है उसे शुद्ध आनन्द का अनुभव हो जाता है, और समस्त विकल्पों के संकट भी समाप्त हो जाते हैं। यह बात इस देह-देवालय में विराजमान निजआत्मा भगवान की कही जा रही है, इससे नेह लगाये बिना, इसकी भक्ति-उपासना किए बिना भी बाह्य में प्रयत्नव्यापार कर डालें तो भी शांति और संतोष न होगा। इस कारण हम आपका यह कर्तव्य है कि इस आत्मतत्त्व के ज्ञान, मनन, चिन्तन अनुभवन में प्रयत्नशील रहें।

ज्ञानस्वभाववृत्तिरूप स्वविश्राम का अनुरोध—विषयों की आकुलता तब नहीं रहती है जब अपने आपमें एक परमविश्राम होता है। उस विश्राम के समय जिस ज्ञानमात्र निज आत्मतत्त्व का अनुभव होता है उस आत्मा की चर्चा चल रही है। यह आत्मा स्वरसत: अपने का और पर का प्रकाशक है। इस आत्मा का विशद बोध करने के लिए हमें अपनी क्या तैयारी करनी है, वह तैयारी है मात्र दृष्टि की। यह जीव केवल दृष्टि और

भावना ही किया करता है। उस भावना में यदि रागद्वेष का सम्बन्ध है तब तो हैरानी होती है और रागद्वेष का सम्बन्ध न होकर केवलज्ञान से सम्बन्ध है तब वहाँ अलौकिक आनन्द जगता है, किन्तु यह आत्मा कहीं भी सिवाय भावना के और कुछ नहीं कर सकता है। गृहस्थी में हो तब, साधु पद में हो तब केवल भावना ही भावना बनाया करता है, यह न धन पैदा कर सकता है, न वैभव इकट्ठा कर सकता है और न किसी को सुखी-दु:खी कर सकता है। यह सब राग द्वेष सहित भावना में मान्यता होती है कि मैं धन कमाता हूँ। अरे, धन तो जड़ पदार्थ है, बाह्य वस्तु है, उसमें तो हमारा प्रवेश भी नहीं है। तुम तो केवल अपने एक ज्ञानस्वरूप में ही रहते हो। तुमने परपदार्थों में क्या किया, सो बतावो। अरे, इस शरीर तक की भी चीजें पर में नहीं गयीं। आत्मा की तो अलग बात है।

सन्तोष का स्वयं आश्रय—यह आत्मा आकाशवत् निर्लेप है। यह अपनी भावना से ही अपनी अथवा जगत की व्यवस्था बनाता है, अर्थात् कल्पना से उस प्रकार का अपना रस अनुभव करता रहता है। इस आत्मा को किस दृष्टि से देखा जाय कि हमें अपने आपका स्पर्श अधिक हो सके? इस उपयोग में परपदार्थ का स्पर्श अनादि काल से किया और उन स्पर्शों में इसे संतोष न हुआ। कोई कह सकता है कि मनुष्य के कितना धन हो जाय तो उसे संतोष हो जायेगा? कोई सीमा बना सकता है क्या? या कोई धनिकों का सम्मेलन हो और उसमें यह निर्णय करना चाहें कि कितना धन होने पर उसे धनी कहा जाना चाहिए? तो कोई प्रस्ताव पास न हो सकेगा। कोई व्याख्या है क्या कि इतना धन हो तो उसे धनी कहा जाय? ये सब आपेक्षिक बातें हैं। लखपति, हजारपतियों की दृष्टि से धनी हैं न कि वे स्वयं धनी हैं। उन्हें करोड़पति नजर आ जायें तो वे अपने को धनी नहीं मानते और दुनिया के लोग भी करोड़पतियों के बीच बैठे हुए लखपति को भी धनी नहीं मानते। कितने का नाम धनी है और कितना धनी होने पर संतोष हो जाता है, इसकी कोई परिभाषा नहीं है। संतोष का साधन बाहर में नहीं है, धन में नहीं है, परिजन में नहीं है, इसके संतोष का साधन तो यह आत्मा ही स्वयं है।

ध्रुव की रुचि में कल्याण—देखो भैया ! अपने आत्मा को। यह मैं आत्मा ध्रुव हूँ, सदा काल रहने वाला हूँ, ये चेतन-अचेतन समागम इनका तो कल तक का भी भरोसा नहीं है, भले ही कल्पना में ऐसा मानते रहें कि मेरा यह कभी न बिछुड़ेगा, किन्तु यह कभी हो नहीं सकता। ये सब अध्रुव हैं, विनाशीक हैं। यह वैभव ही अध्रुव नहीं है किन्तु ये सारे कषाय, संकल्प-विकल्प, सुख-दु:ख सब अध्रुव हैं। आपसे कहा जाय कि यह अमुक चीज ले लो 5 मिनट के लिए, बाद में फिर हम ले लेंगे, तो उसको ग्रहण करने में आपकी कोई खुशी नहीं है, क्योंकि आप जानते हैं कि यह थोड़े समय को है, बाद में तो छुड़ा ही ली जायेगी। आप तो चाहते यह हैं कि मुझे वह चीज मिले जो मेरे पास सदा रह सके। अपनी छोटी सी झौंपड़ी बनाकर उसमें रहने में सुख माना जाता है और कोई बड़ा पुरुष यह कहे कि तुम 6 महीने तक हमारी हवेली में टिक जावो। टिक तो जायेगा पर उसमें वह उस प्रकार का हर्ष न मान सकेगा जैसा कि छोटी झौंपड़ी बनाकर रहने में सुख मानता है। उसके चित्त में यह है कि यह तो मेरी सदा बन कर रहेगी, यहाँ से तो 6 महीने बाद में निकल जाना पड़ेगा। मनुष्य की प्रकृति है कि वह ध्रुव को चाहता है। तू अध्रुव को नहीं चाहता। तो तू भी सयाना बन। ये चेतन और अचेतन समागम अध्रुव ही तो हैं। तू इन अध्रुवों में प्रीति मत कर। तेरा ही स्वरूप तेरे लिए ध्रुव है। तू अपने उस ध्रुव स्वरूप का आदर कर।

धर्म का अनुग्रह—जिसके सत्य ज्ञान जग गया है वह जीता हुआ भी मुक्त-सा है, उसे आकुलता नहीं होती है। अरे, क्या आकुलता करना? विघटता है सारा धन विघट जावो, पर एक अचेतन पदार्थ के विघटने के पीछे इस चैतन्य निज आत्मतत्त्व को दु:खी किया जाय तो यह कहाँ की बुद्धिमानी है? कोई तो दिन ऐसा आयेगा ही कि सब कुछ छोड़ ही देना पड़ेगा। तो जीवन में ही क्यों न अभ्यास किया जाय। जो होता हो सो

हो, मुझे कुछ विकल्प नहीं करना है। विकल्प ही करने की क्या जरूरत है? उदय अच्छा है, अच्छा होगा, उदय बुरा है तो विकल्प करने से भी क्या पूरा पड़ेगा, आखिर इसे पाप के उदय से दु:खी होना ही पड़ेगा। विकल्प न करके धर्ममार्ग पर डटे रहें तो पाप के उदय भी निकल जायेंगे, शान्ति हो जायेगी। प्रत्येक स्थिति में धर्मकार्य करना और पवित्र भावना रखना लाभदायक है चाहे पुण्य का उदय हो, उसमें भी पवित्र भावों से ही लाभ है और चाहे पाप की स्थिति हो वहाँ भी पवित्र भाव में ही लाभ है। ईर्ष्या, दम्भ, कषाय, विशाद आदि अपवित्र भावों से तो उत्तरोत्तर हानि ही हानि बढ़ेगी। लाभ नहीं हो सकता।

निजस्वरूपास्तित्व का अवलोकन—अपने आपके आत्मा को अकेला देखो। मैं सबसे न्यारा केवल निज स्वरूपमात्र हूँ। जरा विश्वाससहित अपने आपके अकेलेपन का अनुभव करो तो सारा बोझ हट जाता है अपने ऊपर से, और समस्त चिन्ताएँ नष्ट हो जाती हैं। मैं समस्त पदार्थों से न्यारा, किन्तु अपने आपके स्वरूप से तन्मय हूँ। मैं जो कुछ करता हूँ अपने भावों को कर पाता हूँ, मेरी कोई भी करतूत मेरे स्वरूप से बाहर इस जीवास्तिकाय से बाहर नहीं है। इस ज्ञानपुंज चैतन्य ने न किसी पर का परिणमन किया, न अभी भी कर रहा है और न कभी कर सकेगा। केवल यह भावना बनाता है।

आत्मा का पर में अकर्तृत्व—देखो इस बोलते हुए और हाथ चलाते हुए की हालत में भी यह मैं आत्मा नहीं हाथ चला रहा हूँ। यहाँ भी केवल एक भावना बना रहा हूँ, परपदार्थों का परस्पर में ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि यह हाथ अनुकूल निमित्त पाकर स्वयं इस प्रकार चलता है और ये जीभ, ओंठ स्वयं ही निमित्त पाकर इस प्रकार चलते हैं जिससे जिसका निमित्त पाकर ये वचन वर्गणाएँ भी वचनरूप बन जाती हैं। यह मैं आत्मा तो केवल अपने भाव करता हूँ। यह पिंड जो आप हम सबका दिख रहा है यह तीन चीजों का पिंड है—जीव, कर्म और शरीर। इन तीन का पिंड बना हुआ है, उसमें से कर्मों का काम तो कर्मों में है, शरीर का काम शरीर में है और जीव का काम भाव करना है, वह जीव में है, पर इन तीन में ही परस्पर ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि दूसरों की हरकतों का निमित्त पाकर दूसरा अपनी हरकत करना लगता है।

निमित्तनैमित्तिक परम्परा में शब्दविलास का विकास—इस जीव ने भाव बनाया है, ऐसा कहूँ, मैं इस प्रकार की बात बताऊँ ऐसी इच्छा बनायी, ज्ञान किया, इच्छा की, यहाँ तक तो आत्मा का काम रहा। अब ज्ञान और इच्छा करके जो एक परिस्थिति बनी उसमें निमित्त पाकर शरीर में रहने वाली वायु में संचरण हुआ। शरीर में वायु जैसे चली उसके अनुसार ये ओंठ और जीभ हिले और इन ओंठ जीभ के हिलने का निमित्त पाकर उस प्रकार के शब्द निकले। ये शब्द निमित्तनैमित्तिक परम्परा से निकले हैं। ये हाथ, पैर इस निमित्तनैमित्तिक परम्परा से चल उठे, पर यह मैं आत्मा तो केवल ज्ञान और इच्छा कर पाता हूँ, भावना बना पाता हूँ, अन्य किसी पदार्थ में परिणमन करने का सामर्थ्य नहीं है, ऐसा अपने आपके अनन्त सामर्थ्य का उपयोग करके जो पुरुष मोह, ममता को मिटा देता है उसे आनन्द प्रकट होता है।

परकर्तृत्व का व्यर्थ विकल्प—अहो, विषय-भोगों का आनन्द तो इस तरह का आनन्द है जैसे लाल तेज मिर्च खाते जा रहे हैं और सी-सी करते जा रहे हैं, आँसू निकलते जा रहे हैं और फिर भी मिर्च की मांग करते जा रहे हैं। कैसी कल्पना बनाई है कि भीतर भी वेदना हो रही है, चरपराहट-सी लग रही है, आँसू तक निकल आये हैं और फिर भी मिर्च की चाह बनी हुई है, ऐसे ही इन बाह्य विषय-भोगों को भोगते हुए क्लेश भी हो रहा है, आकुलता मच रही है, पराधीनता हो रही है, आनन्द रहा ही नहीं है, किन्तु इस स्थिति को भी आनन्द का भ्रम करके व्यर्थ चाह रहे हैं कि भोग मिले, धन मिले, समता मिले। अरे, ये समस्त समागम तेरे से अत्यन्त जुदे हैं, क्यों इनकी तू चाह करता है? ये चाहे जायें तो, न चाहे जायें तो, उदयानुसार इन्हें सामने आना ही पड़ता है। भला बतलावो तो आज श्रीमान् हैं उन ही जैसे हाथ पैर तो अन्य बुद्धिमानों के भी तो हैं,

पर यहाँ लक्ष्मी बिना सोचे ही आती रहती है और वहाँ यत्न करने पर भी न आये तो कैसे कहा जाय कि धन को कमाने वाले श्रीमान् हैं। वह तो आना है सो आती है, पर कोई पुरुष उस लक्ष्मी में आसक्ति करे तो वह पाप है और लक्ष्मी न होते हुए भी जो लक्ष्मी से उपेक्षा रक्खे वह मनुष्य भी पुण्यात्मा है।

स्वरूप की सँभाल में संकट की समाप्ति—अपने स्वरूप को निरखो। मैं केवल अपने परिणामों का ही करने वाला हूँ। करने वाला भी क्या, मुझमें परिणमन होता है, क्योंकि परिणमे बिना कोई वस्तु अपना सत्त्व नहीं रख सकती है। इसलिए अपने आपकी ओर मुड़े तो पर के बिगाड़ने और सुधारने का सब संक्लेश खत्म हो जाता है। जो केवल तेरे ही कारण तेरे में उठकर विकसित हो वह तो है तेरा धन और बाकी समस्त परभाव और परपदार्थ इनका सम्बन्ध मानना यह है तेरा कलंक। अहो ! तेरा आत्मा तो केवल ज्ञान और आनन्दस्वरूपी है। इसमें तृष्णा का कलंक कैसे लग गया है? जिस तृष्णा-कलंक के पीछे यह जीव परेशान बना रहता है। पर्यायबुद्धि छोड़ों और विभक्त एकस्वरूप निज आत्मा की बुद्धि करो। तेरा सुख तुझमें ही है, कहीं गया नहीं है, परचिन्ता ने सुख का घात कर दिया है। इस परचिन्ता को तू मत कर। वे पर भी अपना कर्मोदय लिए हुए हैं, उनका पोषण तेरी चिन्ता के कारण नहीं हो रहा है, सब जीवों का पोषण सुख सुविधा उनके ही उदयानुसार होती है, तू अपने को केवल भाव ही करने वाला समझ।

भेदज्ञान का यत्न—हे आत्मन् ! अपने स्वरूप को तो निरख। मैं अनादि अनन्त शुद्ध एक ज्ञानस्वरूप हूँ अरे ! जो इस शरीर को छोड़कर निकल गया वह है जीव और यहाँ पड़ा रह गया वह हे अजीव। तो ऐसे ही इस जीवित अवस्था में भी समझो की जिसके निकल जाने के कारण यह अजीव ही नजर आयेगा वह तो है मैं जीव और उस जीव के निकल जाने के कारण जो यह जला दिया जायेगा या जो कुछ तब दिखा है वह है अजीव। जीव और अजीव के भेद करने में अधिक तकलीफ नहीं है, किन्तु उसके लिये अपने विकल्पों के रोकने का प्रयत्न करना है। ज्ञानस्वरूप ही मेरा भाव है। ये रागादिक समस्त विकारभाव अचेतन हैं। ये उदयानुसार होते हैं। मैं इन सबसे न्यारा केवल एक शुद्ध ज्ञानस्वरूप हूँ। तू स्वरूप की भावना भा और अन्य भावनावों में भी स्वरूप की भावना का लक्ष्य रख।

अनित्यभावना में स्वनित्यत्व का दर्शन—भैया ! जब अनित्य भावना में तुम अपना विचार कर रहे हो कि ये सब मिले हुए वैभव, धन, आयु ये सब अनित्य हैं, मिट जायेंगे, तो मिट जाने की बात को रो-रोकर क्या काम पूरा कर लोगे? अरे, इस मिटते हुए का जानना तो न मिटने वाले निज स्वरूप के जानने के लिए है। इन मिटने वालों को ही रो-रोकर पुकारना इससे क्या लाभ मिलेगा? जान लिया कि ये सब पदार्थ विनाशीक हैं, पर इस जानने से फायदा क्या? अविनाशी जो मैं आत्मा हूँ वह मैं इनसे न्यारा हूँ और अविनाशी हूँ, ऐसा जानकर अपने आपकी ओर झुकना तब अनित्य भावना भाना सफल है।

अशरणभावना में स्वशरणता का दर्शन—अशरण भावना में यह सोच लिया कि कोई मेरा शरण नहीं है सब स्वार्थ के साथी हैं, कोई अंत में काम नहीं आते। दल, बल, देवी, देवता, परिवार, कुटुम्ब, मित्र सबके सब खड़े रहते हैं, पर कोई शरण नहीं होता है। अरे ! इस रोने से क्या फायदा है, ये कोई भी शरण नहीं हैं, ऐसा मानने का प्रयोजन तो यह है कि तू ही तेरे शरण है। तू अपनी शरण रह और सुखी रह। जब तक अपने शरण की सुध न रहेगी तब तक अशरण भावना से लाभ कुछ न मिलेगा।

संसारभावना में निज आनन्दघन का दर्शन—संसार भावना में बड़ी विस्तारदृष्टि बना ली है। संसार के सभी लोग दु:खी हैं, श्रीमान् गरीब सब दु:खी है। अरे ! उनके दु:ख को देखकर तू दु:ख ही बढ़ायेगा। किसी के दु:ख को उपयोग में रखकर क्या कोई सुखी हुआ है? तू जगत के जीवों का दु:ख निरख रहा है, इस जानने का लाभ तो यह है कि यह समझ जा कि मैं सब दु:खों से न्यारा स्वभावत: स्वयं आनन्द का निधान हू। ऐसे इस दु:खरहित ज्ञायकस्वभाव की ओर दृष्टि आये तो संसार भावना करना ठीक है।

एकत्वभावना में अन्त: एकत्व का दर्शन–लोग घबड़ाते हैं अपना अकेलापन जानकर कि मैं अकेला ही मरूगा, अकेला ही जन्मा हू। अरे इस अकेले के रोने से लाभ क्या मिलेगा ? अरे इस अकेलेपन के जानने का प्रयोजन तो यह है कि इससे भी और अत्यन्त विशुद्ध ज्ञायकस्वरूप का एकत्व जो आनन्दमय है, तुममें पड़ा है, तू अपने इस एकत्वस्वरूप की सुध ले तब एकत्व भावना सफल है। केवल जन्ममरण सुख दु:ख में अकेलापन भाने से तो दु:ख बढ़ेगा, सुख न मिलेगा। घबड़ाहट बढ़ेगी, पर अपने स्वरूप का विशुद्ध एकत्व दृष्टि में लेने से आनन्द बढ़ेगा।

अन्यत्व भावना में यह भाया करते हैं कि ये धन कन कंचन सब निराले हैं। मेरा तो देह तक भी नहीं है। तो इस बकवाद से लाभ क्या मिलेगा ? अरे इस वार्तालाप के फल में यदि मैं यह जान जाऊ कि मेरा ज्ञानानन्दघन स्वरूप आत्मतत्त्व मुझसे न्यारा नहीं है, उसकी उपासना करो और इस धन वैभव आदि प्रकट निराले पदार्थों की उपासना मत करो। यह प्रेरणा जगे तो अन्यत्व भावना करना सफल है।

अशुचिभावना में आत्मशुचिता का दर्शन–अशुचि भावना में हम गाते रहते हैं कि यह देह, हड्डी, चाम, खून, मांस, मज्जा, मल से भरा हुआ है। गाते रहें और ऐसे देखते भी रहें। अरे इन अशुचि पदार्थों के देखने पर तुम्हें यदि अपने शुचि पवित्र ज्ञानानन्द स्वरूप की खबर नहीं होती है तो इन अशुचि पदार्थों के गाने से तुझे लाभ क्या मिलेगा ? ग्लानि ही बढ़गी। यह शरीर बड़ा दुर्गन्धित है, घृणा ही पैदा करता है, समस्त लोकालोक को जानने की जिसमें सामर्थ्य है ऐसा यह आत्मतत्त्व ज्ञान में आये, भावना में आये तो यह अशुचि भावना भी सफल है।

स्वरूपदर्शन का प्रसाद–भैया ! कुछ भी विचार करो, अपने स्वरूप के स्पर्श की ओर आयें तो लाभ है, बाकी ममता में, अहंकार में, विषयकषायों में या यों कहो कि मूढ़ों के मुह लगने में कोई सार नहीं है। मूढ़ मायने मोही। मूढ़ का अर्थ लोगों ने मूर्ख कर रक्खा है, पर मोह का अर्थ है मोहोन्मत्त। मोहोन्मत्त विषयों के साधनभूत परजीवों से उपयोग जुटाने में सार न मिलेगा। अपने आपके स्वरूप की दृष्टि करो, उसमें निर्विकल्पता के कारण स्वयं यह स्वपरप्रकाशक आत्मतत्त्व का अनुभव हो जायेगा और तब पूर्ण निर्णय होगा कि यह मैं आत्मा स्व का भी प्रकाशक हू और पर का भी प्रकाशक हू।

अप्पसरूवं पेच्छदि लोयालोय ण केवली भगवं।
जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ।।166।।

प्रतिभासविषयक सिद्धान्तस्मरण–केवली भगवान निश्चय से तो आत्मा को जानते देखते हैं और व्यवहारनय से लोकालोक को जानते देखते हैं, यह सिद्धान्त स्थापित किया गया था, अर्थात् प्रभु सारे लोक को जानते तो हैं किन्तु लोक में तन्मय होकर नहीं जानते हैं, प्रभु अपने आपके आत्मा में ही ठहर कर समस्त लोकालोक को जान जाते हैं। इसमें जानने की तन्मयता आत्मा से है, परपदार्थ से नहीं है। यों लोक और अलोक इन परपदार्थों में तन्मय होकर नहीं जानते हैं। जैसे कि आनन्दगुण अपने आप तन्मय होकर ही अनुभवा जाता है। किसी बाह्य पदार्थ में तन्मय होकर नहीं अनुभवा जाता है। इस ही प्रकार यह ज्ञान भी अपने आपके आत्मा में ही तन्मय हो करके जानता है, किसी परपदार्थ में तन्मय होकर नहीं जानता है। इस सिद्धान्त को लेकर दो नयों की बात कही गयी है कि निश्चय से तो भगवान अपने को ही जानते देखते हैं और व्यवहार से भगवान समस्त लोकालोक को जानते देखते हैं।

शंकासमाधानरूप में निश्चयप्रतिभास का प्रकाशन–इस सम्बन्ध में अब कोई शंकाकार केवल निश्चयनय की ही बात मानता है। व्यवहार की बात को झूठ कहता है और वह यों बतलाता है कि केवली भगवान अपने ही स्वरूप को देखते हैं, लोक और अलोक को नहीं। यदि हम ऐसा कहें तो इसमें क्या दूषण आता है ? यह शंकाकार की ओर से शंका है। यह गाथा शंकारूप भी है व समाधानरूप भी है, क्योंकि निश्चयनय से तो ऐसा ही है। इसमें भाव यह है कि जब भगवान अपने ज्ञान से अपने में ही तन्मय हैं, अपने ज्ञान से अपने में

ही बढ़ रहे हैं निश्चय से। भले ही उनमें यह महिमा है कि जितने भी पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल और अन्य जीव इन सबके द्रव्य गुण पर्यायों को एक समय में जानने में समर्थ यह केवलज्ञान है, लेकिन यह तो परपदार्थों में प्रवेश करके नहीं जानता है, अपने आपमें ही तन्मय होकर जानता है। इन भगवान के तीसरा नेत्र प्रकट हुआ है अर्थात् सकलप्रत्यक्षप्रतिभास समस्त मनुष्यों के दो नेत्र हैं, जिनसे देखते जानते हैं, किन्तु अरहंत महादेव इनके तीसरा लोचन प्रकट हुआ है और इसी कारण अरहंत भगवान का नाम त्रिलोचन है। यह तीसरा नेत्र है सकल प्रत्यक्ष निर्मल केवलज्ञान। इस तीसरे नेत्र के द्वारा प्रभु समस्त ब्रह्माण्ड को और लोक के बाहर के समस्त अलोकाकाश को एक साथ जानते हैं। उनका ज्ञान निरपेक्ष है, परपदार्थों के कारण से परपदार्थों को नहीं जानते, किन्तु अपने ही स्वभाव से समस्त लोकालोक को जानते हैं।

सर्वत्र गुण का अभिन्न आधार में प्रयोग–वास्तव में तो सभी जीव केवल अपने को ही जानते देखते हैं। जो लोग इन समस्त दुकान घर इन सबको जानते हैं वे लोग भी वास्तव में अपने को ही जान रहे हैं क्योंकि उनका ज्ञान उनके आत्मा में है। उनका ज्ञानस्वभाव ज्ञानगुण उनके आत्मा को छोड़कर कहीं बाहर जाता नहीं है, वहीं रहकर ज्ञान सबकुछ जानता रहता है, यहा से बाहर कहीं नहीं जाता है। यों हम आपका ज्ञान भी बाह्य पदार्थों में तन्मय होकर नहीं जानता। हा, जो मोही जीव हैं, जिनमें अज्ञान भरा है, रागद्वेष प्रबल है वे बाह्य पदार्थों में आसक्त हो जाते हैं अर्थात् बाहरी पदार्थों को अपने ध्यान में लेकर और उस ध्यान में कल्पनाए बनाए रहते हैं। बाह्य पदार्थों में कोई नहीं लग सकता है। बाह्य बाह्य की जगह है, हम अपनी जगह हैं। जब तक यह जीव अपने आपका और इन पदार्थों का ऐसा एकदम रस्सी तोड़ अन्तर नहीं डालता है तब तक इसका मोह दूर नहीं होता है। इस प्रकरण से हमें यह जानना चाहिए कि हम सीधा परपदार्थों को जानने तक का भी काम नहीं करते हैं। हम अपने को जानते हैं और मेरी स्वच्छता ऐसी है कि सारे पदार्थ यहा झलक जाते हैं, इस झलक से हम जानते हैं, परपदार्थों को नहीं जानते हैं जब जानने देखने का भी बाह्य पदार्थों से सम्बन्ध नहीं है तो फिर किस पदार्थ को हम भोग सकते हैं, किस पदार्थ को विषय बना सकते हैं ? यही तो संसार में रूलने का साधन है।

प्रभुपरिचय–भगवान प्रभु पूर्णरूप से अन्तर्मुख हैं, वे यद्यपि समस्त पदार्थों के ज्ञायक हैं, फिर भी अपने ही आनन्दरस में लीन हैं। यहा हम लोगों का यह जानना भी कलंक की तरह बन रहा है। जानते हैं और जानने के ही साथ राग द्वेष की कल्पनाए उठ जाती हैं, हम अपने आपमें नहीं रह पाते, बाहर की ओर आकर्षित हो जाते हैं, किन्तु भगवान का कितना उत्कृष्ट ज्ञान है कि वे तीन लोक का सब कुछ जानते हैं फिर भी वे अपने आत्मीय आनन्द को तजकर बाहर कहीं नहीं जाते हैं। हम ऐसी अपने मर्म की बात न जानें तो हम भगवान की पूजा भी करने के पात्र नहीं हैं, यों लोकरूढ़ि से भगवान के आगे सिर नवा लें, द्रव्य चढ़ा लें, स्तवन करलें, यह बात दूसरी है, किन्तु भगवान में खासियत क्या है, भगवान का स्वरूप क्या है, उनका स्वभाव कैसा है, इस बात की परख न हो तो हम भगवान के गुण ही क्या समझेंगे और फिर उनकी पूजा और वंदना भी क्या होगी? भगवान की जो भक्ति करता है उसे अपने स्वरूप का अवश्य परिचय रहता है। जिसे अपने स्वरूप का परिचय रहता है वही यथार्थरूप से भगवान की भक्ति कर सकता है।

प्रभु की गम्भीरता—हे प्रभु ! आपका कितना विशद् स्वरूप है, आपके ज्ञान में तीन लोक, तीन काल के सब पदार्थ झलक रहे हैं फिर भी आप रंच भी आकुलता नहीं कर रहे हैं। भैया ! हम लोग न कुछ थोड़ीसी बात जानकर मेरे पास इतना धन है, मेरी इतनी प्रतिष्ठा है, मेरे ऐसे परिजन हैं, न कुछ इन खंड-खंड बातों को जानकर हम आप लोग आपे से बाहर हो जाया करते हैं, अपने में ही नहीं रह पाते हैं, पर प्रभु का यह ज्ञान कितना उदार है कि यहाँ समस्त लोक झलक रहा है, पर ये प्रभु एक अणु के प्रति भी वे आसक्त नहीं होते हैं, सबके ज्ञाताद्रष्टा रहते हैं। जब तक रागद्वेष रहेगा, अज्ञान, मोह रहेगा तब तक यह जीव शान्ति नहीं पा सकता, न कर्मों का नाश कर सकता है। मोह से कर्म बढ़ते हैं और निर्मोहता से कर्म कटते हैं। भैया ! प्रभु

ने क्या किया था, जिसके प्रसाद से वे आज त्रिलोक पूज्य हो गये है और वे अपने आपके आत्मा में परम आनन्दमग्न हैं। जो उन्होंने किया था। उसकी सुध अपने को नहीं होती, जिस मार्ग पर वे चले थे उस मार्ग पर चलने की अपने में प्रेरणा न हो, तो हम कर्मों को नहीं काट सकते हैं।

प्रभु की विशुद्धि—निश्चय से जो केवल अपने ही स्वरूप का प्रत्यक्ष कर रहे हैं, इस ही वृत्ति में जो निरत हैं ऐसे ही ये प्रभु इस सहज केवल दर्शन के द्वारा सच्चिदानन्द को ही निश्चय से देख रहे हैं। ऐसी ही चर्चा शंकाकार कर रहा है कि यदि हम ऐसा मानें तो हममें कौनसा दोष है? हाँ ठीक है। यदि तुम शुद्ध निश्चय की दृष्टि से ऐसा मानो तो कोई दोष नहीं है पर सर्वथा एकान्त न कर लेना चाहिए। यह आत्मा अपने स्वरूप को देखता है। यह परमात्मा एक है। जो यह देख रहा है, जिसको देख रहा है वह एक है, विशुद्ध है। रागद्वेष की कलुषता उसमें रंच नहीं है अन्तरंग में तो निर्मलता प्रकट हुई है, इसी में इतनी अनन्त महिमा है कि हम आप भी उनकी मूर्ति बनाकर, उनकी स्थापना करके प्रात:काल से ही नहा-धोकर पवित्र मन करके पूजन और वंदन में आते हैं। हम किसकी पूजा करने आते हैं, उसका यथार्थ बोध कर लें तो हम आपका जन्म सफल है। रूढ़ि मात्र से तो वह लाभ न मिलेगा।

प्रभु का पथ—प्रभु ने इस समस्त जगत को असार जानकर पहिले तो आरम्भ और परिग्रह का त्याग किया था। निर्ग्रन्थ दिशा ही जिनका अम्बर है, ऐसी शुद्ध दिगम्बरी मुद्रा से आत्मध्यान में रह-रहकर अपना उपयोग विशुद्ध किया था। 5 इन्द्रियाँ और छठा मन, इन 6 के विषय इस जगत को बड़ा हैरान कर रहे हैं। यह प्राणी इन विषयों की अधीनता में बरबाद हो रहा है, पर प्रभु ने इन विषयों को सर्वप्रथम जीता था और विषयों को जीतकर मोह और कषायों को क्षीण कर लिया था। जब कषायें बिल्कुल न रहीं तो अन्तर्मुहूर्त में ही केवलज्ञान प्रकट हो गया था।

ज्ञानाश्रय का परिणाम—देखो, लोग चाहते हैं कि मुझे सबसे अधिक ज्ञान मिले, पर ज्ञान की ओर झुकें तो ज्ञान बढ़े। ज्ञान को छोड़कर इन बाहरी पदार्थों की ओर झुकेंगे तो ज्ञान न बढ़ेगा। ये समस्त दिखने वाले बाह्यपदार्थ अज्ञानमय हैं। इनकी ओर झुककर अज्ञानमय वेदन ही होगा और ज्ञानमय निज तत्त्व की ओर झुककर जो वेदन होगा वह ज्ञानमय वेदन होगा। अपने आपकी ओर झुकने का अर्थ है अपने को ज्ञानमात्र ही अनुभवना, मनन करना, चिन्तन करना। जैसे हम आप लोग अपने को नानारूप अनुभव कर रहे हैं, मैं अमुक गाँव का हूँ, अमुक घर का हूँ, अमुक का पिता हूँ, अमुक का बेटा हूँ, ऐसे धन वाला हूँ, ऐसी पोजीशन का हूँ, इतना लम्बा हूँ, गोरा हूँ, काला हूँ, कितने ही रूप यह जीव अपने को अनुभव रहा है, यदि इन नाना रूपों में अपने को अनुभव करता रहेगा तो इसका संसार कभी दूर न हो सकेगा। इन नाना रूपों को छोड़कर अपने को केवल ज्ञानस्वरूप ही अनुभव करेंगे तो ये संसार के संकट दूर होंगे।

निर्ममत्व निज के आश्रय से संकटों का अभाव—भैया ! संकट है क्या? रागद्वेष बढ़ जाना ही संकट है। किसी पदार्थ के प्रति ममता हो जाना यही एक संकट है। चीज का मिटना, गुजरना यह संकट नहीं है किन्तु अपने आपमें किसी परवस्तु के प्रति ममता का परिणाम होना यही संकट है। संकटों की जड़ ममता है, अहंकार है, संकट अन्य कुछ नहीं है। जो ज्ञानी जीव निज को निज, पर को पर दृढ़ता से जानते हैं, कि त्रिकाल भी मेरा स्वरूप चतुष्टय किसी पर रूप न होगा, किसी परपदार्थों का स्वरूप मुझमें तन्मय न होगा, त्रिकाल न्यारे हैं समस्त पदार्थ, परस्पर में ऐसी स्वतंत्रता की जो दृष्टि बनाता है उसको मोह कहाँ से होगा? मेरा मात्र मैं ही हूँ, ज्ञानादिक गुणों को छोड़कर अन्य कुछ मेरा नहीं है, मैं अपने ही स्वरूप में तन्मय हूँ, ऐसा जिसे अपने स्वरूप की दृढ़ता का विश्वास है वह बहुत मजबूत किले में बैठा हुआ है। जैसे कोई पुरुष मजबूत किले में बैठ जाय तो उसे अब विनाश का भय नहीं रहा, ऐसे ही हम आपका यह ज्ञान इस दृढ़ स्वरूप में बैठ जाय

कि जो मेरा है वह कभी मेरे से छूट नहीं सकता, जो मेरा नहीं है वह कभी मेरे में आ नहीं सकता, ऐसा स्वरूप की दृढ़ता का भान हो वह पुरुष सुरक्षित है। उसे व्याकुलताएँ नहीं हो सकती हैं।

ज्ञानभावना की शिक्षा—प्रियतम् ! करना यही है धर्म के लिए, भगवान का पूजन करके सीखना यही है, ज्ञानभावना को पुष्ट करना है। गुरुवों का सत्संग करके सीखना यही है। जगत में धन का होना, संतान का होना यह सब कर्मानुसार है। इनके लिए पूजा करना, प्रार्थना करना या गुरुसेवा करके धन, संतान की कामना करना, यह कर्तव्य नहीं है। जो देवपूजन नहीं करते उनके भी तो दमादम संतान होते रहते हैं, धन भी बढ़ता रहता है। जो गुरुसेवा से विमुख हैं वे भी लोक में सुखी देखे जाते हैं। इन सब सुखों के लिए देवपूजा या सत्संग आदि का उपयोग नहीं करना है। किन्तु मेरे में वह धर्म प्रकट हो, जिस धर्म के प्रसाद से संसार से सदा के लिए छूट जाऊँ, ऐसी विविक्तता और निर्मलता के मार्ग में कदम बढ़ाना है, उसके लिए ही यह देव वन्दन है।

प्रभुत्वविकास—ये देव अनन्त महिमा के निधान हैं, अपने आपमें यह शाश्वत आनन्दमग्न रहते हैं, अविचल हैं। प्रभु जिस रूप अपने में वर्त रहे हैं उस रूप को त्रिकाल भी ये तज न सकेंगे। हम-आप लोग तो छिन-छिन में कभी खुश होते है, कभी कुछ निर्मलता प्रकट करते हैं, कभी मलिन बन जाते हैं, पर प्रभु के ऐसी चरम स्वच्छता है, ऐसी परम निर्मलता है कि वह त्रिकाल भी अपनी इस स्वच्छता को छोड़ न सकेंगे। है क्या? चेतन प्रभु हैं, चेतन हम हैं। हम आप पर रागद्वेष मोह का कूड़ा-कचरा पड़ा हुआ है, बस इसी कारण हम आत्मा और प्रभु परमात्मा में अन्तर है। यह एक रागद्वेष का कूड़ा—कचरा न रहे तो वही स्वरूप यह है, वही परमात्मतत्त्व यह है, पर कैसा कर्मविपाक है कि मोह प्राय: छोड़ा नहीं जाता।

धर्मपालन को अन्त:पुरुषार्थ की आवश्यकता—भैया ! रागद्वेष तजने रूप ही धर्म सेवन करने योग्य है। रूढ़िगत तौर से भले ही सब धर्मव्यवहार करें, किन्तु मोह जो 20 साल पहिले था, कहो उसमें भी बढ़कर मोह मौजूद हो तो जब मोह में अन्तर नहीं आया तो धर्म की क्या पकड़ कर सकेंगे कि हाँ हमने कुछ धर्मसाधन किया है? अरे, धर्म तो नाम है मोहरहित और कषायरहित होने का। अपने अंतरंग में निरीक्षण तो करो कि हमने कितना मोह तजा है? क्या कभी हमने समस्त परपदार्थों से अत्यन्त भिन्न ज्ञानस्वरूप मात्र अनुभव किया है? क्या कभी इस ज्ञायकस्वरूप एकाकी निज आत्मा में विश्राम किया है? यहाँ ही ठहरकर क्या हमने कभी सन्तोष पाया है? यदि नहीं पाया है, बाहरी आडम्बर और पदार्थों में ही यह उपयोग लगा रहा है तो समझो कि हमने अभी धर्म नहीं कर पाया, इसके लिए अभी यत्न करना है।

धर्ममूर्ति—प्रभु साक्षात् धर्मस्वरूप है और शक्तिरूप में हम आप समस्त आत्मा साक्षात् धर्मस्वरूप हैं। धर्म नाम है स्वभाव का। जिसका जो स्वभाव है वह स्वभाव प्रकट हो जाय यथार्थ निर्दोष, उसी के मायने हैं धर्ममूर्ति का बनना। प्रभु धर्म की मूर्ति हैं इसीलिए हम पूजते हैं। धर्म में ही आनन्द है। धर्मभाव को छोड़कर रहें तो आनन्द न मिल सकेगा, दु:खी ही होंगे, क्लेश ही मचेगा। धर्ममूर्ति भगवान की वंदना करके हमें धर्म-स्वभाव का झुकाव होना चाहिए।

प्रभु का विशुद्ध ज्ञानघनस्वरूप—यह प्रभु स्वभाव में महान् है। इसमें व्यवहार का विस्तार ही नहीं है, यहाँ निश्चयनय से तका जा रहा है। प्रभु अपने में स्वरूप को देख रहे हैं किसी बाह्य लोक को नहीं, जानते तो हैं प्रभु लोकालोक को, मगर ऐसा कहने में एक तो पर का नाम लेकर कहना पड़ा, दूसरे एक आत्मा को तजकर दूसरे पदार्थ को बताना पड़ा, वह सब व्यवहार है। प्रभु शुद्ध हैं, स्वच्छ हैं, निर्दोष हैं, निराकुल हैं, कोई विषयवासना उनके अन्दर नहीं है, वे शुद्ध ज्ञान के पिंड हैं। ज्ञान-पिंड का ही नाम भगवान है। ज्ञानघन प्रभु है। घन उसे कहते हैं जो ठोस हो, जिसमें दूसरी चीज का समावेश न हो। केवल वही का वही हो। जैसे कोई काठ होता है, बड़ा सारभूत हो, वज़नी बन जाता है। लोग कहते हैं कि यह ठोस काठ है। उसका अर्थ यह है

कि इसमें किसी अन्य चीज का प्रवेश नहीं है। न घुन है, न बक्कल है, न कोई पोल है। यह प्रभु ही ज्ञान से ठोस हैं, ज्ञान के ही पिंड हैं।

दृष्टान्तपूर्वक ज्ञानानन्दघन का विवरण—जैसे घड़े में पानी भरा हो तो पानी घड़े के अन्दर ठोस रहता है। उसके भीतर एक सूत भी जगह ऐसी नहीं होती जहाँ पानी न हो और वह अगल-बगल पानी से ठोस होता है, इसी प्रकार यह भगवान आत्मा ज्ञान से ठोस है। यहाँ एक भी प्रदेश ऐसा नहीं है जहाँ ज्ञान न हो और अगल-बगल ज्ञानरस भरा हुआ न हो। ज्ञान में ठोस है। इस ज्ञानघनता का स्मरण यह पानी से भरा हुआ घड़ा दिलाता है, इसीलिए लोग पानी से भरे हुए घड़े को सगुन मानते हैं। रास्ता चल रहे हों और पानी भरा घड़ा मिल जाय तो लोग सगुन समझते हैं। अरे, उसे सगुन क्यों कहा? वह पानी से भरा हुआ घड़ा यह सुध दिलाता है कि जैसे यह घड़ा पानी से लबालब भरा हुआ है ऐसे ही यह आत्मा ज्ञान और आनन्द से लबालब भरा हुआ है, ऐसे अपने आत्मा की सुध दिलाने के कारण यह पानी से भरा हुआ घड़ा सगुन माना जाता है। प्रभुज्ञानानन्दघन हैं, अखण्ड अद्वैत चैतन्य चमत्कारमात्र हैं। उसका ध्यान करने से हमारे कर्मकलंक भी दूर होते हैं। यों प्रभुभक्ति हम आप लोगों का एक आवश्यक कार्य हैं।

गाथा 167

मुत्तममुत्तं दव्वं चेयणमियर सगच सव्वं च।

पेच्छंतस्स हु णाणं पच्चक्खमणिदियं होइ।।167।।

प्रत्यक्षज्ञान की व्यापकता—प्रभु का ज्ञान कैसा होता है इस सम्बन्ध में यह गाथा कही गयी है। प्रभु मूर्त, अमूर्त समस्त द्रव्यों को जानते हैं, चेतन, अचेतन समस्त द्रव्यों को जानते हैं व आत्मा व अनात्मा समस्त द्रव्यों को जानते हैं, इसका कारण यह है कि उनके ज्ञान प्रत्यक्ष है और अतीन्द्रिय है।

प्रभु के समस्त मूर्त-अमूर्त का ज्ञान—जगत में जितने भी पदार्थ हैं अर्थात् जो हैं वे दो प्रकार के हैं, एक तो रूप, रस, गंध, स्पर्श वाले और एक ऐसे जिनमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं है। जैसे पुद्गल में तो रूप, रस आदि हैं और बाकी सब पदार्थों में रूप आदिक नहीं हैं। पदार्थ 6 जाति के होते हैं, जिनमें पुद्गल तो मूर्त है और शेष द्रव्य याने जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये अमूर्त हैं। केवली प्रभु मूर्त-अमूर्त समस्त द्रव्यों को जानते हैं।

जीवद्रव्य—जैन शासन की प्रमुख विशेषता यह है कि यह पदार्थ का यथार्थ स्वरूप बताता है। एक जाति की विशेष बात दूसरे में न मिले और अपनी जाति में पूर्ण रूप से समान हो उसका नाम जाति है। जैसे जीव कहो, तो जीव-जीव जितने हैं वे सब एक समान हैं, और इनका जो असाधारण गुण, ज्ञान, दर्शन, जानना-देखना, वह किसी अन्य पदार्थ में हो नहीं सकता। इस कारण जीव एक जाति है और इस जीव-जाति में अनन्त जीव आ गये है और जीव-जाति में कोई भी जीव छूटता नहीं है। जीव का जो स्वरूप है उस स्वरूप की दृष्टि से चाहे भव्य संसारी हों, चाहे अभव्य संसारी हों और चाहे सिद्ध भगवान हों, सबका एक स्वरूप है। जीवत्वस्वरूप के नाते से कोई जीव नहीं छूटता। ज्ञानी संत वे ही कहलाते हैं जो सब जीवों में इस जीवत्वस्वरूप को देखते हैं। कहते हैं ना कि जीव जीव सब एक समान हैं। चाहे सिद्ध भगवान हों, अरहंत प्रभु हों, साधु परमेष्ठी हों, श्रावक हों, कीड़ा मकोड़ा हों, स्थावर हों, निगोद हों, सभी जीवों में स्वरूप और

स्वभाव एक समान है। स्वभाव की दृष्टि से किसी में अन्तर नहीं पड़ता है। जाति उसे ही कहते हैं कि जिसमें सब बराबर अधिकार में समा जाय, जैसे गाय जाति कहो तो चाहे काली गाय हो, चाहे लाल हो, चाहे सफेद हो, अथवा हल्के सींग की हो, सब गायें गौ जाति में आ जाती हैं। जाति नाम उसका है कि जिसमें एक भी पदार्थ उस जाति का छूटे नहीं। इस दृष्टान्त से जीव एक जाति है, जिसमें अनन्त जीव समाये हुए हैं।

पुद्गल द्रव्य—पुद्गल एक जाति है जिसमें गर्भित पदार्थों में रूप, रस, गंध, स्पर्श पाया जाय। पुद्गल जाति में कोई पुद्गल नहीं छूटता, चाहे वह सूक्ष्म हो अथवा परमाणु हो, सबमें रूप, रस, गंध, स्पर्श होता है। किसी को न भी विदित हो कोई गुण लेकिन जहाँ रूप आदिक चारों में से कोई एक है वहाँ तीनों अवश्य होते हैं। ये दिखने वाले जो पदार्थ हैं, इनमें शीघ्र समझ में आता है कि इनमें रूपादिक हैं, पर शब्द जो सुनाई दे रहे हैं ये भी पुद्गल हैं, इनके ठोकर भी लगती है। कोई जोर से बोले तो कानों में बहुत आहट पहुंचती है। छोटे-मोटे पदार्थ तो बोलने के ठोकर से ही उडकर भाग जाते हैं। कोई भींत के उस तरफ बोल रहा हो तो उसके शब्द भिड़ जाते हैं, यहाँ उन शब्दों को नहीं सुन सकते। कोई और शब्दों को तो वैज्ञानिकों ने यंत्रों में पकड़ रक्खा है, तो इस प्रकार ये शब्द भी रूप, रस, गंध, स्पर्श वाले हैं। इनसे भी और सूक्ष्म स्कंध है—जैसे कर्म, ये भी मूर्त हैं। ये कर्म न भिड़ते हैं, न स्वाद में आते हैं, न इनमें गंध विदित होती है, न इनके आवाज है, न इनमें रंग विदित होता है। कुछ विदित इसमें होता नहीं है, लेकिन हैं ये सब। एक आवाज तो नहीं है, बाकी चार गुण परिणमन हैं। आवाज होना पुद्गल का गुण नहीं है। यदि आवाज पुद्गल का गुण होता तो कर्म में भी होता। आवाज तो पुद्गल की द्रव्यपर्याय है। यों कर्म भी पुद्गल हैं और उनसे सूक्ष्म अनेक स्कंध और पड़े हुए हैं। वे सब पुद्गल हैं और एक अणु भी जो कि अबद्ध है, एक समय में 14 राजू तक गमन कर जाता है, ऐसा अणु भी पुद्गल है, तो द्रव्य में दूसरी जाति है पुद्गल की।

धर्मद्रव्य और अधर्म द्रव्य—तीसरी जाति बतायी है धर्मद्रव्य। धर्मद्रव्य एक ही है इसीलिए इसे चाहे जाति कह लो, चाहे व्यक्ति कह लो, एक ही बात है। धर्मद्रव्य उसे कहते हैं जिसके निमित्त से जीव और पुद्गल गमन कर सकें। यदि लोक में धर्मद्रव्य न होता तो यह जीव और पुद्गल चल न सकते थे। इतनी सूक्ष्म बात जैनदर्शन में बतायी गयी है। इसके विषय में वैज्ञानिक लोग भी कुछ अनुमान करते हैं कि आकाश में भी सूक्ष्म तरंगें हैं जिसके सहारे शब्द चलते हैं। उससे भी और सूक्ष्म यह धर्मद्रव्य है। अधर्मद्रव्य उसे कहते हैं जो जीव और पुद्गल जो कि चलकर ठहरते हों उनके ठहरने में सहायक होता है। यह भी एक ही पदार्थ है, इसलिए अधर्म जाति कहो या अधर्म नाम का कोई व्यक्ति कहो, एक ही बात है।

आकाश द्रव्य—एक आकाशद्रव्य है जो असीम है, लोक में भी वही एक आकाश है और लोक से बाहर भी वही एक आकाश है, क्योंकि कल्पना करो कि आकाश का यदि कही अंत हो जाय तो फिर जहाँ आकाश नहीं रहा वहाँ क्या चीज होगी? आकाश नाम मान लो पोल का है। जहाँ आकाश नहीं है, तो आकाश जब नहीं रहा तो इसका अर्थ है कि कुछ है, कोई ठोस चीज है। जब कोई ठोस चीज है तो आकाश भी है और उस ठोस का भी तो अंत होता है, ठोस के बाद फिर आकाश। कल्पना करते जावो, आकाश का कहीं अंत बता ही नहीं सकते हैं, ऐसा सीमारहित एक आकाशद्रव्य है।

धर्म, अधर्म व आकाश की एक-एक संख्या का कारण—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य व आकाश, ये एक-एक क्यों हैं? एक उसे कहते हैं कि जो एक परिणमन जितने पूरे में होना ही पड़े, अथवा जिसका कभी हिस्सा ही न हो सके वह एक होता है। आकाश का कभी हिस्सा नहीं होता है वह एक होता है और उसका जो भी परिणमन है अपने आपके स्वरूप में, वह एक परिणमन सम्पूर्ण आकाश में होता है।

आकाशपरिणतिविषयक एक जिज्ञासा का समाधान व काल द्रव्य—यहाँ यह शंका की जा सकती है कि कालद्रव्य तो केवल लोकाकाश में है और कालद्रव्य का काम है वस्तुवों के परिणमन का निमित्त होना। तो

लोकाकाश के कालद्रव्य की वजह से लोकाकाश के आकाश का तो परिणमन हो जायेगा, पर इसके बाहर में जो आकाश है उसका परिणमन तो नहीं हो सकता। उसका उत्तर यह है कि चूँकि आकाश एक द्रव्य है, अखण्ड है, इस कारण आकाश का जो भी एक परिणमन है वह समस्त आकाश में होता है और उस परिणमन के लिए निमित्त चाहिए काल, सो वह कालद्रव्य कहीं भी स्थित हो वह तो निमित्तमात्र है। लोकाकाश में स्थित कालद्रव्य का निमित्त पाकर आकाश परिणमन करता है। कालद्रव्य असंख्यात हैं, लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु मौजूद हैं। जहाँ जो कालद्रव्य है उस पर स्थित जो भी पदार्थ है उसके परिणमन का निमित्तभूत वह काल है।

मूर्त-अमूर्त के बोध का प्रतिपादन—इस प्रकार द्रव्य 6 होते हैं, उन पदार्थों में यदि मूर्त और अमूर्त दो विभाग किए जायें तो मूर्त तो हुआ पुद्गल और अमूर्त हुए 5 पदार्थ जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन 5 प्रकार के पदार्थों में रूप आदिक नहीं होते हैं। प्रभु भगवान मूर्त और अमूर्त समस्त पदार्थों को जानते हैं और इन मूर्त-अमूर्त पदार्थों के जो परिणमन हो चुके हैं, हो रहे हैं, होंगे, उन समस्त परिणमनों को जानते हैं।

प्रभु के चेतन-अचेतन समस्त द्रव्यों का ज्ञान—इसी प्रकार इन 6 जाति के पदार्थों का यदि चेतन और अचेतन की पद्धति से भेद किया जाय तो चेतन तो केवल एक जीव है और बाकी 5 अचेतन हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। ये 5 पदार्थ अचेतन हैं। चेतन उसे कहते हैं, जिसमें चेतने का परिणमन पाया जाय। चेतन नाम है प्रतिभास का, जो कुछ जान सके, देख सके। जीव प्रतिभासता है और बाकी 5 द्रव्य रंच भी प्रतिभास नहीं कर पाते हैं। इसी कारण जीव तो मात्र ज्ञाता ही बने अथवा ज्ञेय ही बने , ऐसा नहीं है। वह ज्ञाता भी है और ज्ञेय भी है, किन्तु शेष 5 प्रकार के पदार्थ केवल ज्ञेय है, ज्ञाता नहीं है। जीव जानने वाला भी है और जानन में भी आता है किन्तु शेष 5 प्रकार के पदार्थ जानने में तो आ जाते हैं परन्तु वे स्वयं जानते नहीं हैं। इस तरह चेतन और अचेतन में भी सब पदार्थ आ गए। इन समस्त पदार्थों को केवली भगवान एक साथ स्पष्ट त्रिकालवर्ती परिणमनों सहित जानते हैं।

प्रभु के आत्मा और अनात्मा का समस्त परिज्ञान—इसी प्रकार इन पदार्थों का यदि आत्मा और अनात्मा इस तरह से भेद किया जाये तो इस आत्मा में तो केवल एक ही पदार्थ लेना है, जो जानने वाला भगवान है उसका आत्मा तो हुआ स्व। उसके अलावा अनन्त जानने वाले जो और प्रभु हैं वे भी पर हैं, संसार के समस्त जीव भी पर हैं, पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश और काल भी पर है। इस तरह स्व को और पर को ये प्रभु स्पष्ट त्रिकालवर्ती परिणमन सहित जानते हैं अर्थात् जो समस्त सत् को जाने वह केवली प्रभु है। यह निरन्तर जानते और देखते रहते हैं, उनमें एक समय का भी बीच में व्यवधान नहीं होता है। उनके ज्ञान में तो समस्त भूतकाल के और भविष्यकाल के भी पदार्थ ऐसे स्पष्ट हो रहे हैं जैसे मानो वर्तमान में हों। ज्ञान में तो सभी पदार्थ वर्तमान रहते हैं। उन पदार्थों में भूत और भविष्य का भेद है। पदार्थों में यह परिणमन तो हो चुका था और ये परिणमन आगे होंगे, ऐसा पदार्थों में तो भेद है, पर जानने में क्या भेद?

प्रभु के ज्ञान में भूत भविष्य के ज्ञान की वर्तमानता—जैसे आप अबसे 10 वर्ष पहिले की बात का स्मरण कर रहे हो तो वह बात, घटना आपके ज्ञान में इसी समय है। भले ही उस घटना को 10 वर्ष गुजर गये हैं, पर 10 वर्ष पहिले की बात को जानने में आपको 10 वर्ष नहीं गुजारना है, आप तो वर्तमान में उसे स्पष्ट जान रहे हैं। तो भूतकाल का ज्ञान आपके ज्ञान में वर्तमान की तरह है। यों ही भविष्यकाल की बात भी आप अनुमान से जानते हैं, न प्रत्यक्ष ज्ञान हो उसका भी अनुमानरूप, सम्भावनारूप जाना गया भविष्यकाल भी वर्तमान की तरह हो जाता है। फर्क यह है कि हमारे अपने ज्ञान में भूत और भविष्य की बात आये तो विशदपना न होने से अर्थात् स्पष्ट जानन न होने से हम उसे वर्तमानवत् नहीं कहते हैं, किन्तु प्रभु के ज्ञान में

तो भूतकाल के समस्त पदार्थ ज्ञात हो रहे हैं और भविष्यकाल के भी समस्त पदार्थ स्पष्ट ज्ञात हो रहे हैं, उनके लिए तो वर्तमान है।

वर्तमान ज्ञान की विशदता का अनुमान—जैसे जिन-वाणी संग्रह में जहाँ भूतकाल के 24 तीर्थंकरों के नाम लिखे हैं और वर्तमान काल के 24 तीर्थंकरों के नाम लिखे हैं और भविष्यकाल के 24 तीर्थंकरों के नाम लिखे हैं, तो नानारूप से जानने में तो आपके वे 72 नाम सामने हैं। प्रभु का ज्ञान तो विशद है, उनके ज्ञान में तो भूत और भविष्य के सब पदार्थ ऐसे सामने हैं जैसे कि आपके सामने पत्थर पर लिखे हुए भूत और भविष्य के पुरुषों के नाम हैं। उनके तो ज्ञान में समस्त पदार्थ ही सदा ही वर्तमान रहते हैं, पदार्थों में यह पर्याय पहिले थी, यह पर्याय आगे होगी, इस प्रकार काल भेद है, पर हम आपके ज्ञान में जैसे कुछ-कुछ भूत और भविष्य की बात सामने आती है इससे भी अत्यन्त विशद जीव का निरावरण ज्ञान है। प्रभु के ज्ञान में भूत और भविष्य का सब परिणमन स्पष्ट ज्ञात होता है, क्योंकि उनके ज्ञान में क्रम नहीं है।

छद्मस्थों का क्रमिक ज्ञान—जो इन्द्रिय से जाने उसके ज्ञान में क्रम होता है। अभी हम अमुक इन्द्रिय से जान रहे हैं तो शेष चारों इन्द्रियों का ज्ञान अभी नहीं हो रहा है, बाद में होगा। हमारा इन्द्रियज ज्ञान एक साथ नहीं होता। कल्पना करो कि कोई बेसन से तेल में पपरियाँ बनाए बड़ी कड़ी और आप उसे मुख से खा रहे हैं तो कल्पना जग सकती है कि उस समय हम पपरियों की आवाज भी सुन रहे हैं, चुर्रु चुर्रु हो रही हैं, आंखों से भी देख रहे हैं, स्वाद भी आ रहा है, गंध भी खूब आ रही है, यह कड़ी है इस प्रकार का बोध हो रहा है। पाँचों इन्द्रियों से इस प्रकार का ज्ञान हो रहा है, पर वहाँ भी एक साथ ज्ञान नहीं होता। इस ज्ञान की ऐसी तीक्ष्ण गति है या यहाँ के लिए यों कहो कि मन की ऐसी तीव्र गति है कि वह क्रम-क्रम से इन सब इन्द्रियों द्वारा ज्ञान कराता रहता है लेकिन क्रम नहीं मालूम पड़ता। जैसे 50 पान रक्खे हैं एक गड्डी में और आप उसमें एक सूई मार दें तो ऐसा लगता है कि पचासों पान एक साथ छिद गए हैं पर ऐसा नहीं है। वे एक के बाद एक छिदे हैं। उन पचासों पानों में 50 बार विलम्ब लगा, किन्तु यह विलम्ब ज्ञात नहीं होता है, ऐसे ही इस मन की इतनी तीव्र गति है कि हम इस ज्ञान को क्रम-क्रम से जानते हैं। फिर भी हम ऐसा महसूस करते हैं कभी-कभी कि हम एक साथ ही तो जान रहे हैं, लेकिन है नहीं ऐसा।

प्रभु का युगपत् सर्वज्ञान—प्रभु का ज्ञान एक साथ स्पष्ट जानता है, किन्तु हम आप छद्मस्थों का ज्ञान क्रम क्रम से जानता है। प्रभु के ज्ञान में कभी कोई व्यवधान नहीं है। हम आपके आँखों के आगे यदि भींत आड़े आ जाय तो हम चीजों को नहीं जान सकते हैं जो भींत के उस पार रक्खी हैं, हमारे ज्ञान में व्यवधान आ गया है परन्तु प्रभु का ज्ञान व्यवधानरहित है, वह केवल आत्मा से ही जानते हैं, इन्द्रिय से नहीं जानते। सिद्ध भगवान के तो इन्द्रियाँ हैं ही नहीं, वह तो अशरीर हैं। अरहंत भगवान के शरीर में यद्यपि इन्द्रियों का आकार है पर केवलज्ञान हो जाने से वे उन इन्द्रियों द्वारा नहीं जानते हैं, केवल आत्मा से जानते हैं। तब उनके लिए आड़ क्या काम करे? जैसे मन के द्वारा हम किसी चीज को जानते हैं तो आड़ हमारे ज्ञान को रोकती नहीं है। जैसे यहाँ बैठे हुए आप अपने घर की तिजोरी के भीतर संदूक में रक्खी हुई पेटी के भीतर किसी पोटली में बंधी हुई अंगूठी को आप जानना चाहे तो आपके ज्ञान को न तो आपके घर के किवाड़ रोक सकेंगे, न तिजोरी के फाटक, न संदूक, न पेटी और न कपड़े की पोटली आपके ज्ञान को रोक सकेगी। यहाँ बैठे ही बैठे आप उस गुप्त चीज को जान जायेंगे। तो मन से तो विलक्षण विशुद्ध ज्ञान है प्रभु का, वे अपने ज्ञान से समस्त लोक को जानते हैं, उसमें किसकी अटक होगी।

प्रभु की निर्मल ज्ञानमयता—प्रभु का ज्ञान व्यवधानरहित है, ऐसा पूर्ण निर्मलज्ञान केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष प्रमाणरूप होता है। वह मूर्त-अमूर्त, चेतन-अचेतन, आत्मा—अनात्मा समस्त पदार्थों को क्रमरहित व्यवधानरहित स्पष्ट जानते हैं। जो इन्द्रियों द्वारा जाने उसका ज्ञान तो है परोक्ष और जो केवल आत्मा को ही जाने उसका

ज्ञान है प्रत्यक्ष। ऐसे इन प्रभु के केवलज्ञान नाम का तीसरा नेत्र प्रकट हुआ है। जिस केवलज्ञान नेत्र के कारण जिनकी महिमा प्रसिद्ध है, जो तीनों लोक के गुरु हैं, शाश्वत अनन्त जिनका तेज है ऐसे तीर्थंकर नाथ जिनेन्द्रदेव केवली प्रभु निर्दोष वीतराग सर्वज्ञ समस्त पदार्थों को एक साथ स्पष्ट जानते हैं। ऐसे सर्वज्ञदेव को हम बड़ी भक्तिपूर्वक पूजने आते हैं। हम जिसे पूजते हैं उसका स्वरूप जानना अत्यन्त आवश्यक है। प्रभु का स्वरूप जाने बिना हमारी प्रभुपूजा कैसी? प्रभुपूजा प्रभु के गुणस्मरण में है और उसका फल यह निकालो कि जो प्रभु में ऐश्वर्य है, स्वरूप है, वही ऐश्वर्य, वही स्वरूप मुझमें है। जिस पथ से चलकर प्रभु निर्दोष हुए हैं उसी पथ से चलकर हम भी निर्दोष हो सकते हैं, ऐसा अपने स्वरूप में उत्साह जगाना, यही केवली प्रभु के गुणानुवाद का फल है।

गाथा 168

पुव्वुत्तसयलदव्वं णाणागुणपज्जयेण संजुत्तं।

जो ण य पेच्छदि सम्मं परावखदिट्ठी हवे तस्स।।168।।

सकलज्ञता—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—इन 6 द्रव्यों में प्रत्येक द्रव्य में नाना गुण हैं। उतने ही उनके सदा परिणमन होते हैं, ऐसे नाना गुण और पर्यायों से सहित समस्त द्रव्यों को जो स्पष्ट जानता है उसके तो प्रत्यक्ष ज्ञान है और जो उन्हें स्पष्ट नहीं जानता है उसके परोक्ष दृष्टि कही गयी है अर्थात् केवलज्ञानी को सकलज्ञ कहा है। केवलज्ञान जिसे न हो उसको सकलज्ञ नहीं कहा गया है।

इन्द्रियावलम्बन की परमार्थतः ज्ञानानन्द में बाधकता—हम आप इन इन्द्रियों के सहारे जानकारी करते हैं, इस कारण पदार्थ की पूरी जानकारी नहीं हो पाती है। जो इन्द्रिय के साधनों से पदार्थों को नहीं जानते किन्तु ज्ञानपुंज इस आत्मा के ही सहारे से जो पदार्थों को जानते हैं उनको स्पष्ट ज्ञान होता है, पूर्ण ज्ञान होता है। ये मोही जीव इन इन्द्रियों के ही सँभाल में लगे रहते हैं, यह जानकर कि ज्ञान का साधन तो ये इन्द्रियाँ हैं, आनन्द का साधन तो ये इन्द्रियाँ हैं, ऐसा समझकर इन इन्द्रियों के पोषण में ही वे निरत रहा करते हैं, लेकिन यह विदित नहीं है कि जब तक इन्द्रिय का आश्रय करते रहेंगे तब तक न समस्त ज्ञान होगा और न शुद्ध आनन्द जगेगा। जैसे इन्द्रियों द्वारा जानने से स्पष्ट परिपूर्ण ज्ञान नहीं होता है ऐसे ही इन्द्रियों द्वारा विषयों के उपभोग करने से आनन्द भी पवित्र पूर्ण नहीं होता है। ज्ञान और आनन्द का बाधक है इन इन्द्रियों का आलम्बन, पर मोही जीव जानता है कि जो कुछ ज्ञान और आनन्द जगता है वह इन इन्द्रियों के साधनों से जगता है। हम आँखों से किसी पदार्थ को देखते हैं तो सामने का भाग तो दिखता है, उसके पीछे क्या है, उस पदार्थ के अन्दर क्या है अथवा रूप के अतिरिक्त और-और गुण क्या हैं, इन सबका कुछ भी भान नहीं होता है। किसी भी इन्द्रिय से जाने, पदार्थ का अधूरा ही कुछ अंश और वह भी अस्पष्ट रूप से जानने में आता है।

समस्त द्रव्यगुणपर्याय के वर्णन का स्मरण—इससे पहिले की गाथा में यह बता दिया गया था कि समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक पदार्थ दो प्रकार के हैं। कोई तो रूपी हैं जो कि इन्द्रियों द्वारा समझ में आते हैं और कुछ अरूपी है जो इन्द्रियों द्वारा समझ में नहीं आ सकते हैं। इन्द्रियों के विषय हैं स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द—ये पाँचों ही चीजें, जिनमें चार तो हैं गुणपर्याय, रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द है द्रव्यपर्याय, ये सब पुद्गल में होते हैं, जिसे लोग भौतिक पदार्थ कहते हैं। भौतिक शब्द का व्युत्पत्यर्थ ऐसा नहीं है जिससे

भौतिक शब्द द्वारा वाच्य पदार्थ ही ग्रहण में आये और दूसरा न आये, किन्तु पुद्गल शब्द इतना संगठित शब्द है कि पुद्गल कहने से रूप आदिक संयुक्त पदार्थ ही ग्रहण में आते हैं, अरूपी पदार्थ ग्रहण में नहीं आते।

पुद्गल का सही अर्थ—पुद्गल की प्रकृति है पुद् और गल। पुद् का अर्थ है पूरण, जो मिलकर परिर्पूण बनाकर कुछ बढ़ाकर अधिक हो जाय और जो गल करके घट जाय उसे कहते हैं गल। ये पदार्थ जितने भी आँखों दिखते हैं, ये ढेर हैं एक एक पदार्थ नहीं हैं, यह भींत ईंटों का ढेर है, ईंट अनेक परमाणुवों का ढेर है, उनके अंश भी सूक्ष्म स्कंधों से बनते हैं, सूक्ष्म स्कंधों में भी अनेक पुद्गल परमाणु मिले हैं। दृश्यमान् समस्त पदार्थ अनन्त परमाणुवों के पिंड हैं। जिस परमाणु के साथ हम आपका कभी व्यवहार भी नहीं चलता है वह परमार्थ चीज है, जिस जिससे व्यवहार चलता है वे सब मायारूप हैं, इनका नाम पुद्गल यथार्थ है, ऐसा अन्य द्रव्यों में नहीं होता कि वे मिल-मिल करके इकट्ठे हो जायें और फिर बिखर कर अलग-अलग हो जायें। जीव-जीव मिलकर एक कभी नहीं हो सकते हैं। जितने जीव हैं वे सब अलग-अलग ही अबद्ध रूप से रहेंगे, पुद्गल में बन्धन हो जाता है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य ये भी कभी मिलजुल नहीं सकते हैं, मिलकर एक पिंड नहीं बन सकते हैं और बिछुड़कर अलग-अलग हो जाने का काम भी पुद्गल में होता है।

द्रव्य की गुण व पर्यायों का संक्षिप्त वर्णन—पुद्गल मूर्त हैं, मूर्त पदार्थ में गुण भी मूर्त होता है। पुद्गल अचेतन हैं, अचेतन पदार्थ के गुण भी सब अचेतन होते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार पदार्थ भी अचेतन हैं, अमूर्त पदार्थ में गुण अमूर्त होता है। जीव चेतन है, चेतन के गुण चेतन होते है। वस्तु के स्वरूप की यह सत्य व्यवस्था जिन ज्ञानी पुरुषों के प्रत्यय में आ जाती है उनके मोह नहीं रहता और वे अपने इस विशुद्ध सम्यग्ज्ञान से अपना पोषण करके अपने को निर्दोष बना लेते हैं। इन पदार्थों में ऐसा स्वभाव पड़ा है कि वे अपनी ही प्रकृति से घटते बढ़ते रहते हैं अर्थात् उनमें पर्याय बदलती रहती है। एक पर्याय का त्यागकर दूसरे पर्यायों का ग्रहण करना यह हानि-वृद्धि का रूप है जैसी कि सूक्ष्मता से षड्गुण हानिवृद्धि बतायी गयी है।

पदार्थों के साधारणगुणों की नियामकता—पदार्थों में 6 साधारण गुण होते हैं। कोई भी पदार्थ हो, जीव हो अथवा पुद्गल हो अथवा अन्य कोई हो उसमें अस्तित्व तो है ही, जिसकी वजह से वह पदार्थ है और वह पदार्थ अपने ही स्वरूप से है पर के स्वरूप से नहीं है। जैसे एक मोटा दृष्टान्त लो। गेहूँ और चनों को कितना ही मिला दिया जाय, पर गेहूँ का स्वरूप गेहूँ में है और चने का स्वरूप चने में है और कदाचित् उन दोनों को पीस दिया जाय, चून बन जाय, फिर भी गेहूँ का स्वरूप गेहूँ में है, चने का स्वरूप चने में है। ऐसे ही इस लोक में छहों द्रव्य एक जगह रह रहे हैं। जिस जगह आप हैं, आप जीव हैं और उस ही जगह इस शरीर के सहारे रहने वाले अनेक त्रस जीव भी हैं, निगोद जीव भी हैं, शरीर भी हैं। धर्म, अधर्म, आकाश तो सर्वत्र हैं ही। कालद्रव्य भी है। छहों द्रव्यों को एक जगह होने पर भी कोई द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य से मिल नहीं सकता है, एक नहीं हो सकता है। एक क्षेत्र में मिलने पर भी सभी द्रव्य अपने-अपने स्वरूप में अपना-अपना परिणमन करते हैं, तो प्रत्येक द्रव्य अपने ही चतुष्टय से है अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से है, पर के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से नहीं है। यही वस्तुत्व गुण है। इस वस्तुत्व गुण के प्रताप से पदार्थों में परिणमन होता है, अर्थक्रिया होती है। यह पदार्थ निरन्तर परिणमता रहेगा, ऐसा भी स्वभाव सब पदार्थों में हैं। कोई पदार्थ खाली नहीं रह सकता कि वह परिणमे नहीं और बना रहे। जो पदार्थ परिणमता नहीं है वह पदार्थ होता ही नहीं है। यदि कुछ है तो वह निरन्तर परिणमन करेगा, ऐसा वस्तु में स्वभाव पड़ा हुआ है और यह ऐसा स्वभाव है कि वस्तु अपने स्वरूप से परिणमेगा, दूसरे की परिणति से नहीं परिणमेगा। हम कुछ ज्ञान करेंगे या सुख शान्ति भोगेंगे तो अपने ही परिणमन से अपने ही परिणमन रूप भोगेंगे, कहीं आपके परिणमनरूप नहीं भोग सकते हैं। प्रत्येक पदार्थ में यह स्वभाव पड़ा है कि वह अपने ही गुण के रूप में परिणमन करेगा,

दूसरे के रूप परिणमन नहीं कर सकता है। इसका नाम है अगुरुलघुत्व। पदार्थ प्रदेशात्मक तो है ही और वह किसी न किसी ज्ञान के द्वारा प्रमेय भी रहता है, यों प्रदेशवत्व और प्रमेयवत्व भी होता है।

कर्तृत्वबुद्धि का अनवकाश—अब इस वस्तु के स्वरूप से यह शिक्षा ले सकते हैं कि वस्तु में निरन्तर स्वभाव का परिणमन ही पड़ा है। जैसा योग मिला, जैसी योग्यता है उस प्रकार वह परिणमता रहता है। जिसमें विभावरूप तो जीव और पुद्गल ही परिणमता है। शेष चार द्रव्य शुद्ध परिणमन रूप परिणमते रहते हैं। किसी पदार्थ का किसी अन्य पदार्थ के प्रति कर्तृत्व नहीं है। जब वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है तब बतावो कहाँ गुञ्जाइश है? जो यह विकल्प कर रहे हैं मोहीजन कि मैं अमुक पदार्थ का यों कर देता हूँ, अमुक पदार्थ को मैंने किया, इस पदार्थ को में कर दूंगा, यह कर्तृत्व का आशय महाविष है। कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ को कर नहीं सकता है और जो माना कि मैं अमुक पदार्थ को कर देता हूँ तो करने वाले के आशय में भी यह बात रहेगी कि में कर देता हुँ। कर्तृत्व बुद्धि का आशय होना, परपदार्थ का अपने को कर्ता समझना यह एक बड़ी भूल है, यह दोष है जो अनहोनी को होनी कल्पित किया जा रहा है फिर भला बतलावो जो उत्कृष्ट आत्मा वीतराग सर्वज्ञदेव हैं, उनके प्रति जो यह भाव करता है कि यह जगत को रचते हैं, हम लोगों को सुख देते हैं, पुण्य-पाप कराते हैं, सद्गति, दुर्गति देते हैं, तो यह ईश्वर पर कितना बड़ा भारी अपराध थोपना है और उनके स्वरूप को बिगाड देना है?

प्रभु का ज्ञानानन्दस्वरूप—प्रभु तो उत्कृष्ट ज्ञान और आनन्द के पिंड हैं, उनका स्वरूप केवलज्ञान ज्योतिर्मय है, वे समस्त लोकालोक के पदार्थों को स्पष्ट जानते हैं और किसी पदार्थ के जानने से अपने आपमें कोई आकुलता नहीं उत्पन्न करते हैं। जिनके आकुलता उत्पन्न करने का साधन नहीं है उनके तो शुद्ध आनन्द का ही साधन है। आनन्द का अविनाभाव ज्ञान परिणमन से है, लेकिन मोही जीवों में ज्ञान के साथ-साथ राग और द्वेष भी पड़े हुए हैं ना, इच्छा भी लग रही है ना। इस कारण वे इच्छा के ही कारण दु:खी होते हैं और अपराध लादते हैं ज्ञान पर। यदि यह बात ज्ञान में न आयी होती तो हमें कष्ट न होता, लोग ऐसा मानते हैं। कोई बाहर कहीं दुकान हो, फर्म हो और वहाँ से खबर आ जाय कि इस वस्तु के बेचने में दो लाख का नुकसान हुआ है तो यह दु:खी हो जाता है। नुकसान हो भी गया हो, और खबर आ जाय कि दो लाख का फायदा हुआ है तो नुकसान होकर भी यह तो सुखी नजर आ रहा है, तो वह यों कहता है कि मुझे तो इस ज्ञान ने दु:खी किया। अरे, ज्ञान दु:ख का साधन नहीं होता। उस ज्ञान के साथ जो रागद्वेष, मोह, वाञ्छा का पाप लगा हुआ है इस पाप ने दु:खी किया है। ज्ञान तो उत्कृष्ट आनन्द का ही साधक है।

अवस्थायें—इन पदार्थों की जो पर्यायें हमारे ज्ञान में आ रही हैं वे सब दशाएँ स्थूल दशाएँ हैं। सूक्ष्म पर्याय तो अर्थ पर्याय है जो आगम प्रमाण से जानी जाती है। प्रतिसमय, प्रतिक्षण अनन्त भाग वृद्धि आदिक बारह प्रकार से तो बढ़ते हैं और उस ही प्रकार से हानि को प्राप्त होते हैं। यह क्रम प्रत्येक पदार्थ में लगा हुआ है। वह अपने मूल में सूक्ष्मता से निरन्तर अर्थपर्यायरूप परिणमते हैं, ऐसी सूक्ष्म परिणतियाँ प्रत्येक पदार्थ में पायी जाती हैं। अब जरा अपने मुतआल्लक कुछ निगाह कीजिए। यह जीव आज किस स्थिति में दबा पड़ा हुआ है? कोई मनुष्य है, कोई नारकी है, कोई देव है, कोई पशु पक्षी स्थावर आदिक हैं, ऐसी जो नाना व्यञ्जनपर्यायें हुई हैं वे संसार प्रपंचों की पर्यायें हैं। आत्मा का शुद्धस्वरूप तो केवल ज्ञानानन्द मात्र है, किन्तु जो अपने इस ज्ञानानन्दस्वरूप को नहीं पहिचान पाते, वे परपदार्थों से कुछ न कुछ आशा लगाये रहते हैं। उनके इस अन्तर के कलुषित परिणामों में अनेक कर्मों का बंध होता है उसके उदयकाल में जीव की ये नाना दशायें होती हैं।

वीतराग सर्वज्ञ प्रभु का भजन-पूजन करने आयें तो यही निरखने आयें कि हे प्रभु ! जब तक आपकी तरह कैवल्य प्राप्त न हो जायेगा, जैसे कि अब आप केवल आत्मा ही आत्मा हैं, आपमें न अब रागादिक

विभाव हैं, न कर्मों का बन्धन हैं, न शरीर का बन्धन है, निर्दोष ज्ञानपुञ्ज आनन्दघन जैसा कि केवल आपका स्वरूप रह गया है ऐसा स्वरूप जब तक हमें प्राप्त न हो, हमारे संकट मिट न सकेंगे।

संससारभ्रमण और परोक्षदृष्टि—संसार का यह परिभ्रमण बहुत विकट जंगल है। यहाँ मनुष्य पर्यायों में कुछ थोड़े से दु:खों को मानकर हम आकुलित होते हैं और कदाचित् मनुष्यभव छूट कर तिर्यञ्च पशुपक्षी कीट मकौड़े का भव मिल जाय तो यहाँ भी क्या विवेक काम देगा? हमारा शरण हमारा निर्मल परिणाम है, दूसरा और कुछ हमारा शरण नहीं है, ये नर-नारकादिक पर्यायें हमारी ही करतूत के फल हैं। हम मलिनता त्याग दें, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र का विशुद्ध पालन करें तो ये सब झंझट समाप्त हो सकेंगे। प्रभु का ज्ञान समस्त पदार्थों को विधिवत् जानता है। ये पुद्गल के नाना परिणमन हैं। कोई सूक्ष्म हैं और कोई उससे स्थूल हैं, कोई उससे स्थूल हैं, कोई उससे सूक्ष्म हैं, कोई उससे सूक्ष्म हैं। ऐसे 6 प्रकार के परिणमनों में पाये जाने वाले ये स्कंध पर्यायें हैं। धर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य इनका तो निरन्तर शाश्वत शुद्ध परिणमन ही चलता है, ऐसे अपने-अपने गुण और पर्यायों से संयुक्त इस पदार्थ को जो नहीं देख सकते हैं ऐसे संसारी जीवों के परोक्षदृष्टि होती है।

प्रभु की निर्बाध परप्रकाशकता—भगवान प्रभु तो प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा समस्त सत् को एक साथ स्पष्ट जानते हैं। यह चर्चा इस प्रकरण में चल रही है कि यह आत्मा स्व का प्रकाशक है और पर का भी प्रकाशक है। उन दो पक्षों में से स्वप्रकाशकता को भली भाँति सिद्ध कर चुके थे। यहाँ उपसंहाररूप में परप्रकाशकता का वर्णन चल रहा है। जो भी सत् है वह नियम से प्रभु के ज्ञान में ज्ञात है। जो प्रभु को ज्ञात नहीं वह है ही नहीं, जो नहीं है वह कैसे ज्ञात हो? जो है वह ज्ञान में से कैसे ओझल हो? जिनका ज्ञान केवल आत्मा के नाते से चल रहा है उनको किसी पदार्थ की अटक नहीं होती है।

इन्द्रियजज्ञान की सव्याबाधता—भैया ! हम इन्द्रिय से जानते हैं तो भींत के पीछे क्या है? हम नहीं पहिचान सकते हैं किन्तु जो इन्द्रिय से नहीं जानते, केवल आत्मीय शक्ति से जानते हैं उन प्रभु के ज्ञान में किसी चीज की आड़ आ ही नहीं सकती है, पर सिद्ध प्रभु लोक के अंत में विराजे हैं और वहीं विराजे हुए लोक के और अलोक के समस्त द्रव्य, गुण, पर्यायों को जानते रहते हैं। जैसे कोई पुरुष किसी कमरे में खड़ा हो, उस कमरे में चार-पाँच खिड़कियाँ हैं। वह पुरुष बाहर का कुछ ज्ञान कर सकता है तो उन खिड़कियों के सहारे ज्ञान कर सकता है। कभी किसी खिड़की से देखे, कभी किसी खिड़की से देखे। बाहर के पदार्थों को जानने का साधन/द्वार/माध्यम खिड़कियाँ हैं, पर यह तो बतावो कि क्या इन खिड़कियों ने जाना है? जाना तो पुरुष ने है। कदाचित् उस कमरे की सब खिड़कियाँ तोड़ दी जायें और भींत को तोड़कर बिल्कुल साफ मैदान कर दिया जाय तो क्या वह पुरुष सब तरफ से न जान लेगा? अब कहाँ खिड़कियाँ रहीं? खिड़कियों के सहारे जानने वाली बात अब कहाँ विराजेगी उस पुरुष को तो अब चारों ओर से स्पष्ट दिखने लगेगा। ऐसे ही कोई पुरुष आत्मा जो कि देह के बन्धन में पड़ा हुआ है, कर्मों के बन्धन में पड़ा हुआ है उस पुरुष को इन पञ्चेन्द्रियों की खिड़कियों से ही कुछ ज्ञान होता है।

इन्द्रियजज्ञान में नियतज्ञता व अतीन्द्रियज्ञान में सकलज्ञता—इन्द्रियों के आलम्बन से होने वाला ज्ञान नीयत है। ऐसा भी नहीं है कि कान के द्वारा हम सब तरफ की बात जान जायें, केवल शब्द ही जान पायेंगे। आंखों के द्वारा हम रूप, रस, गंध, स्पर्श सब जान जायें ऐसा नहीं होता। आँखों से केवल हम रूप ही जान सकते हैं। नाक से केवल गंध का ही ज्ञान कर पाते हैं, जिह्वा से केवल रस की ही परख कर पाते हैं और स्पर्शन इन्द्रिय से हम केवल ठंडा, गर्म आदिक स्पर्श ही जान पाते हैं। कैसी विभिन्नता है? जीभ पर कोई गर्म चीज रख दी जाय खाने के लिए तो उसमें जो रस आ रहा है वह तो रसना इन्द्रिय से किया जा रहा है और जो गर्मी जितने में आ रही है वह रसना इन्द्रिय से नहीं, स्पर्शन इन्द्रिय से जानने में आ रही है। यों इन

खिड़कियों वाला यह देह है। बद्ध संसारी आत्मा कुछ थोड़ा-थोड़ा जान पाता है। कल्पना करो कि जिस आत्मा के देह भी नहीं रहा, कर्मबन्धन नहीं रहा, केवल ज्ञानपुञ्ज रह गया है, जिसे अखण्ड और शुद्ध कहते हैं, ऐसी स्थिति में अब ज्ञान-इन्द्रिय के सहारे क्या करेंगे? वे तो आत्मीय शक्ति से सर्व ओर से सबको जानते हैं। यों यह आत्मप्रभु निर्दोष वीतराग सर्वज्ञ समस्त सत् पदार्थों को जानते हैं।

ज्ञानाभिमान तजने व सहजज्ञानावलम्बन करने का अनुरोध—प्रभु का ऐसा व्यापक परप्रकाशक ज्ञान है जो इन तीनों लोकों को एक ही समय एक ही साथ तीनों कालों की सब परिस्थितियों को जान जाता हैं। जो यों सकल पदार्थों को नहीं जान सकते हैं वे सर्वज्ञ नहीं है, कोई अपने ज्ञान का अभिमान करे तो वह व्यर्थ है। उसकी प्रत्यक्ष दृष्टि नहीं है। जड़बुद्धि पुरुष ही छोटे-छोटे ज्ञान पर अभिमान किया करते हैं। अरे ! भगवान सर्वज्ञ का ज्ञान तो देखो—उसके समक्ष क्या ज्ञान पाया है? अरे ! अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूप का आलम्बन लेने से ही ऐसा परिर्पूण केवलज्ञान प्रकट होता है, इस प्रकार संकल्प—विकल्प, मोह-अहंकार को तजकर यह यत्न करें कि हम अपने शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप का ही दर्शन करते रहें।

गाथा 169

लोयालोयं जाणइ अप्पाणं णेव केवली भवयं।

जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ।।169।।

व्यवहारनय से परप्रकाशकता का समर्थन—केवली भगवान लोक और अलोक को जानते हैं। आत्मा से नहीं जानते हैं, ऐसा यदि कोई व्यवहारनय की दृष्टि रखकर कहता है तो उसको क्या दूषण होता है? इस गाथा में व्यवहारनय की अपेक्षा केवली भगवान के ज्ञान का निर्णय किया है। प्रत्येक आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान का काम जानने का है। किसी भी पदार्थ का कोई भी गुण, कोई भी शक्ति खाली नहीं रह सकती। प्रत्येक शक्ति प्रति समय अपना काम करती है। आत्मा में ज्ञान शक्ति है जिस शक्ति के प्रताप से यह आत्मा निरन्तर जानता रहता है। यह जानन ज्ञेयाकारग्रहणरूप है जिससे ज्ञेयों का जानना-सिद्ध ही है।

सर्व आत्मावों के ज्ञानस्वरूपत्व का स्मरण—आत्मा शब्द का अर्थ ही यह है—'अतति सततं गच्छति जानाति इति आत्मा।' जो निरन्तर जानता रहे उसका नाम आत्मा है। कोई भी स्थिति हो, कैसी भी स्थिति हो, आत्मा का ज्ञान बंद नहीं होता। जिसे जैसी योग्यता मिली है वह अपनी योग्यतानुसार जानता ही रहता है। पर हम आप मनुष्य हैं, जरा विशेष अनुभव हैं। क्या ये पशु पक्षी नहीं जानते हैं? ये भी चलते फिरते नजर आते हैं। ये भी हाँकने की आवाज देने से चलने लगते हैं। खड़े होने का संकेत देने से अर्थात् पुचकारना आदि करने से वे खड़े हो जाते हैं। इससे हम सभी सुगमतया जान जाते हैं कि इनमें जानने की शक्ति है। पर जो कीड़ा, मकोड़ा, पशु, पक्षी आदिक हैं क्या ये नहीं जानते हैं? इनमें भी हम इससे अनुमान कर लेते हैं कि वे चीजें उठाकर ले जाते हैं। जैसे मीठा आदि कोई चीज हुई तो ये चींटा-चींटीं आदि उठाकर ले जाया करते हैं। ये जमीन में अपना घर भी बनाते हैं। इन सब बातों को देखकर वहाँ भी यह अनुमान कर लिया जाता है कि इन कीड़े-मकौड़ों में भी निरन्तर जानते रहने की शक्ति है। ये जो पेड़-पौधे खड़े हुए हैं, क्या ये समझते नहीं हैं? इनमें भी जानने समझने की शक्ति है। उनकी योग्यता कुछ कुण्ठित है इस कारण वे खुद को अपनी ही तरह जानते हैं उसे हम आप लोग पहिचान नहीं पाते हैं। लेकिन हरा-भरा होना, सूख जाना आदि इन सब बातों को देखकर यह अनुमान किया जाता है कि इनमें भी जान है। और जिनमें जान है वे जानते ही रहते हैं, यह तो संसारी जीवों की बात है। यही जीव अपना विकास कर-करके जब मनुष्यपर्याय में आया और वहाँ

सम्यग्ज्ञान जगा, वैराग्य हुआ, अपने इस आनन्द के निधान आत्मा की ओर झुकाव हुआ, इस आत्मा भगवान का आलम्बन लिया तो इसके प्रताप से वे कर्मों का विनाश करके केवली प्रभु हो जाते हैं। ये समस्त लोकालोक को युगपत् जानते रहते हैं।

आत्मा की प्रभुस्वरूपता का ज्ञान—भगवान प्रभु कोई विलक्षण चीज हैं, हमसे न्यारी जाति के हैं, ये शासक हैं, हम उनके शासन में रहने वाले हैं ऐसी बुद्धि रख-रखकर उनको न देखें किन्तु वे मेरी ही जाति के हैं, मेरा भी स्वरूप उनके जैसा हो सकता है ,विशेषता तो वीतरागता और सर्वज्ञता की है। रागद्वेषादिक विकार जब नहीं रहे तो वीतरागता हो जाती है, और यह ज्ञान जब इन्द्रिय की अपेक्षा न रखे, केवल अपने ही ज्ञान का आलम्बन ले तो इसमें ऐसी शक्ति प्रकट होती है कि आत्मा की ही शक्ति से समस्त लोकालोक को जानने लगता है। ये सब स्वरूप मैं हो सकता हूँ, ऐसी जिसके अन्दर भावना नहीं है उसे वास्तविक मायने में जैन नहीं कहा जाता है।

अपनी परख और कर्तव्य—भैया ! अपने द्रव्य की बात टटोलो। इस जीवन से जीकर मैंने अपना उद्देश्य क्या बनाया है, धन जोड़-जोड़कर क्या किया जायेगा, क्या होगा उसका? आखिर सब कुछ छोड़कर तो जाना ही होगा। फिर यहाँ का कुछ भी समागम हमारे काम न आयेगा। जिस गति में जायेगा यह जीव उसही गति के योग्य सुख-दु:ख भोगेगा। धन कमाते रहने का ही संकल्प और प्रोग्राम न होना चाहिए। क्या करना है इस जीवन में? ये मायामयी पुरुष जो सभी कर्म और कषायों के प्रेरे हुए हैं खुद ही अशरण हैं। यहाँ के मायामयी लोगों से कुछ अपनी प्रशंसा के शब्द सुनने को मिले, क्या इतने भर प्रयोजन के लिए यह हमारा अमूल्य जीवन है? वह भी सारभूत नहीं है। हमारे जीवन का प्रयोजन यही हो कि हमें ज्ञानभावना करना है, मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, इस प्रकार की प्रतीति रखकर सदैव इतनी ही भावना बनानी है। जैसे हम अपने मन में सैकड़ों विकल्प बना रहे हैं, बजाय उन विकल्पों के अधिकाधिक समय ज्ञानस्वरूप मैं हूँ, ज्ञानमात्र मैं हूँ, ऐसी भावना में व्यतीत होना चाहिए।

प्रभुता का पथ—प्रभु जो केवली हैं, अरहंत सिद्ध हैं उन्होंने केवल ज्ञानभावना ही भायी थी जिसके प्रसाद से कर्मों को दूर कर आज सर्वज्ञ हुए हैं और उनके चरणों में हम सब भक्त जन नमस्कार करते हैं। यही स्वरूप मेरा है। जिस पथ को उन्होंने अपनाया था उसी पथ से हम आप भी चल सकते हैं। वह पथ है रत्नत्रय का पथ। उस पथ पर हम भी चल सकते हैं। मैं ज्ञानमात्र हूँ, ऐसी भावना रहे, ऐसी श्रद्धा रहे, ऐसा ही उपयोग स्थिर रहे तो एक ज्ञानस्वरूप के ग्रहण के प्रताप से वे समस्त वैभव मिल जायेंगे जो वैभव प्रभु के प्रकट हुए हैं। अपने को प्रभुस्वरूप निहारकर प्रभु की टोली में अपना शुमार करो। मोहियों की टोली में अपना शुमार न करो।

हितकारी झुकाव का निर्णय—जीव के दो ही तो प्रकार हैं—संसारी जीव और मुक्त जीव। यद्यपि हम संसारी हैं, किन्तु अपना झुकाव कहाँ होना चाहिए? संसारियों में रुलने-मिलने का झुकाव होना चाहिए या जो प्रभु का स्वरूप है ऐसे ही स्वरूप के स्वभाव वाला में हूँ ऐसी चिन्तना करके प्रभु की ओर झुकाव होना चाहिए। जीवन में निर्णय तो कर लो। यह निर्णय ठीक न हो सके तो जीवन विक्षिप्त रहेगा; मन यत्र-तत्र डोलेगा और अपना निर्णय सही हो जायेगा तो जीवन स्वर्णिम हो जायेगा। अब तक के अनुभव के आधार पर भी आप जान जायें कि हमारा प्रेम हमारा मोह परिजनों से, धन वैभव से सब से रहा, क्या उस मोह के फल में आत्मा में कुछ विकास हुआ है? क्या आत्मा में कुछ शान्ति हुई है? अरे ! न भी शान्ति हो लेकिन कुछ मौलिक शान्ति होने योग्य कुछ शान्तिमय स्वरूप का स्पर्श भी किया क्या? यह सब जो कुछ भी किया गया है वह असार और व्यर्थ है। प्रभु केवली के स्वरूप को निरखकर उनकी ओर ही झुकाव हो, उन जैसा बनने का ही प्रोग्राम हो, मैं ऐसा हो सकता हूँ, ऐसा अपने आपमें दृढ़ विश्वास हो तो प्रभु पूजा सफल है।

प्रभु का ज्ञान और आनन्द—केवली भगवान के ज्ञान के सम्बन्ध में यह प्रसंग चल रहा है कि प्रभु जानते क्या हैं? कितने ही लोग तो ऐसी भी शंका कर बैठते हैं कि भगवान अब अकेले रह गये हैं, सिद्ध लोक में विराजमान् हैं, उनका किसी भी दूसरे के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है तो वह अकेले ही सिद्ध लोक में विराजे-विराजे क्या करते होंगे? उनका जी कैसे लगता होगा? यहाँ तो कुटुम्ब हैं, मित्रजन हैं, कारोबार हैं, उपयोग फँसा रहता है, समय ठीक निकल जाता है, पर प्रभु का समय कैसे कटता होगा, ऐसी भी कुछ जन आशंका कर बैठते है, लेकिन यह तो बतावो कि यहाँ हम आप लोगों को जो काम करने पड़ते हैं वे सब काम आकुलता के कारण किया करते हैं या निराकुलता के कारण किया करते हैं? हमारे इन सब कामों में आकुलता ही कारण है। काम न करना पड़े ऐसी स्थिति आये तब निराकुलता होती है। मेरे करने को अमुक काम पड़ा है, ऐसी बुद्धि जब तक रहती है तब तक आकुलता रहती है।

वस्तु का परिपूर्ण स्वरूप और पर में अकर्तृत्व—हम आपका स्वरूप परिपूर्ण है, इस देहमंदिर में विराजमान् यह आत्मा भगवान अपनी शक्ति से परिपूर्ण है, यहाँ अधूरापन भी कुछ नहीं है। ज्ञान और आनन्द का यह निधान है। इसका स्वरूप ही ज्ञान और आनन्द है। अलग से और कुछ रूप नहीं है, ज्ञान और आनन्द—इन दो गुणों को निकाल दो अर्थात् न मानो तो फिर आत्मा नाम की कुछ चीज ही न रहेगी। यह ज्ञान और आनन्द का पिण्ड है। यह जो कुछ कर पाता है अपने आपमें ही किया करता है, अपने से बाहर किसी भी परपदार्थ में कुछ भी परिणमन करने की सामर्थ्य अपने में नहीं है।

अकर्तृत्व के भाव में अनाकुलता का वास—कोई बालक आपकी आज्ञा के विरुद्ध चल रहा हो, बड़ा हो गया है, कमाने वाला भी हो गया है, उसे परवाह ही नहीं है आपकी, और वह आपकी आज्ञा न मानता हो तो आप अपने चित्त में कुड़ कर रह जाते हैं। आप कर क्या सकते हैं उसका? ऐसे ही समझो कि जब बालक छोटा भी हो, आपकी आज्ञा भी मानता हो तब भी आप बालक का कुछ नहीं कर रहे हैं, तब भी आप केवल अपनी ही कल्पनाएँ बना रहे हैं। बाह्य वस्तु चाहे मेरे मन के अनुकूल भी बन जायें तो भी मैं बाह्यवस्तु का कर्ता नहीं हूँ और कभी कोई चीज मेरे प्रतिकूल भी हो जाय तो मैं किसी परचीज का कर्ता नहीं हूँ, मैं सर्वदा अपना ही परिणमन किया करता हूँ। मेरे करने योग्य काम कुछ बाहर में है ही नहीं।

अपना पर में अकर्तृत्व—जो जीव मोह और प्रेम में आकर परिश्रम करते हैं वे भी किसी से मोह और प्रेम नहीं करते हैं, अपने आपमें ही मोह और प्रेम का परिणमन किया करते हैं। इस आत्मा की देह से आगे कुछ करतूत नजर ही नहीं आती। देह में भी करतूत नजर नहीं आती। शरीर जब बड़ी उम्र का हो जाता है तो बूढ़ा होना पड़ता है। क्या यह जीव चाहता है कि मैं बूढ़ा हो जाऊँ, क्या यह चाहता है कि मेरा शरीर दुर्बल और क्षीण हो जाय, क्या यह दु:ख चाहता है? पर होना पड़ता है। हमारा वश जब शरीर पर नहीं चल सकता तो अन्य जीवों पर या अन्य वैभव पर तो क्या वश चलेगा? यह तो सब पुण्योदय का ठाठ है। जिसने जैसा पूर्वभव में सुकृत किया, निर्मल परिणाम किया, दया, दान, परोपकार, सबके सुखी रहने की भावना, अपने विषयों पर विजय आदिक पुण्य के कार्य किये उनका फल है यह जो कुछ समागम प्राप्त हुआ है। क्या किसी के हाथ पैर सिर धन कमाया करते हैं? यह जब आता है तो आपको भी विदित नहीं होता है कि किस ढ़ंग से आ गया और यह वैभव जब जाता है तो आपको भी विदित नहीं होता है कि यह वैभव किस रास्ते से जायेगा? यह तो पुण्य और पाप के अनुसार होने वाली बात है। उसे कोई जीव यों मानते हैं कि मैं कमाता हूँ उसमें कर्तृत्व की बुद्धि लादें तो वह पाप कर रहा है।

पाप और महापाप—बाहर में हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह—ये पाँच पाप माने गये हैं। किसी जीव का दिल दु:खाना, प्राण लेना हिंसा है, किसी के सम्बन्ध में झूठ बोलना झूठ है, हिंसा है, पाप है। किसी की चीज चुरा लेना चोरी है, हिंसा है, पाप है। किसी परस्त्री पर, परपुरुष पर मन में विकार लाना कुशील है,

पाप है, हिंसा है और परिग्रह में बुद्धि फँसाये रहना, खूब परिग्रह जोडना, मैं अधिक से अधिक धनी कहलाऊँ ऐसा भाव करना पाप है, हिंसा है। ठीक है इन सब 5 पापों से भी मूल में महान पाप अज्ञान है। जिस जीव के अज्ञान होता है उसको सदैव महापाप लगता रहता है।

अज्ञान का महापाप—कोई यह सोचे कि जानकार मनुष्य तो जान-बूझ कर पाप करते हैं, इसलिए अधिक पाप होता होगा और कोई मूर्ख देहाती अथवा ये कीड़े-मकौड़े, पशुपक्षी ये मनुष्यों जैसा जान नहीं पाते, छल, कपट, झूठे लेख आदि नहीं कर पाते, इनमें कम पाप लगता होगा, ऐसा नहीं है। जिस जीव के अज्ञान पड़ा हुआ है उसके महापाप अपने आप है। भला सामने कोई थोड़ी सी आग पड़ी हो, दो चार अकुल का जलता हुआ कोयला पड़ा हो, आप उसे देख रहे हैं, किसी ने पीछे से धक्का मारा, आपको आगे बढ़ना ही पड़ा और आग पर आपका पैर पड़कर चलना हो तो आप कितनी जल्दी पीछे से पैर रखकर आगे निकल जाते हैं, आप ज्यादा चल नहीं पाते हैं क्योंकि आपके ज्ञान में है कि यह आग है और आग पर पैर रक्खेंगे तो पैर जल जायेगा। किन्तु पीछे आग पड़ी हो, जहाँ आपके ज्ञान में भी नहीं है और किसी वजह से आपने अपना पैर पीछे रक्खा है तो आप उसमें ज्यादा जलेंगे, क्योंकि उस आग का आपको ज्ञान नहीं है। इसी तरह जो पुरुष समझदार है, जानकार है कि अमुक चीज में पाप लगता है और इस पाप का फल बुरा होता है ऐसा अनुभव होने पर पूर्वकृत कर्मों की प्रेरणा से कदाचित् करना भी होता है तो वह उस चीज में आसक्त होकर नहीं करता है। जिस जीव को अपने स्वरूप का भान ही नहीं है, पर के स्वरूप का भी यथार्थ परिज्ञान नहीं है और विषय कषायों से हमारी बरबादी है ऐसा कुछ भान नहीं है उसके निरन्तर महापाप चलता रहता है। अज्ञान सबसे बड़ा पाप है।

प्रभु का तृतीय नेत्र—प्रभु का ज्ञान इतना निर्मल है कि वह समस्त लोक और अलोक को जानता है, जो कुछ भी है वह सब प्रभु के ज्ञान में ज्ञात है। व्यवहारनय से, यह भगवान चूँकि केवल ज्ञानरूपी तीसरा नेत्र उनके प्रकट हुआ है सो वे अरहंत भगवान, सकल परमात्मा, महादेव हैं, जिनका कि हम आप लोग स्तवन करते हैं। वह तीसरा नेत्र है केवलज्ञान, जिस ज्ञान के द्वारा समस्त विश्व को ये जानते रहते हैं। यह सकल परमात्मा जीवनमुक्त है, शिवस्वरूप है। शिव नाम है कल्याण का। यह कल्याणमय शिवस्वरूप परमात्मा केवलज्ञानरूप तृतीय लोचन से विभूषित हैं। ये अब अपुनर्भव पद को पायेंगे जहाँ से फिर संसार न होगा, ऐसी मुक्ति को प्राप्त करेंगे और अनन्त काल तक जैसा कि सब कुछ आज जाना, जानते रहेंगे।

वस्तुस्वातन्त्र्य—यह लोक छह प्रकार के द्रव्यों से भरा हुआ है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनके बाहर सब आकाश ही आकाश है। प्रभु लोक व अलोक सबको जानते हैं, इस व्यवहार की प्रधानता से हमें यह देखना है कि प्रभु समस्त बाह्य पदार्थों को जानते हैं, यों प्रभु के ज्ञान के स्वरूप का विचार करने में चतुर ज्ञानी पुरुष प्रभु का स्वरूप कह रहा है। यह समस्त जगत उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप है। एक-एक अणु, हम आप सभी जीव व समस्त पदार्थ निरन्तर नवीन-नवीन परिणतियों में गुजरते हैं, और पुरानी-पुरानी परिणतियों को विलीन करते रहते हैं, ऐसा वस्तु का स्वरूप है। किसी के स्वरूप को कोई दूसरा बदल नहीं सकता है, किसी के सुख को कोई दूसरा पैदा नहीं कर सकता, किसी जीव के दु:ख को कोई दूसरा जीव दे नहीं सकता। सब केवल अपने ही सुख-दु:ख के कर्ता भोक्ता, अपने ही विकल्पों में अनुभव करने वाले हैं। कभी सम्यक्त्व जग जाय, सुभवितव्यता आ जाय तो यह जीव अपने को निर्विकल्परूप में अनुभव कर लेता है। यह जीव अपने को ही करता है, दूसरे को कोई कुछ नहीं कर सकता है। ये चेतन, अचेतन समस्त संसार निरन्तर परिवर्तन करते जा रहे हैं, किसी दूसरे के प्रवर्तन में हमारा कोई दखल नहीं है।

शान्तिकारक प्रत्यय—देखिये, अपने आपमें शान्ति का अनुभव करना हो तो यह विश्वास अभी बना लीजिए कि मैं जो कुछ करता हूँ अपने का ही कर पाता हूँ, दूसरे पदार्थ में तीन काल भी मेरा दखल नहीं है, मेरा दखल किसी पर में न पहिले था, न वर्तमान में है और न आगे होगा। हम अपना ही काम कर रहे हैं, आप अपना ही काम कर रहे हैं, भले ही आपका प्रेम, आपकी जिज्ञासा हमारे ज्ञान में जगे और उसकी प्रेरणा से हम कुछ बोलने लगें और आपको कुछ मन में कल्याण की भावना जगे और उससे प्रेरित होकर आप अपने आपमें इस जिनवाणी के शब्दों का कुछ मनन करने लगें तो आपने अपने में अपना काम किया, हमने अपने में अपना काम किया। न हम आपमें कुछ कर पा रहे हैं और न आप हममें कुछ कर पा रहे हैं, ऐसा यह वस्तु का स्वतंत्रस्वरूप है। ऐसी जो दृष्टि बनाए उसको कभी अशान्ति नहीं हो सकती।

प्रभु का हितमय उपदेश—इस लोक में हमारा अधिकारी, हमारा शरण, सर्वस्व, हमारा रक्षक अन्य कोई नहीं है। हम ही ढंग से चलें, ढंग से रहें, ढंग से सोचें तो हम अपने में शान्ति पा सकते हैं। दूसरे के हाथ की बात नहीं है कि कोई हमें शान्ति दे। प्रभु अरहंतदेव भी स्पष्ट घोषणा कर रहे हैं कि हे जीव ! यदि तुम संसार के संकटों से सदा के लिए दूर होना चाहते हो तो पहिले तो हमारे ध्यान का आलम्बन लो, कोई हर्ज नहीं, लेकिन अन्त में मेरे ध्यान का भी आलम्बन छोड़कर तुम्हें अपनी ही शुद्ध, अभेद, ज्ञानस्वरूप का ध्यान करना होगा तो संसार के संकटों से छूट जावोगे। जैनसिद्धान्त ने स्वतंत्रता का महाघोष किया है। प्रत्येक वस्तु अत्यन्त स्वतंत्र हैं।

स्वातन्त्र्य की सत्तासिद्धता—जैसे भारत में कुछ वर्ष पूर्व यह नारा बुलन्द किया गया था कि स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। यह हुकूमत करने वाली सरकार, विदेशी सरकार हम लोगों पर हुकूमत करना छोड़ दे, हमें हमारा शासन दे। स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, यह नारा पहिले उठाया गया था, किन्तु वस्तु में तो यह नारे वाली बात स्वयमेव पड़ी हुई है। प्रत्येक वस्तु का यह प्रकट घोष है कि स्वतंत्रता मेरा सत्तासिद्ध अधिकार है। चूँकि हम सत् हैं अतएव पूर्ण स्वतंत्र हैं। जो है वह स्वतंत्र हुआ ही करता है। यों जब सब पदार्थ स्वतंत्र हैं, अपने आपमें अपना परिणमन कर रहे हैं तो मैं किसका कर्ता हूँ और किसका भोक्ता हूँ? मैं सबसे निराला केवल अपने स्वरूपमात्र हूँ। मैं अपने ज्ञानस्वरूप हूँ, इस प्रकार की ज्ञानभावना जगे और हम परमात्मा के निकट, उनकी ओर अपना उपयोग बनाये रहें तो हमारा जीवन सफल है।

गाथा 170

णाणं जीवसरूवं तम्हा जाणेइ अप्पगं अप्पा।

अप्पाणं णवि जाणइ अप्पादो होदि विदिरित्तं।।170।।

आत्मा की ज्ञानमयता—यह आत्मा ज्ञान और आनन्द स्वरूप है। इन्द्रियों को संयत करके, अपनी इन्द्रियों को विषयों में न लगाकर अपने आपकी ओर यह झुके तो एक परम विश्राम मिलता है। जिसे किसी भी वस्तु की चिन्ता नहीं रहती है ऐसी स्थिति में यह स्वयं अनुभव कर लेता है कि मैं केवल ज्ञानमात्र हूँ मेरा ज्ञानस्वरूप ही वैभव है, ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ वैभव नहीं है।

बहिर्मुखता में ज्ञानमयता का अपरिचय—जहाँ इन इन्द्रियों को केन्द्रित न करके जैसे आँखों देखा और अनेक मायामय जीव नजर आने लगे यों सभी उन मोहियों में अपना उपयोग फँसायें तो आत्मदृष्टि नहीं रहती, पर्यायबुद्धि हो जाती है। पर्यायबुद्धि से ही मोही जीव इस शरीर को ही निरखकर कहते हैं कि यह मैं हूँ, ये

दूसरे हैं। यह बाहरी दुनिया जिसमें सारे शरीर ही नजर आ रहे हैं एक अन्धकार को उत्पन्न कर देती है। मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूँ। मैं क्या हूँ इसको अधिकाधिक अन्तर में प्रवेश करके निरखते जाइए तो यह विदित होगा कि जो कुछ मैंने मान रक्खा है वह सब मैं नहीं हूँ।

पर का असहयोग—भैया ! एक मोटी सी बात है, जब तक जीवन है, लोगों के बीच रहना है तब तक यह नाच चल रहा है। इस देह को छोड़कर चले गये तो फिर मेरे साथ क्या रहेगा? यहाँ का कोई पदार्थ मेरे साथ नहीं रह सकता। लाखों का, करोड़ों का वैभव भी संचित कर लें, उस सबको भी छोड़कर अकेले ही जाना पड़ता है। मेरे साथ तो यह तन भी नहीं जाता है। फिर क्या-क्या चीजें जाती हैं इस जीव के साथ? इसके साथ जो कर्म बँधे हैं वे साथ जाते हैं। ये कर्म पौद्गलिक हैं, रूप, रस, गंध, स्पर्श वाले हैं, किन्तु इतने सूक्ष्म हैं कि पहाड़ और काच आदि कुछ भी आड़े आ जायें, जैसे जीव उन वज्रों के पटल के बीच से भी साफ निकल जाता है, ऐसे ही ये कर्म भी जीव के साथ बँधे-बँधे यों ही साफ निकल जाते हैं। इन कर्मों का रंग सिद्धान्त में श्वेत कहा गया है, इनका फल तो काला है, खोटा है, संसार में रुलाना है। ये कर्म जब उदय में आते हैं तो नाना प्रकार की खोटी बुद्धि हो जाती है।

व्यर्थ का विकल्प और क्लेश—इस जीव को अशान्ति कहीं नहीं है, दु:ख कहीं नहीं है, खूब निरख लो। जितना यह मैं आत्मा हूँ उतना ही मैं अपने को निरखूँ तो वहाँ कष्ट नहीं है। अन्य जीवों को चित्त में पकड़ करके कष्ट बनाया जाता है। क्या उन अन्य जीवों के भी कर्मों का उदय नहीं है? किसी के पाप का उदय हो तो क्या मैं उसे सुख दे सकता हूँ? नहीं दे सकता। ऐसे ही किसी के पुण्य का उदय हो तो क्या मैं उसे दु:ख दे सकता हूँ? नहीं दे सकता। फिर भी व्यवस्था के नाते साधारण विकल्प करके भी गृहस्थी का निर्वाह कर सकते हैं, किन्तु भीतर में आशय कर्तृत्व का पड़ा है। मैं मालिक हूँ, मैं करने वाला हूँ, इन विकल्पों के कारण गहरी चिन्ता बन जाती है। मोह से बढ़कर दुनिया में विपदा कुछ नहीं है। शरीर पर कितने ही संकट आ जायें तो उन्हें झेला जा सकता है, पर मन के अन्दर कोई विकल्प, अनुराग, मोह जग जाय तो उसकी विपदा झेलना कठिन हो जाता है।

संकटमुक्ति का उपाय—सर्वसंकट एक ज्ञान से ही समाप्त होंगे। ज्ञानरूप मेघजल ही ऐसा समर्थ उपाय है कि तेज लगी हुई आग को बुझा देने में समर्थ है। खोटा कार्य करने के बाद भी तो बुद्धि सँभलती है ना। वैसी सँभली बुद्धि खोटा कार्य करने से भी पहिले रहे तो अशुभ कार्य कैसे किया जायेगा? यह मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप हूँ। इस ज्ञानमात्र आत्मा में कर्मोदयवश रागद्वेष वितर्क, विचार की तरंगे उठती हैं। ये तरंगे भी चलती हैं और ज्ञानप्रकाश भी साथ रहता है और इस तरह कभी-भी ऐसा लगता है कि मेरे में कोई दो बोलने वाले बैठे हैं—एक पापकार्य के लिए प्रोत्साहन देता है और एक पापकार्य को मना करने के लिए प्रोत्साहन देता है। इसे लोग कई अलंकारों में कोई दिल और ज्ञान, कोई पिशाच और विवेक आदि अनेक शब्दों में कहते हैं। है चीज वहाँ क्या? एक तो है अपने आपका सहज विलास और एक है कर्मकृत उपद्रव का आक्रमण। आक्रमण और सहज विलास का अन्तर्द्वन्द्व है। इस जीव पर ये मोहादि भाव बने हुए है। जब कभी यह जीव अपनी असलियत को जानता है तो उन मोहादिक को दूर करके एक अलौकिक आनन्द प्राप्त करता है।

विश्राम का अनुरोध—कार्यक्रम करते करते शरीर थक जाता है तो आप पौन घंटे शरीर की मालिश करके थकान दूर करके आप नई शक्ति लेना चाहते हैं और यह आत्मा विकल्प कर-करके इतना थक गया है तो इसकी थकान को मिटाने के लिए क्या उद्यम किया जाता है सो बतावो। आत्मा के विकल्पों की थकान मिटाने के लिए 10-5 मिनट पर को उपयोग से हटाकर उपयोग को बिल्कुल स्वच्छ कर लो, एक अपने आपमें इतनी हिम्मत बनावो कि जिस संग में हम हैं उस संग का विकल्प तोड दें। सभी पदार्थ सुरक्षित हैं,

किसी पदार्थ का कभी भी नाश नहीं होता है। हम न भी विकल्प करें किसी के सम्बन्ध में तो भी वह जीवित रहता है। अपना यह कार्य कर रहा है। 10-5 मिनट कभी भी सर्वविकल्पों को तोड़कर अपने को अकिञ्चन ज्ञानमात्र निरखें तो यह बहुत बड़ी कमाई है। सब कुछ वैभव इसमें है।

योग्य भावना का निर्णय—धन आदिक जड़ पदार्थ कुछ वैभव नहीं हैं, वैभव तो आत्मा का ज्ञानानुभव है। जिस चित्त में ये तरंगे उठती रहती हैं कि यह मेरा है, मैं ऐसा हूँ, मेरे को यह काम पड़ा है, अभी मुझे अमुक चीज भोगना है और करना है, मैं अमुक हूँ, नाम लेकर, परिवार वाला सोचकर जैसे अपने में नाना विचार उठाया करते हैं, बजाय उन सब विचारों के कि एक बार इतना तो अनुभव कर लें कि मैं केवल ज्ञानज्योतिस्वरूप हूँ, केवल एक सामान्य विलक्षण उजाला ही उजाला हूँ, तन्मात्र ही मैं हूँ, ऐसा कभी भी अनुभव जगे तो उसमें इतनी सामर्थ्य है कि शुद्ध आनन्द का अनुभव करा दे। बस यह स्थिति कभी-कभी बना लें तो यह आत्मा में ऐसा बल प्रकट करता है कि विकल्पों की थकान फिर नहीं रहती।

बड़प्पन का कार्य—विकल्पों की थकान मिटाने के बाद भी फिर विकल्प बनता है। तब विकल्पों को मिटाने के लिए ज्ञानमात्रभावना का ही उद्यम करो। बड़प्पन इसी में है। धन से बड़ा बन जाय, परिवार से बड़ा बन जाय, गोष्ठी में बड़ा हो जाय, तो क्या है? ये सब स्वप्नवत् हैं, मायाजाल हैं। हित तो इसमें है कि सर्व पर का विकल्प तोड़कर किसी क्षण अपने को ज्ञानमात्र अनुभव कर सके, यही है सच्चा बड़प्पन। जो इस बड़प्पन से रहेगा वह दु:खी नहीं रह सकता। क्या इतने अधिक व्यस्त हैं कि इस ज्ञानमात्र महत्त्व का अनुभव करने के लिए फुरसत नहीं है? कौनसा काम पड़ा है जो रात-दिन कल्पना ही कल्पना करके पूरा किया जा सकता हो? विकल्प क्यों किए जा रहे हैं रात और दिवस? अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभव करने का पुरुषार्थ भी साथ में रक्खो।

ज्ञानभावना के अभ्यास की आवश्यकता—आत्मोपयोग का पुरुषार्थ ऐसा नहीं है कि अनभ्यास दशा में इसे जब भी आये तब कर लो। ऐसी स्थिति बन तो जायेगी कि कितना ही व्यग्र हों, जब कभी जिस समय चाहे उस समय अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभव करने लगें। मेरा कहीं कुछ नहीं है, मैं केवल ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, लेकिन इसके अभ्यास के लिए रात-दिवस कुछ परिश्रम करना होगा। हमारा ज्ञानार्जन, गुरुमुख से अध्ययन, तत्त्वचर्चा, अपना बड़ा विनयपूर्ण व्यवहार, सबका संन्यास करने के प्रकृति—ये सब चीजें आवश्यक हैं और अपने लाभ के लिए माने हुए तन, मन, वचन, धन आदि न्यौछावर करने पड़े, किसी को देने पड़े, किसी को संतुष्ट करना पड़े तो भी कोई चीज बड़ी नहीं है और अपना मन प्रसन्न रहे, अपना ज्ञान निर्मल रहे, ज्ञानपथ मिले, यही सबसे उत्कृष्ट वैभव है।

अपने स्वरूप की बात—इस प्रसंग में यह बताया जा रहा है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है। यह प्रकरण बहुत भीतरी मर्म का होगा, कठिन भी होगा, लेकिन जिस समय ऐसी तैयारी करके आप बैठेंगे कि मुझे और कुछ नहीं सोचना है। मैं अपने आपके भीतर के मर्म को जानने के लिए तैयार होकर बैठा हूँ तो सब चीजें ध्यान में आयेंगी और उस सुनते-सुनते के बीच थोड़ा भी प्रमाद आयेगा, थोड़ा भी मन को स्वच्छन्द बनाकर किसी परपदार्थ में भेजेंगे तो यह बात उड़ जायेगी, यह ज्ञान जीव का स्वरूप है। यह ज्ञान अखण्ड है। हमारे ज्ञान में जो चीजें आती हैं हम उन चीजों को छोड़-छोड़कर जैसा जानते हैं, इसे जाना, अब इसे जाना, लगता है कि हमारा ज्ञान टुकड़े-टुकड़े में बँट गया है। अब खम्भे को जाना, अब चौकी को जाना, यह तो ज्ञान की तरंग है, ज्ञानस्वरूप नहीं है। ज्ञानस्वरूप तो अखण्ड ही रहता है। अखण्ड अद्वैत अपने ही स्वभाव में निरत यह ज्ञान है अथवा आत्मा है।

अध्यात्म क्षेत्र में सामान्य का महत्त्व—भैया ! इस दुनिया में सामान्य को कोई नहीं पूछता है। विशेष मनुष्य हो तो उसका हर जगह आदर चलता है। साधारण मनुष्य हो, सामान्य हो तो उसका आदर नहीं होता है,

लेकिन शान्ति के मार्ग में, अध्यात्म क्षेत्र में विशेष को ठुकरा दिया गया है और सामान्य को अपनाया गया है। जो विशेष को ठुकराकर सामान्य को अपनाए वह अपने में आत्मा का अनुभव कर सकता है। आत्मा में रागद्वेष होते हैं यह विशेष बात है सामान्य बात नहीं। सामान्य बात समान होती है, 'समानं व सामन्यम्।' सामान्य शब्द निकला है समान से, जो समान में रहे उसे सामान्य कहते हैं। ये रागद्वेष क्या समान रहते हैं, कभी बढ़े, कभी घटे, कभी किसी रूप हो यों ये रागद्वेष सामान्य नहीं हैं, उनमें भी घटाव-बढ़ाव है। घटाव-बढ़ाव वाली चीजों में हम दृष्टि रक्खेंगे तो नियम से आकुलता बनेगी। बहुत से पुरुषों के समूह में यदि किसी व्यक्तिगत विशेष पुरुष पर दृष्टि होगी तो आकुलता मच जायेगी। जहाँ सब पुरुषों को सामान्य रूप से निरखेंगे वहाँ आकुलता न जगेगी। तो विशेष पर दृष्टि होने से संसार में रुलना पड़ता है।

आत्मा का शुद्ध सामान्य भाव—सामान्य है यह ज्ञानप्रकाश। यह जानन, केवल जानन सदा समान रहता है। मात्र जानन में घटाव-बढ़ाव क्या? जानन के साथ जो हमारा घटाव-बढ़ाव चलता है वह रागद्वेष की तरंग है, जानन नहीं है, जो शुद्ध जानन है वह सामान्य होता है। इसको जानकर जो यह सोचने में आता है कि खम्भा है यह रागद्वेष की तरंग का निष्कर्ष है। शुद्ध जानन क्या कि जानन तो हो जाय, पर कोई विकल्प तरंग न आये, न रंग का विकल्प आये, न नाम का विकल्प आये, किन्तु जानन हो जाय, ऐसा जानन अरहंत सिद्ध और प्रभु के होता है। निर्विकल्प को जानने को सामान्य कहते हैं। जिसे आनन्द चाहिए वह इस सामान्य का प्रतिभास करके आनन्दमग्न हो जाय, जो अपने आपमें बसे हुए इस ज्ञानप्रकाश का आलम्बन करता है, वह मोक्ष पाता है।

सामान्य की सीमा के दुरुपयोग का विघटन—यह आत्मतत्त्व स्वयं ही बाहरी कौतूहल से दूर है, यह है स्वभाव का निरखना, लेकिन कोई पुरुष इस सामान्य तत्त्व की प्रशंसा में सीमा तोड़कर बढ़ जाता है वह पुरुष यहाँ यह तर्क रख रहा है कि ज्ञानी जन इतना तक भी विकल्प क्यों करें, यों ही मानें कि ज्ञान जानता ही नहीं है, ज्ञान अपने आपको समझता ही नहीं है। जैसे अग्नि का स्वरूप उष्णता है। क्या उष्णता अग्नि को जानती है? ऐसे ही आत्मा का स्वरूप ज्ञान है तो क्या ज्ञान आत्मा को जान सकेगा? जैसे उष्णता का काम दूर में होता है, ऐसे ही ज्ञान का काम दूर में होता है। इतनी तेज दौड़ लगाकर यह अलंकार में कह रहे हैं। ज्ञान आत्मा को जानता नहीं है, ऐसा कहने वाला पुरुष यह भूल गया उपमा देने में कि अग्नि की उष्णता अचेतन है, अग्नि अचेतन है। उस अचेतन की उपमा इस चेतन पर लाकर नहीं होती। जैसे दीपक जलता है तो वह पर को भी प्रकाशित करता है मगर खुद को भी तो प्रकाशित करता है।

आत्मा में ज्ञान की अव्यतिरिक्तता का प्रकाशन—आत्मा के ज्ञानस्वरूप के प्रतिपादन के प्रसंग में दूसरी चीज यह है कि यदि यह ज्ञान अपने आपमें जानने का काम न करे तो जो काम न कर सके खुद स्वयं, वह भिन्न चीज होती है। जैसे कोई पुरुष कुल्हाड़ी से काठ काटता है तो क्या कुल्हाड़ी स्वयं अपने आप बिना किसी पुरुष के सम्बन्ध के काठ को काटने लगती है? काटने में नहीं समर्थ है। इससे ज्ञात होता है कि कुल्हाड़ी भिन्न चीज है। स्वयं काम न कर सके और समय पाकर करने लगे तो कहते हैं कि ये दो चीजें न्यारी-न्यारी हैं, ऐसे ही यह ज्ञान यदि जानने का काम बंद कर दे तो इसका अर्थ यह है कि यह ज्ञान आत्मा से जुदी चीज है। पर आत्मा से ज्ञान को जुदा मान लें तो आत्मा का स्वरूप ही कुछ नहीं रह गया। आत्मा ज्ञानस्वभावी है, अपने ज्ञानस्वभाव का परिचय मिल जाय, यही परमात्मा की प्राप्ति है।

प्रभु का अन्तर्दर्शन—लोग कहते हैं कि मुझे भगवान के दर्शन मिल जायें, उदाहरण भी देते हैं कि देखो अमुक को भजन करते-करते भगवान सामने आ गये बांसुरी बजाते हुए या हाथ में धनुष बाण लिए हुए। यों प्रभु के दर्शन नहीं होते हैं। प्रभु है ज्ञानमय। तब अपने आपको ज्ञानमय अनुभवा जाय, कुटुम्ब रूप नहीं, धनीरूप नहीं, कलाकार रूप नहीं, देह रूप नहीं। केवल एक मैं उजेला मात्र हूँ, ऐसा ज्ञानमात्र अनुभवा जाय तो उस

प्रभु के शुद्ध स्वरूप का दर्शन होता है। इन्द्रियों से प्रभु का दर्शन कभी नहीं हो सकता। समवशरण में भी जाय और वहाँ साक्षात् अरहंत भी विराजे देख ले तो वहाँ भी प्रभु का दर्शन आँखों से न हो सकेगा। आँखों से तो प्रभु का देह दिख जायेगा, पर देह प्रभु नहीं है। भले ही वह परमौदायिक शरीर है, किन्तु वह तो अरहंत नहीं है, प्रभु नहीं है। समवशरण में भी प्रभु का दर्शन इन्द्रियों का व्यापार बंद करके अपने आपको केवल ज्ञानमात्र अनुभव करने से होगा। यही है सच्चा पुरुषार्थ, यही है अपने आपको प्रसन्न रखने का उपाय। यही है अच्युतपद जिस पद से गिरें नहीं। जिसको अपना यह अविनाशी अच्युतपद पाना हो उसे चाहिए कि निरन्तर ज्ञानभावना करे।

प्रवर्तन की भावनानुसारिता—देखो—जैसी अपने में भावना बनायी जाती है वैसा परिणमन चलने लगता है। कोई लड़की विवाह से पहिले कैसी स्वच्छन्द विचरती है? विवाह होने के कुछ ही देर बाद कैसे चलना, कैसे कपड़े संभालना, कैसे पैर रखना, यह सब चलने लगता है। उसे कौन सिखाने जाता है? अनुभव किया उसने कि अब मैं वधू हूँ, इतनी ही भावना के फल में उसका चाल-ढाल ढंग सब कुछ बदल गया। कोई पुरुष जब तक अपने को यह अनुभव करता है कि मैं अमुक का बेटा हूँ तब तक उस पर भार नहीं मालूम होता, जहाँ यह अनुभव किया कि मैं अमुक का बाप हूँ बस वहीं बोझ लादना शुरू हो जाता है। तो भावना की सारी बात है। जो अपने को माने कि मैं अमुकचंद हूँ, अमुक लाल हूँ, इस प्रकार बाहरी चीजों में जो आत्मारूप से अनुभव करेगा वह दु:खी रहेगा और जो मैं केवल ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञान ही मेरा स्वरूप है, मैं इस स्वरूप को न बिगाड़ूँगा, मैं इसकी उपासना न तजूँगा, मैं निरन्तर यही प्रतीति रक्खूँगा कि मैं ज्ञानमात्र हूँ। निरन्तर ऐसी भावना बनाए तो उसको यह आत्मपद प्राप्त हो जाता है। ज्ञान जीव का स्वरूप है, वह नियम से अपने आत्मा को जानता है। यदि यह ज्ञान अपने को न जाने तो आत्मा का स्वरूप ही कुछ नहीं रहा। ज्ञान जीव से अभिन्न है। मैं ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा अपने को ज्ञानमात्र ही अनुभव करते रहें तो इससे अपूर्व बल प्रकट होता है। और सच पूछो तो यह कठिनाई से पाया हुआ मनुष्यजन्म, श्रावककुल, जैनधर्म—इन सबका समागम सफल हो जाता है। इस कारण अपने को ज्ञानमात्र ही निरन्तर मानना चाहिए।

गाथा 171

अप्पाणं विणु णाणं णाणं विणु अप्पगो ण संदेहो।

तम्हा सपरपयासं णाणं तह दंसणं होदि।।171।।

ज्ञान की महिमा—आनन्द का उपाय मात्र सम्यग्ज्ञान है। एक सम्यग्ज्ञान के पुरुषार्थ को छोड़कर अन्य लौकिक वैभव के लिए अथक प्रयत्न कर लिया जाय तो भी आनन्द अथवा शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती है। यह बात अनुभूत व पूर्ण युक्तियुक्त है, इसमें रंच भी संदेह नहीं है। किसी मनुष्य ने लौकिक बड़प्पन पाया हो, वह अच्छे कुल में उत्पन्न हुआ हो, उसके अच्छे आजीविका का भी साधन हों, उसे यश गौरव समाज वाञ्छनीय तत्त्व प्राप्त हों, ऐसी स्थिति में भी इस जीव को जो बड़प्पन है, वह यथार्थ ज्ञान से बड़प्पन है, ज्ञान के सिवाय अन्य समस्त परिश्रम इसके बड़प्पन के कारणभूत नहीं हैं। यथार्थ ज्ञान की ऐसी महिमा है कि उसके होते संते पुण्य रस बढ़ता है, पाप रस घटता है, मोक्ष का मार्ग मिलता है और स्वयं ही जब तक संसार शेष है तब तक ऊँची से ऊँची स्थिति प्राप्त होती है। फल उसका अन्त में परमनिर्वाण है।

ज्ञानबल के बिना रीतापन—संसार के संकटों से छूटने का अर्थ है मोह और कषायों से छूटना, कारण कि संकट मोह और कषायों का ही नाम है। बाह्यपदार्थों में कुछ घटी बढ़ती हो जाय तो यह कोई संकट नहीं है।

बाह्य पदार्थों के प्रति जो ममेदं बुद्धि लगी है, अपने शरीर के प्रति 'यह मैं हूँ' ऐसा जो अहंकार बसा है, जिसके कारण मायामयी कर्मबन्धन से परतंत्र मोही प्राणियों से कुछ अपने बारे में प्रशंसा की बात सुनने की चाह बनी रहती है, ये हैं सब संसार के घोर संकट। लोक में हम जिन्हें बहुत बड़ा समझते हैं, ये देश के नेता हैं, बड़े हैं, इनका बड़ा ठाठ है, मिनिस्टर हैं, आराम है, सारी जनता जिनका सम्मान करती है, सब लौकिक ठाठ हैं किन्तु वहाँ भी सम्भव है कि कहो वह आत्मवैभव से बिल्कुल रीते हों। यत्न करके मायाचार बनाकर किसी तरह कहो अपना पोजीशन रख रहा हो। पूर्वकृत पुण्य साथ दे रहा है, वहाँ भी वह धुक रहा है यह कोई वास्तविक बड़प्पन नहीं है, और ऐसे-ऐसे ही लोगों से भरा हुआ यह संसार है। तब रीते, दु:खी, परतंत्र, अज्ञान अंधकार में खोये हुए इन लोगों से क्या चाहते हो? अरे ! आपका स्वयं का बल है तो दूसरे भी आपके आराम में निमित्त बनेंगे। स्वयं का बल नहीं है, पुण्य नहीं है, ज्ञान और आचरण नहीं है तो दूसरे भी क्या साहस कर सकते हैं?

ज्ञानबल का प्रताप—वस्तुस्वरूप के यथार्थ ज्ञान में यह चमत्कार है कि इसके प्रताप से सब कुछ अभीष्ट प्राप्त हो जाता है। ये जो जड़ सम्पदा मिली हैं ये क्या कीमत रखती हैं? प्रसन्नता तो शुद्ध ज्ञान के कारण हुआ करती है, परिग्रह और लिप्सा के कारण प्रसन्नता नहीं होती है, मौज भले ही हो जाय, पर प्रसन्नता नहीं रहती। मौज और प्रसन्नता में बड़ा अन्दर है। मौज नाम तो है मा ओज, जहाँ कोई कान्ति ही न रहे, बुझ जाय, ऐसी स्थिति का नाम है मौज। प्रसन्नता का अर्थ है निराकुलता। प्रसन्नता शब्द जिस धातु से बना है उसका अर्थ निर्मलता है। तत्त्वज्ञान में प्रसन्नता होती है। सारी प्रसन्नता का कारण मोह का दूर होना है। जिस क्षण मोह की वासना नहीं रहती उस क्षण आत्मा में अद्भुत आनन्द प्रकट होता है।

समागम की क्षणिकता—यहाँ सार क्या रक्खा है? कोई जीव कहीं से आया, कोई कहीं से, थोड़ी देर को इकट्ठे हुए, जैसे चारों ओर से रास्तागीर आते हैं, थोड़ी देर को एक चौहटा पर मिल जाते हैं, रामराम करने में जितना संग रहता है, बाद में अपना-अपना स्थान छोड़कर चले जाते हैं, ऐसे ही यहाँ भी चारों गतियों से कोई किसी गति से, कोई किसी गति से आये हुए जीवों का यह संग है, जिसे परिवार कहते हैं। ये थोड़े समय के लिए ही मिले है, पश्चात् सबको अपने-अपने करतब के अनुसार भिन्न-भिन्न गतियों में जाना पड़ेगा। काहे को यह मोह किया जा रहा है, ऐसी स्थिति होने पर भी जो मोह किए जा रहे हों उनको बड़े क्लेश और संक्लेश भोगने पड़ते हैं। ये समस्त संकट मोह के, विपदा के, तत्त्वज्ञान से ही समाप्त होते हैं।

सत् स्वरूप—वह यथार्थ ज्ञान क्या है, उसे जानने के लिए जैन सिद्धान्त में बहुत ही सुगम ढंग से स्वरूप का प्रतिपादन है। जो उपयोग अनादि काल से मोहवासना से वासित है उसे इस ज्ञान तपश्चरण के लिए कुछ पुरुषार्थ और त्याग तो करना ही होगा, लेकिन थोड़े से भी पुरुषार्थ पर यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है। जो बड़े-बड़े लेनदेन, कारोबार, बड़ी-बड़ी व्यवस्थाएँ, हिसाब करने के योग्य हैं क्या उन पुरुषों के ज्ञान में यह योग्यता नहीं है कि अपने आपके निजस्वरूप की बात भी जान सकें? योग्यता है, किन्तु थोड़ी रुचि चाहिए और इस ओर पुरुषार्थ चाहिए। कार्य सुगमतया सिद्ध होगा। हाँ, हमें जानना है पदार्थों को। पदार्थ जो 'है' सो ही है। जो भी है वह गुणपर्यायात्मक होता है। यदि कुछ है तो वह शक्ति का पुञ्ज है और उसमें निरन्तर परिणमन चलता रहता है। शक्ति और व्यक्ति इनका जो समवाय है इस ही को ''है'' कहते हैं। उसके सम्बन्ध में कुछ विशेष कहते हैं उसे सुनिये।

वस्तु का असाधारण स्वरूप—कुछ भी हो, वह ''है'' 6 भागों में विभक्त है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें से किसी भी द्रव्य को पहिचानने का लक्षण कोई असाधारण स्वभाव होता है। वैसे तो सभी पदार्थ हैं और सभी पदार्थों में अनेक शक्तियाँ हैं, पर हम जान जायें कि यह जीव है, उसके लिए कोई ऐसा लक्षण जानना होता है जो जीव में तो सबमें पाया जाय, पर जीव को छोड़कर अन्य में न पाया

जाय। ऐसा जीव का लक्षण है ज्ञान। यह जीव ज्ञानस्वरूप है, आत्मा को ज्ञान ही जानो, ज्ञान को ही आत्मा जानो। ज्ञान और आत्मा में अन्तर नहीं है, मैं आत्मा हूँ, ज्ञानमात्र हूँ कुछ अन्तरप्रवेश करके देखो। इन इन्द्रियों का सहारा छोड़ों और बाहरी समस्त पदार्थों को भी भूल जावो और अन्दर ही देखो कि मेरा स्वरूप क्या है? अपने स्वरूप के भान के बिना चाहे आप कई मंजिले मकान बनवा लो और कितना भी वैभव एकत्रित कर लो, मगर है क्या इसमें तत्त्व? किसी भी समय यों ही छूट जायेगा। अथवा जब तक भी यह साथ है तब तक भी चैन न मिलेगा। अपने स्वरूप का परिचय कर लो।

दुर्लभ विभूति—भैया ! धन, वैभव, कुटुम्ब, परिजन सब सुलभ हैं पर यथार्थ ज्ञान संसार में दुर्लभ है। ज्ञानी पुरुष को कहीं भी चिन्ता नहीं है, कहीं भी आकुलता नहीं है, प्रत्येक परिस्थिति में वह प्रसन्न है। उसने कोई मर्म की बात जान ली है, अपने स्वरूप को भाँप लिया है, जिसके कारण वह समस्त परपदार्थों से उदासीन है। बाह्य में यों हुआ तो क्या? न हुआ तो क्या? बाहरी चीजों के परिणमन हमें दु:खी नहीं करते। हमारे भीतर में जो मोह, तृष्णा, नाना विभाव तरंगें उठती हैं वे शल्य की तरह हमें पीड़ित कर रही हैं, यह शल्य वैभव के संचय से न मिटेगी। इसके मिटने का उपाय यथार्थ ज्ञान ही है।

संकटमुक्ति के उपाय पर एक दृष्टान्त—कोई एक सेठ था। गर्मी के दिनों में बड़े ठंडे सुसज्जित कमरे में पड़ा हुआ था, वहीं सो गया और उसे एक स्वप्न आ गया कि मुझे बड़ी तेज गर्मी लग रही है, सही नहीं जाती। चलो इस गर्मी को मिटाने के लिए थोड़ा समुद्र में सैर कर लें। स्त्री, बच्चे, पहरेदार सभी बोले कि हमें भी गर्मी लग रही है, हम भी समुद्र की सैर करने चलेंगे। सेठ गया सपरिवार, एक छोटे से जहाज पर बैठ गया। यह सब स्वप्न की बात कही जा रही है। जब जहाज एक मील समुद्र में निकल गया तो समुद्र में एक बड़ी भँवर उठी। जहाज डूबने लगा। तो नाविक बोला—अब तो जहाज डूब जायेगा, हमें छुट्टी दो, हम तो किसी तरह तैर कर निकल जायेंगे। सेठ कहता है कि हम लोगों को भी बचावो, तुम्हें 500) देंगे, हजार देंगे, 50 हजार देंगे। नाविक बोला कि देर करने से तो हम भी मर जायेंगे, तुम्हारे रुपया कौन लेगा? वह तो नाव छोड़कर कूद कर चला गया। अब सोचो जिसे ऐसा स्वप्न आ रहा हो उसकी पीड़ा का मिटा देने में क्या मकान, महल, नौकर-चाकर, मित्रजन समर्थ हैं? कोई भी समर्थ नहीं है। उसके दु:खों के मिटने का उपाय यही केवल कि नींद खुल जाय। बस, यही नींद का खुलना ही, जग जाना ही उसके समस्त दु:खों को मिटाने में समर्थ है। सेठ दु:खी हो रहा है, हाय सारा धन, वैभव, कुटुम्ब के लोग छूटे जा रहे हैं, उस सेठ की तो बड़ी दुर्दशा हुई जा रही है। उसके इस दु:ख को मिटाने में कोई नहीं है। केवल वह जग जाय, वही उसके सारे दु:खों को दूर करने का उपाय है। जहाँ वह जग जाय और यह निरखे कि यहाँ तो कुछ भी संकट नहीं है, कहाँ है समुद्र, कहाँ हम डूब रहे हैं? मैं तो बड़े मौज से इस भवन में बैठा हुआ हूँ। जहाँ उसकी यह दृष्टि हुई वहाँ ही उसका दु:ख मिट जाता है।

संकटमुक्ति का मूल सुगम उपाय—ऐसे ही मोह की नींद में सोये हुए संसारी जनों को नाना स्वप्न आ रहे हैं। यह मेरा वैभव है, इतना हमारा नुकसान हो रहा है, यह वैभव यों चला जा रहा है, अमुक मेरे प्रतिकूल हो गया। कितनी-कितनी बातें इसकी कल्पना में आ रही है और उन कल्पनावों के कारण ये संसारी प्राणी दु:खी हैं। इनके दु:ख को कौन मेटे? अरे ! जो दु:ख मिटाने का गम भरते हैं वे ही इसका दु:ख का कारण बन जाते हैं। यह मोही उस मोह के दु:ख को मिटाने के लिए परिजनों से मोह करता है। उससे तो इसके क्लेश और बढ़ते रहते हैं, नष्ट नहीं होते हैं। इस मोही के क्लेश को मिटाने में समर्थ यही जीव है। मोह त्याग दे, मोह की निद्रा भंग कर दे और यथार्थज्ञान से निरखे कि यह मैं तो अरहंत, सिद्ध प्रभु की भाँति केवलज्ञान और आनन्द का पिंड हूँ, स्वभावत: मेरे में कष्ट नहीं है, मेरे स्वरूप में दु:ख का नाम ही नहीं है, पर मोह

की नींद में कल्पनावों के स्वप्न उसको आने लगते हैं तब इसे कष्ट भोगना पड़ता है। कितना सुगम उपाय है?

अपनी बात—भैया ! खुद ही खुद भीतर में सोच लो और भीतर अपने अन्त:स्वरूप को छू लो, फिर देखो सारे संकट मिटते हैं, सम्यक्त्व जगता है, मोक्ष पाने का निर्णय और निश्चय हो जाता है। इतनी तो बड़ी सुविधा मिली है हम आपको इस मनुष्य जीवन में और इस सुविधा को सदुपयोग में न लें, धन, वैभव के ही स्वप्न आयें तो फिर भव-भव में इस मनुष्यभव से हाथ धोना पड़ेगा, कीट, पतंग आदि के ही भवों में ही भ्रमण करना पड़ेगा। आज तो सामर्थ्य है, मनुष्य हैं, सोच सकते हैं; कल के दिन कीड़ा-मकोड़ा, पेड़-पौधा हो गए तो इससे तो बरबादी ही होगी। अपने आत्मा के उपभोग को बिगाड़ा जायेगा तो उससे तो पुण्य घटेगा और पाप बढ़ेगा, शुद्ध दृष्टि न रहेगी। अपने आप पर कुछ करुणा करो। प्रभु का शरण, प्रभु की भक्ति, प्रभु का स्वरूप स्मरण यह एक रक्षा का साधन है, बाकी तो कहीं बाहर में, घर देश पडौस आदि जहाँ कहीं भी चित्त लगाया, उपयोग दिया वहाँ क्लेशजाल ही बिछा हुआ मिलता है। जितने क्षण प्रभु के निकट बैठे हों, प्रभु की वाणी के निकट हों उतने क्षण तो इसके सफल हैं और बाकी तो सब व्यर्थ का परिणमन है।

आत्मप्रेक्षण—देखो, अपने आत्मा के शुद्धपवित्र स्वरूप को। यह आत्मा ज्ञानमात्र है। जैसे हम किसी खम्भे, चौकी में यह खोजते हैं कि इसमें क्या भरा है, देखते हैं कुरेद-कुरेद कर देखते हैं तो मिलता है कि इसमें कुछ ठोस चीज है। जरा अपने आपके स्वरूप को इस प्रज्ञा छेनी से कुरेद-कुरेद कर देखो तो सही कि मैं क्या हूँ? देह तो मैं हूँ नहीं, यह जड़ है, मिट्टी है, इस देह से न्यारा मैं कुछ भीतर में तत्त्व हूँ, इसकी खोज करना कोई मुश्किल बात नहीं है, किन्तु इतना यत्न करना जरूर होगा कि समस्त परपदार्थों को भिन्न जानकर, अपने लिए असार जानकर उनकी उपेक्षा करना होगा, उनका उपयोग हटाना होगा। किसी भी परपदार्थ को कुछ क्षण के लिए अपने चित्त में मत बसावो, अपने आप ज्ञान प्रकट होगा। ज्ञानमय तो यह है ही। ज्ञान होने में कौनसी कठिनाई है, पर इतनी सी बात अवश्य है कि परपदार्थों को पर जानकर उनकी उपेक्षा कर जावो और एक विश्राम से बैठ जावो, अन्तर में ज्ञान का अनुभव होगा और अद्भुत आनन्द का भी अनुभव होगा।

निजप्रभुता के असम्मान में विडम्बना—मोह और कषाय ही वास्तविक विडम्बना है। इनसे परे होने का यत्न करो तो इस ही में सच्चा बड़प्पन है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, आत्मा को ही ज्ञान समझो, ज्ञान को ही आत्मा समझो। यह आत्मा अपने प्रतिभा-स्वरूप के कारण स्वपरप्रतिभासक है और यह ज्ञान, दर्शन भी स्वपरप्रतिभासक है। यही तो एक तत्त्व है, उसको समझने के लिए गुण और गुणी का भेद कर दिया जाता है। यह आत्मा ज्ञानरूप है, निरन्तर जानता रहता है और समस्त परपदार्थों से न्यारा रहकर जानता रहता है, यह अपने स्वरूप को जानने में समर्थ है। ऐसा जो सहजज्ञान ज्योतिस्वरूप है, तन्मात्र ही आत्मा को जानो। यह मैं आत्मा सबसे न्यारा, केवल प्रतिभास-स्वरूप, आकाश की तरह निर्लेप, अपने आपमें शुद्ध, समस्त पदार्थों में उत्कृष्ट, प्रभुता से सम्पन्न, अनन्त आनन्द का निधान यह मैं आत्मा हूँ। इसका जब सम्मान इसने नहीं किया, यत्न नहीं किया तो यह संसार की दुर्गतियाँ भोगता फिरता है।

आत्मतोष में सकलपरितोष—देखो, आत्मा की उपासना कुछ क्षण हो जाय तो बाकी चौबीस घंटे गृहस्थी के कर्तव्य करते हुए भी इसमें ताजगी रहा करती है और एक इस आत्मस्वरूप का भान किए बिना ये सब बातें ऊपर फट्टी कुछ कल्पना से ही मौज रूप मालूम होती हैं। पर मोह में संतोष हो नहीं पाता। जिसको आत्मस्वरूप का अनुभव है, आत्मसंतोष मिला है उसको सर्वत्र संतोष रहा करता है। जिसे अपने आपमें संतोष नहीं रहा उसे बाहर के परपदार्थों में कहाँ संतोष मिलेगा? अपना घर देखो, अपने स्वरूप को निरखो। मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, यह आत्मा ज्ञान-दर्शनरूप है, यह अपने को भी जानता है और पर को

भी जानता रहता है। बस इतना ही इसका स्वरूप है, इसके आगे रागद्वेष करना, अच्छा सुनना, बुरा सुनना, अच्छा कहना, बुरा कहना, समस्त व्यवहार नाटक हैं। दुनियाँ की उल्टी रीति है। यह नाटक में अटका हुआ है और नाटक शब्द खुद यह कह रहा है कि न अटक। इन दोनों को ही मिलाकर नाटक बना। अरे ! तुम अटको नहीं, पर यह तो वहाँ भी भटक रहा है।

हितपंथ—भैया ! कुछ चैन पावो, समस्त परपदार्थों के परिग्रहों का इस ज्ञान से बोझ हटाकर, अपने उपयोग को निर्भार करके विशुद्ध आनन्द का अनुभव करो। हमारे इन विजयी पुरुषों ने, पुराण तीर्थंकरों ने यही किया था। इसी से ये विजयी हुए, जिन कहलाये और इसी से ही हम आप उनकी वंदना, उनका स्मरण करते रहते हैं। हित के पंथ पर लगने की धुन बनावो। जिस भी प्रकार ये मोह और कषाय दूर हो सकें उस ही उद्यम में लगो। इसके लिए चाहे तन, मन, धन, वचन सब कुछ भी न्यौछावर करने पड़े और फिर भी आत्मस्वरूप के अनुभव का वैभव मिल जाय तो समझ लो कि इस एक समय के अनुभव के बल पर अनन्तकाल के लिए अनन्त आनन्द रिजर्व कर लिया गया है। विशुद्ध ज्ञानादर्शनात्मक निज सहज आत्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान्, ज्ञान और इसी स्वरूप में अनुष्ठान करने रूप बोधि की प्राप्ति होना अपूर्व और अनुपम लाभ है। एतदर्थ वस्तुस्वरूप के ज्ञान का अभ्यास बनाओ।

गाथा 172

जाणंतो पस्संतो ईहापुव्बं ण होइ केवलिणो।

केवलणाणी तम्हा तेण हु सोऽबंधगोभणिदो।।172।।

प्रभु की विशेषता—इस गाथा में प्रभु की मुख्य विशेषता बतायी गयी है। लोग प्रभु का स्वरूप नानारूपों में देखना चाहते हैं—खूब कपड़ों से भरपूर मुकुटों से सुसज्जित बांसुरी बजाते, संगीत आदि साधनों से सुसज्जित खूब हँसते हुए, मन बहलाते हुए, लोगों में रमते हुए आदिकरूपों में देखना चाहते हैं, परन्तु प्रभु का दर्शन इन रूपों में हो ही नहीं सकता है, कारण कि ये रूप संसारी जीवों के हैं। हम आप भी तो कपड़ों से सुसज्जित और नाना दिल बहलाने के साधनों के इच्छुक और उनमें ही व्यग्र रहा करते हैं। प्रभु की प्रभुता इन कामों में नहीं है, प्रभु ज्ञान और आनन्द का पिंड है, ऐसा आत्मा जो कि परम हो गया है, उसका नाम परमात्मा है। आत्मा तो सब एक समान हैं, पर इन आत्मावों में जो परम बन गया है, उसका नाम परमात्मा है। परम का अर्थ हैं 'परा मां यत्र स परम:।' 'उत्कृष्ट मां' अर्थात् ज्ञान-लक्ष्मी जिसके हो उसे परम कहते हैं और परम जो आत्मा है उसका नाम परमात्मा है। जिसका ज्ञान इतना विशाल है जो समस्त लोकालोक को जानता है ऐसा जो ज्ञानज्योतिपुंज है उसका नाम परमात्मा है। वह परमात्मा समस्त लोकालोक को जानता और देखता है किन्तु उसकी इच्छा, ईहा, वाञ्छा रंच भी नहीं है। प्रभु के यह विशेषता है कि उनके इच्छा किसी प्रकार की नहीं है और जानते हैं समस्त विश्व को।

प्रभुदर्शन की विधि—हम आपके अन्दर इस शरीर के भीतर एक ज्ञानज्योतिस्वरूप पदार्थ है। वह पदार्थ अपने स्वरूप से जिस ज्ञानरूप है उतने को ही देखो, शरीर का भी ध्यान न रखकर केवल आकाशवत् अमूर्त, निर्लेप किन्तु ज्ञानमय एक यह मैं आत्मा हूँ—इस प्रकार बारबार भावना करें तो इस भावना के फल में और इस ज्ञान की अनुभूति के समय में विचित्र अनुपम आनन्द प्रकट होगा। उस समय के शुद्ध ज्ञान और शुद्ध आनन्द के अनुभव द्वारा यह पहिचान होगी कि अहो ! प्रभु तो इससे भी अनन्तगुणे शुद्ध ज्ञान और अनन्तगुणे

शुद्ध आनन्द के स्वामी होते हैं। जब तक कोई अपने आपके अन्तरंग में शुद्ध स्वरूप के दर्शन का बल न पायेगा तब तक उसे प्रभु का दर्शन नहीं हो सकता है।

छद्मस्थ और सर्वज्ञ का अन्तरप्रदर्शन—प्रभु का नाम केवलज्ञानी है, जो केवल अपने ही आत्मा के द्वारा जानते हैं उन्हें केवलज्ञानी कहते हैं। हम आप इन्द्रियों द्वारा जानते हैं। इन इन्द्रियों का बल लेकर जानने का हम आपका स्वभाव नहीं है। भला जो आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है वह अपने स्वरूप को अथवा किसी भी पदार्थ को जानने के लिए दूसरों का सहारा ले, यह तो स्वभाव की बात कैसे हो सकती है? यह परतंत्रता है। हम इन्द्रियों द्वारा जानते हैं, यह परतंत्रता है। आँखें खराब हो जायें तो हमारा जानना रुक जाता है, कानों में खराबी आ जाय तो शब्दों का जानना रुक जाता है, यह सब परतंत्रता है। ज्ञानमय आत्मा अपने ज्ञान को रोक दे ऐसा स्वभाव नहीं है परन्तु कर्मों की अधीनता है, ऐसी ही वर्तमान कायरता की परिस्थिति है। इस कारण इन्द्रियों से हम जानते हैं और इन्द्रियों से ही हम आनन्द पाना चाहते हैं। मैं ज्ञानानन्द स्वरूप हूँ, इसमें इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं है। मोहीजन इन इन्द्रियों के द्वारा चूँकि जानते हैं ना, इस कारण इन्द्रियों से प्रेम करते हैं। ज्ञानीजन चूँकि अपने स्वरूप को ज्ञानमय अनुभवते हैं ना, इस कारण इन्द्रिय की उपेक्षा करके केवल एक आत्मशक्ति से ही अन्तर में जानते हुए उसकी रुचि रखते हैं।

बन्ध का कारण—प्रभु समस्त विश्व को जानते हैं, फिर भी उनके किसी प्रकार की इच्छा नहीं है। इसी कारण वे कर्मों के बन्धक नहीं होते हैं, वे अबन्धक माने गए हैं। हम आप थोड़ा भी जानते हैं तो उस जानने के साथ ही कुछ राग भी किया करते हैं, इच्छा बनाया करते हैं। यहाँ जो हमें बन्धन होता है वह जानने का बन्धन नहीं है किन्तु इच्छा का बन्धन है। जगत में अनेक पदार्थ हैं। अभिलाषी पुरुष अपने इष्ट पदार्थों को जानते हैं और बँध जाते हैं। इस बंधते हुए में ज्ञान कारण नहीं है किन्तु अभिलाषा कारण है।

दृष्टान्तपूर्वक बन्धहेतु का समर्थन—एक बार चार-पाँच मित्र बाग़ में सैर करने जा रहे थे। वहाँ एक चिड़ीमार जाल बिछाए हुए एक पेड़ की ओट में छिपा हुआ था। चिड़िया आयी, जाल पर बैठी, वहाँ दाने चुगने लगी और फँस गयी। तो एक पुरुष बोला कि यह बाग़ बड़ा हत्यारा है, यह कितनी ही चिड़ियों को फाँस डालता है। दूसरा पुरुष बोला कि यह बाग़ हत्यारा नहीं है, यह शिकारी हत्यारा है, यही जाल में चिड़ियों को फाँस रहा है। तीसरा पुरुष बोला कि यह चिड़ीमार हत्यारा नहीं है, यह जाल जो सूत का बना हुआ है यह हत्यारा है, इस जाल ने कितनी ही चिड़ियों को फँसाया है। चौथा बोला कि इस जाल ने चिड़ियों को नहीं फाँसा है किन्तु जाल के भीतर पड़े हुए जो ये दाने हैं (चावल, गेहूँ, आदि अनाज) उन्होंने फाँसा है। तो 5 वाँ बोला कि नहीं नहीं, इन दानों ने नहीं फांसा है, किन्तु चिड़िया की स्वयं की जो इच्छा है, मैं दोनों को चुग लूँ, ऐसी इच्छा ने चिड़ियों को फाँसा है।

बन्धनविधि—ऐसे ही हम आप सब अपने भीतर का निर्णय करें। लोग यहाँ कैसी बड़ी परेशानी अनुभव करते हैं, मुझे इस कारोबार ने फाँस लिया है, मुझे इस गोष्ठी ने, समाज ने अथवा घर गृहस्थी ने फाँस लिया है, इन बच्चों ने मुझे इन बन्धन में डाल दिया। कितनी ही बातें आप सोचते जाइए, सब गलत हैं। हम आप पर न परिवार का बन्धन है, न गोष्ठी समाज आदि का बन्धन है। किन्तु उस ही में जो मोह है, इच्छा है, राग है, अज्ञान की अंधेरी है, इन सबके मिश्रण से जो एक अध्यवसान का भाव होता है उसका बन्धन है। किसी भी पदार्थ का बन्धन नहीं है। प्रभु तो समस्त विश्व को जानते हैं किन्तु वह तो कहीं भी नहीं फँसते, उनके कोई बन्धन नहीं है। संसार के यह पदार्थ स्वयं है और जो है उसमें ऐसी प्रकृति है कि वह निरन्तर परिणमता रहे और यह पदार्थ जब विभावरूप परिणमता है, अपने स्वभाव के खिलाफ परिणमता है तो नियम से किसी दूसरे पदार्थ का सम्बन्ध होगा, निमित्त होगा ही, तभी उसकी यह स्वभाव के खिलाफ परिणति है। अपने

स्वभाव के अनुसार ही परिणमने के लिए पदार्थ को किसी दूसरे निमित्त की जरूरत नहीं होती है, किन्तु जब स्वभाव के विरुद्ध परिणमे तो वह निमित्त पाकर ही परिणमता है।

सृष्टिस्वातन्त्र्य—यह सारा जगत अपनी सृष्टियाँ कर रहा है। इस जगत को बनाने वाले यदि प्रभु को मान लिया जाय तो यों मानने वाले ने अपनी कल्पना में प्रभु पर महा संकट थोपा है। प्रभु तो सर्वज्ञ होकर भी अपने अनन्त आनन्द रस में लीन रहा करते हैं। पदार्थों में ही स्वयं अपने आप प्रकृति पड़ी हुई है, जिसे चाहे 'उत्पादव्ययध्रौव्य' कहो या 'सत्त्व रज: तम:' कह लो। ये पदार्थ निरन्तर अपने ही स्वरूप से उत्पन्न होते रहते हैं, नई दशा बनाते हैं और पुरानी दशा को विलीन करते हैं, फिर भी वे पदार्थ शाश्वत निरन्तर रहते हैं। इसे चाहे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य कहो अथवा सत्त्व, रज, तम गुण कहो। सत्त्व गुण के कारण यह पदार्थ शाश्वत रहता है, रजोगुण के कारण यह पदार्थ नई दशा बनाता है, तमोगुण के कारण यह पदार्थ अपनी दशा विलीन करता है। यह त्रिमूर्तिमय देवता प्रत्येक पदार्थ में स्वभाव से ही मौजूद है। इस ही मर्म को ब्रह्मा, विष्णु और महेश शब्द से कहो। जिस पदार्थ में नवीन दशा होने की प्रकृति है वह ब्रह्मत्व है और वर्तमान दशा विलीन होने की जो प्रकृति है वह महेशत्व है और फिर भी वह पदार्थ सदाकाल रहता है यह उसमें विष्णुत्व है। इन पदार्थों को बनाने वाला कोई पृथक् प्रभु नहीं है।

आत्मसेवा का ध्यान—भैया ! प्रभु तो केवलज्ञान के द्वारा समस्त विश्व को जानते हैं। निर्दोष हैं, वीतराग हैं, शुद्ध ज्ञानानन्द के पुञ्ज हैं, ऐसे प्रभु की उपासना से, भक्ति से एक निर्मलता प्रकट होती है। हम आप ऐसे निर्दोष चमत्कारमय प्रभु के निकट ज्यों-ज्यों अधिक पहुँचेंगे उतना ही हम आप अद्भुत आनन्द पायेंगे। इन मोही जीवों के निकट जितना हम अधिक जायेंगे उतने ही व्यग्र होंगे। गृहस्थजन चूँकि बहुत से कामों में व्यस्त रहते हैं, सभी काम उन्हें करने पड़ते हैं फिर भी यह ध्यान रहे कि इन चौबीस घंटों में एक-आध घंटे का समय अपने आत्मा की सेवा के लिए रक्खें। साढ़े तेईस घंटे तो पड़े हैं जो चाहे काम कीजिएगा पर आधा घंटा किसी भी प्रकार देवदर्शन से, स्वाध्याय से, सत्संग में सम्मिलित होने से, प्रवचन सुनने से, धर्मचर्चा करने से किसी भी प्रकार अपने आत्मा की सेवा करें। इस आत्मसेवा के प्रसाद से ऐसा भी बल प्रकट होगा कि आपके साढ़े तेईस घंटे बड़ी कुशलता से व्यतीत होंगे। जिन सांसारिक गृहस्थी के कार्यों को आप करेंगे उनमें और भी सफलता पायेंगे। ये कमाने वाले मनुष्य के हाथ, पैर, सिर नहीं हैं। जो जीव पूर्वकाल में जैसा पुण्य उपार्जित करके आये हैं उसके अनुसार थोड़े से ही पुरुषार्थ में सब कुछ प्राप्त हो जाता है। उस धर्म की रक्षा करो, अपने आत्मा की सेवा करो।

आत्मसेवा का एक प्रासंगिक उदाहरण—एक पौराणिक घटना है। किसी शत्रु ने राजा पर आक्रमण कर दिया। राजा सेना लेकर शत्रु से लड़ने चला गया। इतने में दूसरे राजा ने, किसी दूसरे शत्रु ने भी उस पर हमला किया। उस समय महारानी राजगद्दी पर आसीन थी। उसने दूसरा सेनापति बुलवाया। वह सेनापति जैन था, रानी ने उस सेनापति से कहा कि तुम्हें उस शत्रु से युद्ध करने जाना है। सेना सजाकर वह शत्रु से युद्ध करने चला गया। हाथी पर सवार था वह सेनापति। जहाँ संध्या हो गयी वहीं हाथी पर चढ़े-चढ़े सामायिक करने लगा और उस सामायिक में प्रतिक्रमण भी करने लगा। मेरे द्वारा किन्हीं भी पेड़-पौधों को, किन्हीं भी कीड़ों-मकौड़ों को किसी को भी क्लेश पहुँचा हो तो वे सब क्षमा करें। इस प्रकार का क्षमापण का पाठ वह पढ़ने लगा। एक चुगलखोर ने रानी से जाकर चुगली कर दी कि आपने ऐसा सेनापति भेजा, जो कीड़ा-मकोड़ा, पेड़-पौधों से भी क्षमा मांगता है। वह क्या युद्ध करेगा? खैर 5-7 दिन में ही वह सेनापति युद्ध में विजय पाकर आ गया। रानी पूछती है—ऐ सेनापति हमने तो सुना है कि तुम पेड़ों से और कीड़े-मकौड़ों से भी माफी मांग रहे थे, तुमने शत्रु पर विजय कैसे पा ली? तो सेनापति, ने कहा कि मैं आपका साढ़े तेईस घण्टे का सेवक हूँ। उन साढ़े तेईस घण्टों में खाते हुए, सोते हुए भी कुछ काम आ जाय तो खाना सोना छोड़कर

आपकी ड्यूटी बजाऊँगा, किन्तु आध घण्टे अपने आत्मा की सेवा के लिए रक्खा है, उस आध घण्टे में संसार के सब जीवों से क्षमायाचना करता हूँ, मेरे द्वारा किसी को भी कष्ट पहुँचा हो तो माफ करो। तो उस समय में सब जीवों से क्षमायाचना कर रहा था। जब अपनी आत्मसेवा कर ली तब आपकी सेवा को चला गया और वहाँ वीरता से लड़कर विजय प्राप्त करके आया।

समय के सदुपयोग की शिक्षा—उक्त कथानक से हमें यह शिक्षा लेनी है कि हम साढ़े तेईस घण्टे यदि अनेक कामों में फँसे रहते हैं तो कम से कम आध घण्टा एक घण्टा विशुद्ध धर्मध्यान का अवश्य ही रखना चाहिए। न रक्खें तो समय तो यों ही गुजर जाता है, जैसे चाहे गुजर जाय। समय गुजर जाता है, लाभ कुछ नहीं मिलता है। लगता ऐसा है कि हम संकटों से बच गए पर लाभ क्या मिला, कौनसा संकट बच गया? जो आत्मसेवा न करके गप्पों में रहा आया। यदि अहर्निश कमाई कर सकते हो तो खूब चौबीसों घण्टे धनार्जन का काम कीजिए। नहीं कर सकते हो ना चौबीसों घण्टे धनार्जन का काम, तो बचे हुए समय में से ही आधा घण्टा एक घण्टा धर्मसाधना में लगावो, धनार्जन के लिए तो चार छः घण्टे का ही समय नीयत है, बाकी समय का क्या उपयोग करना, इस पर जरूर विवेक रखना चाहिए।

प्रभु की विशिष्टता—प्रभु सर्वज्ञ वीतरागदेव के वाञ्छा नहीं है। ये अरहंत कहलाते हैं। अरहंत कहते हैं पुण्य को। 'अर्ह पूजायां' धातु से अरहंत शब्द बनता है। भगवान अरहंत परमेष्ठी हैं, परमेष्ठी उन्हें कहते हैं जो परमपद से स्थित हों। लोक में जिससे बढ़कर और कुछ पद नहीं है उस पद में जो स्थित रहते हैं उन्हें परमेष्ठी कहते हैं। यह प्रभु केवलज्ञानादिक शुद्ध गुणों के आधारभूत हैं। यह केवलज्ञान उनको तपश्चरण से प्रकट हुआ है। अब यह केवलज्ञान कभी न मिट सकेगा। ये प्रभु इन्द्रियों द्वारा नहीं जानते हैं किन्तु समस्त आत्मप्रदेशों से जानते हैं। जैसे मिश्री मीठे रस से भरपूर है, ऐसे ही प्रभु का यह आत्मा ज्ञानरस से भरपूर है, सर्व ओर से प्रभु समस्त विश्व को जानते रहते हैं, वे समस्त विश्व को जानते हैं फिर भी मन की प्रवृत्ति उनके नहीं हैं। इस कारण इच्छापूर्वक उनका जानना नहीं होता है और इच्छापूर्वक उनका विहार और उपदेश भी नहीं होता है।

प्रभु का निरीह विहार—प्रभु सकल परमात्मा, सगुणब्रह्म, सर्वज्ञप्रभु जब तक शरीर सहित है तब तक उनका विहार भी होता है। विहार किस ओर होता है जहाँ के अतिशय पुण्य से, उस पुण्य के निमित्त से प्रभु का विहार उस ओर हो जाता है। वह जान-बूझकर विहार नहीं करते किन्तु जिनके पुण्य का उदय आ जाता है वहाँ ही विहार हो जाता है। जैसे ये मेघ उड़ते हैं तो यह जानकर नहीं उड़ते, जानकर नहीं बरसते कि मैं इस गाँव में बरस जाऊँ और किसानों की खेती को खूब हरा-भरा कर दूँ, किन्तु जहाँ की जनता का अधिक अच्छा भाग्य है वहाँ ही ये मेघ आ जाते हैं और बरसते हैं। ऐसे ही प्रभु का विहार होता है।

प्रभु की निरीह दिव्यध्वनि—मेघ गरजते हैं, ये चाह कर नहीं गरजते हैं किन्तु उनकी प्रकृति है। यों ही वहाँ प्रभु का उपदेश होता है वह चाहकर नहीं, किन्तु भव्य जीवों के पुण्य का उदय है और प्रभु ने मुनि अवस्था में या इससे पहिले जीवों के कल्याण की भावना खूब भायी थी। सों भव्यों के पुण्य के प्रताप से व प्रभु के वचनयोग के कारण प्रभुसर्वज्ञदेव की ध्वनि निकलती है। निरीह उपदेष्टा भगवान केवलज्ञानी कर्मों से नहीं बँधते हैं क्योंकि उनके इच्छा ही नहीं है। बन्धन तो इच्छा से होता है। कोई पुरुष किसी अन्य पुरुष या स्त्री के वश हो तो उसमें उस पुरुष की इच्छा ही कारण है। इच्छा ही बन्धन है, इच्छा ही परिग्रह है। जिसके इच्छा है उसको संसार में रुलना होता है, जिसके इच्छा नहीं है वह संसार से मुक्त हो जाता है। यह प्रभु इन पदार्थों को जानकर भी न तो इन पदार्थों रूप परिणमते हैं, न इन पदार्थों का ग्रहण करते हैं, न इन पदार्थों रूप उत्पन्न होते हैं। प्रभु स्वतंत्र हैं, अबंधक हैं।

मनोविजय में ही महान् विजय—भैया ! रंच भी इच्छा हो जाय तो वह इच्छा काँटे की तरह हृदय में, चित्त में पीड़ा देती रहती है। इसका कर्तव्य है ऐसा ज्ञानाभ्यास करे कि उन इच्छावों पर विजय प्राप्त करे। इच्छा थोड़े समय को होती है। उस ही समय में यदि यह बह जाय तो वह और भी विपदा का पात्र होता है। इच्छा को न बढ़ने दें, मन को वश में करें, ऐसा अपना ज्ञान बनाएँ तो वह पुरुष संसार पर विजय प्राप्त कर सकता है। एक राजा था, उसने सब राजावों को वश कर लिया अपने तेज और प्रताप से, तब सभी राजा लोग उसे सर्वजीत कहने लगे। पर उसकी माँ उसे सर्वजीत न कहे तो वह बोला—माँ मुझे सारी दुनिया सर्वजीत कहती है, पर तू मुझे सर्वजीत क्यों नहीं कहती? तो माँ बोली—बेटा ! अभी तू ने सबको जीता नहीं है इसलिए मैं तुझे सर्वजीत नहीं कहती। तो वह बोला—अच्छा बतावो, अब कौनसा राजा मुझे जीतने को बाकी रह गया है? तो माँ कहती है कि बेटा, तू ने सब राजावों को तो जीत लिया है, पर तू ने अपने मन को नहीं जीता है। तू इन राजाओं को जीत कर हर्ष के मारे फूला नहीं समा रहा है। तू अभी संसार के स्वरूप को नहीं जानता है, तू अभी अपनी इच्छावों पर विजय नहीं पा रहा है तो तुझे कैसे सर्वजीत कहें? बेटा, जब तू अपनी इच्छावों पर भी विजय प्राप्त कर लेगा तब मैं तुझे सर्वजीत कहूँगी।

प्रभु का सर्वविजयित्व—ये प्रभु सर्वजीत हैं, इन्होंने सब पर विजय प्राप्त कर ली है। देखो, मध्यलोक, अधोलोक और ऊर्ध्वलोक—इन तीनों लोकों के सभी जीव इनके चरणों में अपना शीश नमाते हैं। आप यह शंका कर सकते हैं कि कहाँ सब जीव इनके चरणों में अपना शीश नमाते हैं, यहाँ तो 10-20 लोग ही इनके चरणों में शीश नमाते हैं, और बाकी तमाम लोग तो गालियां भी देते हैं। तो भाई सब नहीं आते तो न सही, पर मध्यलोक का इन्द्र सम्राट् चक्री भगवान के चरणों में आ जाय तो इसका ही यह मतलब है कि मध्यलोक के सभी जीव उनके चरणों में आ गए। इसी प्रकार अधोलोक और ऊर्ध्वलोक के इन्द्र भगवान के चरणों में आ जायें तो इसका यह ही मतलब है कि अधोलोक और ऊर्ध्वलोक के सभी जीव भगवान के चरणों में आ गए। अधोलोक के भवन-व्यंतर जाति के देवों के इन्द्र जब भगवान के चरणों में आ गए तो इसका मतलब है कि वहाँ के सभी जीव भगवान के चरणों में आ गए। यह प्रभु सर्वजीत है। सारे जहान को उन्होंने जीत लिया है।

प्रभु की उपासनीयता—सर्वज्ञ प्रभु सहज महिमावंत हैं। सारे विश्व को जानते-देखते हुए भी मोह के अभाव के कारण किसी भी परपदार्थ का वे ग्रहण नहीं करते हैं और समस्त विश्व के ज्ञाता-द्रष्टा रहकर अपनी प्रभुता का, अपने शाश्वत आनन्द का भोग करते हैं। ऐसी प्रभुता पा लेना हम सबका भी स्वरूप है। हम प्रभु के अधिक से अधिक निकट पहूँचे और अपने इस दुर्लभ नरजीवन को सफल करें।

गाथा 173 , 174

परिणामपुव्ववयणं जीवस्स य बंधकारणं होई।

परिणामरहियवयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो।।173।।

ईहापुव्बं वयणं जीवस्स य बंधकारणं होई।

ईहारहियं वयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो।।174।।

निरीह ज्ञाता-द्रष्टा प्रभु के बन्धाभाव का समर्थन—पूर्व गाथा में यह बताया था कि केवली भगवान ईहापूर्वक जानते-देखते नहीं हैं इस कारण उनके बंध नहीं होता। उस ही विषय का विवरण इन दो गाथावों में किया

गया है। मन के परिणामपूर्वक जो वचन निकलते हैं वे वचन जीव को बंध के कारण होते हैं, किन्तु भगवान केवली सकल परमात्मा के मन के परिणाम से रहित वचन निकला करते हैं। सातिशय दिव्यध्वनि खिरती है, उससे केवलज्ञानी को बंध नहीं होता है। प्रभु के रागद्वेष रंचमात्र भी नहीं रहा। करते हों रागद्वेष, तो उनमें और हममें विशेषता क्या हुई? हम भी रागी-द्वेषी हुए और प्रभु भी रागीद्वेषी हुए, किन्तु यह प्रभुता की बात नहीं है। शुद्ध पदार्थ ही प्रशंसा के योग्य है। भगवान आत्मा रागद्वेषरहित विशुद्ध है इस कारण यह अबन्धक है और यह ही पूज्य है।

भगवान की सातिशय दिव्यध्वनि—जिसमें राग और द्वेष न हों उसके वचन भी नहीं निकला करते हैं। ऐसे वचन जो पदवर्ण सहित हों, संदर्भसहित बोले जायें, ऐसे वचन राग बिना नहीं निकला करते हैं। प्रभु के राग नहीं है इस कारण भगवान हम आप मनुष्यों जैसी बात, प्रीति नहीं करते। फिर भी उन्होंने साधक अवस्था में जब आत्मसाधना कर रहे थे उन समयों में यह भावना की थी कि जगत के ये प्राणी भ्रमवश अज्ञान से दु:खी हो रहे हैं। इनके सुखी होने का जरासा तो सुगम उपाय है, जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा समझ जायें, विपरीत ज्ञान न बनायें, फिर तो इनकी संसार के संकटों से मुक्ति हो ही जायेगी, इतना सीधा उपाय नहीं करते बन रहा है इन जीवों से, इनमें सुबुद्धि जगे और यह भ्रम-वासना विनष्ट हो, सब जीव सुखी हों, ऐसी भावना की थी। उस भावना में विशिष्ट पुण्य-प्रकृति का बंध हुआ था, जिन पुण्य-प्रकृतियों के कारण अब भगवान के जन्मसमय, भगवान के जीवन में प्रभुता प्रकट होने से पहिले ही इन्द्रों ने, मनुष्यों ने, चक्रियों ने, सभी ने उनकी बड़ी महनीयता प्रसिद्ध की थी। यह प्रभु उस ही पुण्य-प्रकृति के उदय में और भव्य जीवों के भाग्य की प्रेरणा से बोलते तो हैं पर मुख से नहीं बोलते। सारे शरीर से एक 'ॐ' की प्रणव अनहद दिव्यध्वनि खिरती है। 'जिनकी ध्वनि है ॐकार रूप, निरअक्षरमय महिमा अनूप।।' उसमें अक्षर नहीं हैं, वचनपदविन्यास नहीं है। मेघगर्जनावत् है, किन्तु सुहावनी है और अनेक मूल मंत्राक्षरों से भरी हुई दिव्यध्वनि निकलती है। उनके ये वचन बंध के करने वाले नहीं हैं। हाँ, अपनी बुद्धि से, अपने मन के परिणमन से वचन बोले जायें तो उससे बंध होता है।

प्रीतिकल्पना में बन्धन—कोई मनुष्य किसी मनुष्य से प्रेमपूर्वक वचन बोलता है। वह भी बोलता है तो परस्पर में वह बँध जाता है, एक दूसरे के अधीन हो जाता है, एक दूसरे की सेवा करने के लिए दृढ़संकल्प हो जाता है। यह बन्धन वचनव्यवहार से नहीं हुआ, किन्तु उस वचनव्यवहार के कारण दूसरे के हृदय का प्रेम जाना, उस प्रेम से आकर्षित होकर परस्पर का बंधन बँधा, वचनों से बंधन नहीं बँधा। यदि यह विदित हो जाय कि यह ऊपरी मन से बिना राग के अथवा हमें फँसाने के लिए बहुत प्रेमपूर्वक बोल रहा है तो उसकी प्रेममयी वाणी को सुनकर भी बंधन नहीं होता क्योंकि जब तक यह अनुभव में न आये कि इसमें मेरे प्रति बहुत प्रेम है तब तक आकर्षण नहीं होता है। तो वचनव्यवहार करने पर भी जो बन्धन हो जाता है वह वचनों का बन्धन नहीं है, किन्तु प्रेम की प्रतीति हुई उसका बन्धन है। सारांश यह है कि जितने भी बंधन होते हैं वे मन के प्रयत्न से बन्धन होते हैं, वचनों से नहीं।

भगवान की अतीन्द्रियता व अमनस्कता—भगवान मनरहित है। मन एक भीतर की इन्द्रिय है। जैसे यहाँ 5 इन्द्रियाँ ऊपर से दिखती हैं इस ही प्रकार एक भीतर में इन्द्रिय है जो इन पाँच इन्द्रियों से भी सूक्ष्म है किन्तु कार्य करने में इन पाँचों से भी तेज है, उसका नाम है अंत:करण। करण नाम इन्द्रिय का है। 5 तो हैं बाह्यकरण और एक है अंत:करण। भीतर की इन्द्रिय का नाम है अंत:करण। लोग कह तो देते हैं जरा अंत:करण से सोचिये, पर अंत:करण का क्या मर्म है इससे प्राय: लोग अपरिचित रहते है। जैसे कान, आँख, नाक आदिक जो बाह्य इन्द्रियाँ हैं इनके माध्यम से, इनके उपयोग से हम पदार्थों को जानते हैं ऐसे ही हम अन्तर में 8 पांखुरी के कमल के आकार बने हुए मन के उपयोग से हम बहुत सी बातें जान जाते हैं। जैसे

इन्द्रियों से जानने का विषय नियत है, कानों से केवल शब्द ही जाने जायें, आँखों से रूप ही समझा जाय, नासिका से गंध ही जानी जाय, रसना से रस ही चखा जाय, और स्पर्शन से स्पर्श जाना जाय, ऐसा नियत विषय मन का नहीं है कि यह मन किसे जाने? 5 इन्द्रियों के विषयों को छोड़कर बाकी सब कुछ जो भी ज्ञात होता है वह सब मन का विषय है। इन छहों प्रसंगों में बन्धन है। भगवान जैसे इन्द्रियज्ञान से रहित हैं ऐसे ही मानसिकज्ञान से रहित हैं। वे केवलज्ञानी हैं, उनके बन्धन नहीं होता।

प्रभु का स्वसहाय ज्ञान—भगवान मनुष्यगति में ही तो हुए हैं। जब शरीर न रहेगा तब वे गतिरहित कहलायेंगे, सिद्ध कहलायेंगे, पर जब तक शरीर है तब तक यह मनुष्यगति के ही तो कहलायेंगे। अरहंत प्रभु भगवान सकलपरमात्मा, सगुण ब्रह्म, मनुष्य ही तो हैं, इनके मन था। जिस मन का अभी आकार में वर्णन किया है उसका तो नाम है द्रव्यमन, पौद्गलिकमन, भौतिकमन और उस मन के निमित्त से जो कुछ ज्ञान किया जाता है वह ज्ञान है भावमन। प्रभु अरहंत के शरीर है, इस कारण द्रव्यमन कहाँ जायेगा? द्रव्यमन तो बना हुआ है। जैसे कि प्रभु में शरीर, रसना, नाक, आँख, कान बने हुए हैं ऐसे ही भीतर के मन की इन्द्रिय भी बनी है, लेकिन जैसे भगवान इन्द्रिय के द्वारा जानते नहीं हैं, किन्तु आत्मीयशक्ति से समस्त पदार्थों को युगपत् स्पष्ट जानते हैं ऐसे ही प्रभु केवली मन के द्वारा जानते नहीं हैं किन्तु मन के अवलम्बन बिना आत्मीयशक्ति से समस्त विश्व को जानते हैं।

निरिच्छ ध्वनि—ये केवली मनरहित हैं। मन की परिणतिपूर्वक वचन निकलना, सो बंध का कारण है, किन्तु प्रभु का वचन मन की परिणति पूर्वक नहीं होता। प्रभु के मुखारबिन्द से निकली हुई वाणी यद्यपि यह वाणी सर्वांग से विनिर्गत होती है, किन्तु जैसे यह सर्व अंग से प्रकट हुई, मुख से भी प्रकट हुई। वाणी सबके मुख से ही निकलती है, इस कारण मुखारबिन्द से निकली हुई वाणी केवली के भी बतायी जाती है। वे वचन, वह दिव्यध्वनि इच्छापूर्वक नहीं है। प्रभु का वचन मनुष्यों के हृदय को आह्लाद उत्पन्न करने वाला है।

सम्यग्ज्ञानीसमागम की दुर्लभता—भैया ! जगत में सब कुछ मिल जाना सुगम है, पर सम्यग्ज्ञानियों का संग मिलना अति दुर्लभ है। इस लोक में सर्वत्र मोही-मोही जीव ही तो भरे पड़े हैं। ये स्थावर कीड़ेमकौड़े, ये सब तो प्रकट ही मोही हैं, अज्ञानी हैं, सिवाय एक अपने यथातथा जीवन बिताने के और कुछ इन्हें लाभ नहीं है। जिनकी जो पद्धति है उस पद्धति से आहार करते हैं और अपने मोह में जीवन व्यतीत करते हैं। जो उन्हें शरीर मिला है उस शरीर को ही अपना सर्वस्व समझते हैं और शरीर की रक्षा में ही उनका मौज रहा करता है। पशुपक्षी भी वह मोही जगत् है, यह मनुष्य समाज भी मोही जगत् है, किसी देश में चले जावो आत्मा की दृष्टि रखने वाले, मोह और कषायों पर विजय करने वाले पुरुष कितने मिलेंगे? जो संसार, शरीर और भोगों से विरक्त हैं, जगत् के समस्त पदार्थों के मात्र ज्ञाताद्रष्टा हैं, किसी भी पदार्थ के प्रति रंचमात्र भी श्रम नहीं करते हैं, किसी को अपनाते नहीं हैं, ज्ञानस्वरूप अपने आपको ही मान रहे हैं ऐसा ज्ञानानुभव करने वाले संतजन इस ज्ञानानुभूति के प्रसाद से घातिया कर्मों का नाश कर सर्वज्ञ होते हैं, ऐसे सम्यग्ज्ञानियों का संग मिलना बहुत दुर्लभ है।

पर की उपेक्षा—जैसे किसी उदास बच्चे का मन भरने के लिए अनिष्ट चीज, साधारण तुच्छ चीज हाथ में दे दो तो वह उसे फेंक देता है, उसका उस तुच्छ चीज में मन नहीं रमता है। जिसे जो अनभीष्ट है उसमें कहाँ रमेगा वह? यों ही इस ज्ञानीसंत पुरुष को एक ज्ञानस्वरूप की उपासना के अतिरिक्त सब कुछ अनिष्ट है। किसी भी बाह्य पदार्थ में उसका चित्त नहीं रमता। जो केवलज्ञान की ही उपासना किया करता है, ऐसा विरक्त संत इस लोक में दुर्लभ है। उसका संग मिले, यह बहुत ही विशेष पुण्य की बात होगी। मोही जनों में रम-रमकर या उनमें ही सिर मार-मारकर कुछ भी मेरा हित न होगा, ऐसा जानता है ज्ञानी, इस कारण अनिष्ट वस्तु को यों ही फेंक देता है, परपदार्थ की उपेक्षा करता है।

आत्मत्व और परमात्मत्व—केवली भगवान परमवैराग्य और ज्ञान के फल हैं। उनकी इच्छापूर्वक वचनरचना नहीं है इसलिए वह महिमावंत हैं, समस्त लोक के नाथ हैं। एक राजा था, वह न भगवान को माने, न आत्मा को माने। इस विषय पर मंत्री से बहुत कुछ विवाद कभी-कभी चला करता था। एक बार वह राजा घोड़े पर सवार हुआ मंत्री के दरवाजे के सामने से निकल रहा था। मंत्री भी बाहर खड़ा हुआ था। राजा कहता है मंत्री तुम हमें आत्मा और परमात्मा की बात जल्दी समझावो, 5 मिनट में समझा दो। मंत्री बोला—महाराज 5 मिनट भी न लगेगा, पाव मिनट लगेगा; आपको हम आत्मा और परमात्मा की बात पाव मिनट में समझा देंगे किन्तु हमारा कसूर जो जंचे वह माफ हो। राजा बोला—अच्छा माफ। इसके अनन्तर राजा के हाथ से मंत्री ने कोड़ा छीन लिया और दो चार कोड़े राजा को जमा दिये, तो राजा बोला—अरे ! रे ! रे ! भगवान। मंत्री बोला, जिसने अरे ! रे ! रे !कहा है वह तो है आत्मा और जिसको भगवान कहा है वह है भगवान। अब समझ में आया कुछ? राजा बोला—हाँ अब समझ में आया तो आत्मा की बात कौन नहीं जानता? जिसमें सुख-दु:ख अनुभव, तर्क-वितर्क के अनुभव जग रहे हैं वही तो आत्मा है। जिसमें मैं मैं की अंत:ध्वनि चलती है, मैं हूँ मैं हूँ, वह कुछ तो है और जब यह मैं जाननहार पदार्थ रागद्वेष रहित दोषरहित और अपने गुणों के विकास से परिपूर्ण हो, वही भगवान है।

निरीह और ईहासहित ज्ञान का फल—हम आप जितना नेह भगवान को तजकर अन्य पदार्थों में लगायेंगे उतने ही हम दु:खी और भ्रान्त बनते चले जायेंगे। मंगल प्रभुस्वरूप है, लोक में उत्तम यह प्रभुरूप है और शरण भी ऐसी प्रभुता ही है। यह भगवान प्रभु तीनों लोक के गुरु हैं, इन्होंने घातिया कर्मों का नाश किया है, इनके ज्ञान में समस्त विश्व ज्ञात हो रहा है। इनके न बंध की कल्पना है, न मोक्ष की कल्पना है, न इनमें बेहोशी है और न होश है किन्तु शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। यह सब माहात्म्य किस बात का है? प्रभु ने समस्त परपदार्थों का मोह त्याग कर रागद्वेष से परे होकर केवल एक स्वच्छ ज्ञानप्रकाश की ही उपासना की थी, उसका यह फल है कि सारा विश्व उनके ज्ञान में झलक रहा है। हम लोग जान-जानकर अर्थात् राग कर-करके अपने प्रयोजन से, स्वार्थ से पदार्थों को जानने में लगते हैं। फल यह होता है कि हम ज्यों के त्यों रहते हैं, ज्ञान में जरा भी बढ़ नहीं पाते हैं। जो पुरुष बाह्य पदार्थों में मोह त्यागकर केवल ज्ञानप्रकाश का ही आश्रय लेता है उसका ज्ञान इतना विशिष्ट हो जाता है कि उसको लोक और अलोक सब कुछ प्रतिभास हो जाते हैं।

प्रभुमहिमा—भगवान में न धर्म का प्रपंच है, न कर्म का प्रपंच है। जैसे लोग व्यवहारधर्म किया करते हैं, व्यवहारधर्म में इन्द्रिय का उपयोग लगाते हैं, ये भी प्रयत्न प्रभु के नहीं हैं। राग का अभाव हो जाने से उनके अतुल महिमा प्रकट हुई है। इस लोक में भी जो मनुष्य पक्षपात नहीं करता, रागद्वेष में नहीं उलझता उस पुरुष की यहाँ भी महिमा गायी जाती है। लोगों का आकर्षण पक्षपातियों की ओर नहीं होता, किन्तु सरल पुरुषों के प्रति लोगों को आकर्षण होता है। प्रभु तो रागद्वेष से बिल्कुल परे हैं, वे तो अपने ही सुख में लीन हैं। इस प्रभु के बन्धन नहीं है।

शुद्धविकास की प्रभुता—इस शुद्धोपयोग अधिकार में आत्मा के ज्ञान और दर्शन—इन दो उपयोगों का वर्णन चल रहा है। इस प्रसंग में यह कहा जा रहा है कि भगवान का ज्ञान और दर्शन अतीव स्वच्छ है। उनका न अब जन्म होगा और न मरण होगा, न वे अब संसार में रुलेंगे, किन्तु समस्त ज्ञेय पदार्थों को जानकर वे सदा अपने आनन्दरस में लीन रहते हैं, रहेंगे। प्रभु नाम है ज्ञान और आनन्द के शुद्ध विकास का। प्रभु को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और आनन्दघन कहा करते हैं। हम आप सब कुछ जानने, सब कुछ देखने और आनन्द पाने की अभिलाषा रखते हैं। इन तीनों की पूर्णता प्रभु में है, इसी कारण उन्हें सच्चिदानन्द स्वरूप कहा करते हैं। उन भगवान के रागद्वेष की वासना न होने से बंध नहीं है। वे स्वतंत्र और सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, आनन्दघन हैं।

इनके ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग का शुद्ध विकास हुआ है जिससे केवली प्रभु निज और परसमस्त पदार्थों को युगपत् जानते और देखते रहते हैं।

गाथा 175

ठाणणि सेज्जविहारा ईहापुव्बं ण होइ केवलिणो।

तम्हा ण होइ बंधो साकट्ठं मोहणीयस्स।।175।।

केवली प्रभु के बन्ध का अभाव—केवली भगवान के विहार करना, खड़े रहना—ये सब इच्छापूर्वक नहीं होते। इस कारण केवली प्रभु के इस देह की प्रवृत्तियों के कारण बंध नहीं है। इन्द्रिय के विषयों के रूप में देह की प्रवृत्ति हो तो बंध होता है। भगवान सकलपरमात्मा जो परम अर्हंत्य लक्ष्मी से सहित हैं उन केवली प्रभु के, उन वीतराग सर्वज्ञदेव के कुछ भी प्रवृत्ति ईहापूर्वक नहीं होती है। कितना शुद्ध स्वरूप है प्रभु का? यद्यपि चार अघातिया कर्मों का उदय होने से शरीर का अभी बन्धन लगा है प्रभु के, किन्तु निर्दोष हो जाने के कारण उस शरीर की वजह से न बंध होता है न क्लेश होता है।

प्रभु की मानुषोत्तरता—प्रभु का शरीर परमौदारिक शरीर है, हम लोगों का शरीर औदारिक शरीर है। ऐसा ही शरीर उनके भी था, पर केवलज्ञान होते ही उस शरीर में अतिशय हो जाता है, वह निर्दोष हो जाता है, कान्तिमान् हो जाता है। जहाँ भगवान विराजे हों वहाँ अँधेरा नहीं रह सकता। उनका शरीर भी स्वयं देदीप्यमान होता है। धातु और उपधातु मलिन नहीं रहते हैं। उनके शरीर में अपवित्रता नहीं रहती। मनुष्यों के देह से विलक्षण देह उनका हो जाता है। इस कारण उन्हें मानुषोत्तर प्रकृति वाला कहते हैं। वे मनुष्यों से उठे हुए हैं, उनकी कुछ भी प्रवृत्ति इच्छापूर्वक नहीं होती है क्योंकि उनके मन ही नहीं है, मन की प्रवृत्ति नहीं है, इसी कारण प्रभु कुछ नहीं चाहते हैं। इसी निर्दोषता के कारण वे सकलज्ञ हुए हैं व परमौदारिक शरीरी हुए हैं।

मन:परिणतिपूर्वक प्रवृत्ति न होने से प्रभु के बन्ध का अभाव—भैया ! जितना भी बन्धन है वह सब चाह में बन्धन है। अन्तरंग में चाह की दाह होती है उसकी वेदना नहीं सह सकते तो बाहरी चीजों का बन्धन बना लिया जाता है। गृहस्थावस्था अनेक चाहों कर भरी हुई है फिर भी इतना विवेक रखना चाहिए कि हम किसी न किसी क्षण समस्त कलंकों से विमुक्त अपने आपके शुद्ध ज्ञानस्वरूप का भान कर सकें। यह पुरुषार्थ ही वास्तविक शरण है, अन्य सर्वसमागम असार हैं। केवली भगवान मन रहित हैं, किन्तु वे मनरहित असंज्ञी जीवों की तरह नहीं हैं किन्तु द्रव्यमन होते हुए भी भावमन नहीं चल रहा है, यों अमनस्क हैं। वे इच्छापूर्वक न तो ठहरते हैं, न बैठते हैं न उनका श्रीविहार होता है। सोच लीजिए, मनुष्यगति के नाते केवली भगवान का औदारिक शरीर है, हाँ परमौदारिक जरूर है और हाथ, पैर, नाक, आँख जैसे हम आपके हैं वैसे ही उनके हैं। जैसे हम चलते हैं डग भर कर ऐसे ही वे चलते हैं डग भर कर, और फिर भी इच्छापूर्वक न वे चलते हैं, न उठते हैं, न बैठते हैं। इसी कारण तीर्थंकर परमदेव को चारों ही प्रकार का बंध नहीं होता है।

बन्धन की चतुष्प्रकारता का दृष्टान्त—कर्मों बन्धन में चार प्रकार के होते हैं। प्रकृति का बंध हो, प्रदेश का बंध हो, स्थिति का बंध हो और शक्ति का बंध हो। हम आप भोजन करते हैं तो उस भोजन किए गये पदार्थ का जो पेट में सम्बन्ध हुआ है वह तो, समझिये दृष्टान्त में कि, प्रदेशबंध है भोजन का और उस भोजन में जो यह प्रकृति पड़ी है कि इतना अंश रुधिर आदिक द्रव धातु बनेगा, इतना अंश मल आदिक फोक बनेगा, इतना अंश हड्डी आदिक कठोर चीज बनेगा। तो जो उस किए हुए भोजन के विभाग हैं उसे समझिये दृष्टान्त में प्रकृतिबंध। यह अमुक पदार्थ इतने दिनों तक शरीर के साथ टिकेगा। खून बनने वाला पदार्थ मानो 10,

20 वर्षों तक टिकेगा, हड्डी बनने वाला पदार्थ 50 वर्ष तक टिकेगा आदिक उन पदार्थों की शरीर में स्थिति बंध गयी। पसेव बनने वाले पदार्थ कुछ मिनट ही टिकते हैं, मल बनने वाले पदार्थ कुछ घंटा टिकते हैं। ऐसी जो स्थिति बँध गयी वह है दृष्टान्त में स्थिति बंध और उन पदार्थों में भी शक्ति बस गयी। हड्डी में विशेष शक्ति है, खून में कम शक्ति है, पसेव में बहुत कम शक्ति है। इस तरह उन पदार्थों में जो शक्ति बँध गयी वह है दृष्टान्त में अनुभाग बंध।

कर्मबन्ध की चतुष्प्रकारता—ऐसे ही चार प्रकार का बन्धन कर्मों के विषय में होता है। कर्म एक पुद्गल भौतिक पदार्थ है, जिसे कार्मण वर्गणाएँ कहते हैं। समस्त लोक में ठसाठस कर्मपुद्गल (कार्मण-वर्गणाएँ) बसा हुआ है और इस प्रत्येक संसारी जीव के साथ अनेक कर्मपुद्गल ऐसे साथ लगे हुए हैं जो कि अभी कर्मरूप तो नहीं बने किन्तु बँध सकते हैं। ऐसे ही कर्मपुद्गल, मरने पर जीव के साथ जाते हैं, और जो कर्मरूप बन गए ऐसे कर्मपुद्गल भी जीव के साथ जाते हैं। जब यह जीव कषाय करता है तो अनेक कार्मण-वर्गणाएँ कर्मरूप बन जाती हैं। उन कर्मों का जीव के साथ सम्बन्ध होना यह तो है प्रदेशबंध और उन कर्मों में जो यह प्रकृति आयी इतने कर्मपुद्गल जीव के ज्ञानगुण को घातेंगे, इतने कर्मपुद्गल जीव के सुख-दु:ख के कारण होंगे, इतने कर्मपुद्गल जीव के शरीर-बन्धन के कारण होंगे। इस तरह जो प्रकृति पड़ गई वह है प्रकृतिबंध। ये कर्म करोड़ों वर्षों तक साथ रहेंगे, ये कर्म सागरों पर्यंत साथ रहेंगे ऐसी जो उसमें स्थिति बँध गयी वह है स्थितिबंध और उनमें फलदान की जो शक्ति आयी है वह है अनुभागबंध। हम आप लोगों की जरासी असावधानी में सागरों की स्थिति के कर्म बँध जाते हैं।

इच्छा के अभाव से बन्धन का अभाव—भगवान अरहंत केवली के चूँकि रागद्वेष रंच नहीं है, इच्छा का अभाव है इस कारण कर्मों का बन्धन नहीं होता। यद्यपि उनके भी दिव्यवचन निकलते हैं; विहार, उठना, बैठना ये सब भी उनके देह से हो रहे हैं, लेकिन इच्छा न होने से बन्धन नहीं है। कुछ दृष्टान्तरूप फर्क का अंदाज तो यहाँ भी कर सकते हैं। एक मुनीम सेठ की फर्म पर सारा काम सँभालता है, बैंक का, तिजोरी का, हिसाब का। सब कुछ प्रबंध करने पर भी चूँकि उस मुनीम के उस सम्पदा की इच्छा नहीं है इससे उसके शल्यरूप बन्धन नहीं है, केवल जो स्वयं वेतन लेता है उसकी इच्छामात्र का बंध है और बन्धन नहीं है, जबकि सेठ को जो कि फर्म पर बैठता भी न हो, अथवा घंटा, आध घंटा ही बैठता हो उसके उसका बन्धन है। यह मेरी इतनी जायदाद है यह प्रतीति बनी है। उसके हानि-लाभ में उसे हर्ष-विषाद है। जबकि मुनीम को फर्म के घाटे अथवा लाभ में जो कुछ प्रभाव उसके वेतन पर पड सकता है उतने अंश में उसे खेद और हर्ष है। इच्छा ही एक बन्धन है। प्रभु के इच्छा का अभाव है, इस कारण प्रभु के बन्धन नहीं है।

बन्धहेतुता—यह बन्धन किस कारण से होता है, किसको होता है? यह बन्धन मोहनीय कर्मों के विलास से होता है। मोह-रागद्वेष का जो फैलाव है इससे बन्धन है। थोड़ा परिचय हो जाय, वहीं यह बन्धन कर लेता है तो जिसका मोह और राग का अन्तरंग से सम्बन्ध है उनको तो बन्धन प्रकट ही है। अच्छा बतलावो, जैसे शरीर वाले त्यागी, साधुसंत होते हैं ऐसे ही शरीर वाले तो ये गृहस्थजन हैं। जैसे वे अकेले हैं ऐसे ही आप सब भी अकेले हैं। क्या साथ लेकर आप बैठे हैं? किन्तु अपने नगर को छोड़कर, घर छोड़कर आपका जाना नहीं बन सकता है। साधु के चित्त में आया तो जहाँ चाहे चल दिया। उसको कुछ बन्धन नहीं है और गृहस्थजनों को बन्धन है।

भावबन्धनवशता—भैया ! यहाँ भी कोई बँधा नहीं है शरीर से। शरीर ये भी अकेले ही है, किन्तु भीतर में जो मोहभाव है उस मोहभाव का बन्धन है। यों कहो कि आपको गृहस्थी ने नहीं बाँधा है, परिजनों ने आपको बन्धन में नहीं जकड़ा है किन्तु आपने ही अपनी मोहमयी कल्पना से परिवार को भीतर से जकड़ रक्खा है और इसी जकड़ाव का बन्धन है। यह तो बताया जा सकने वाला बन्धन है पर साथ ही जो कर्मों का बन्धन

लगा है, जो सूक्ष्म है, वह तो और भी विचित्र बन्धन है। यह बन्धन जो इन्द्रियविषयों का प्रयोजन रखते हैं उन संसारी जीवों के होता है। विषय-बंधन, विषयों की अभिलाषा जिसके न हो वह आजाद है, बन्धनरहित है। अहा ! वस्तुस्वरूप के यथार्थज्ञान में और कौनसी कला पड़ी हुई है। यही तो कला है कि जहाँ वस्तुस्वरूप का सही ज्ञान हो वहाँ यह मेरा है, यह मेरा है, ऐसी बुद्धि का अवकाश न होने से बन्धन नहीं रहता। जो इन्द्रियों के विषयोंकर सहित हों उन ही पुरुषों के बन्धन है। पुराण पुरुषों के और वर्तमान पुरुषों के भी इन सब बन्धनों को परखते जाइए।

राग की दु:खममूलता—कोई पुरुष यदि अपने कुछ दु:ख की कहानी कह रहा है तो सुनिये और अर्थ लगाते जाइए कि इस पुरुष को अमुक पदार्थ की अभिलाषा है, इस इन्द्रिय विषय का लालची है, इस कारण दु:खी है। इन्द्रिय विषयों की लालसा हुए बिना दु:ख नहीं हो सकता है। लालसा से ही दु:ख होता है। मिष्ट सरस पदार्थ खाने को चाहिए, इच्छा लगी है, मिले तो दु:ख न मिले तो दु:ख, मन में यश-प्रशंसा की कल्पना जग जाय तो दु:ख, यश मिले तो दु:ख, न मिले तो दु:ख। यह संसारजाल पूरा असार है। यहाँ अपने भले की बात मिल ही नहीं सकती है। इन्द्रियों को सुहावने वाली बात मिले तो उसमें मरे, इन्द्रियों को न सुहाने वाली बात मिले तो उसमें मरे। किसी को हुक्म मानने में कष्ट होता है और किसी को हुक्म देने में भी कष्ट होता है। जो हुक्म देते रहते हैं उन कष्टों को वे जानते हैं और जो हुक्म मानते रहते हैं उन कष्टों को वे जानते हैं। इस संसार में कुछ भी स्थिति बने सभी स्थितियों में खेद है। एक सम्यग्ज्ञान हो, आत्मतत्त्व की यथार्थ श्रद्धा हो, सबसे निराले ज्ञानमय आत्मा की अनुभूति हो यही सत्य शरण है, इससे ही जीवों का कल्याण है। शेष समागम तो सब क्लेश के ही कारण हैं।

प्रभु के अभ्युदय में—प्रभु का धर्मोदपेश भी एक नियोगवश होता है। जानकर, बनावट करके, रागद्वेष करके प्रभु के देह की प्रवृत्ति नहीं होती है। प्रभु के ऐसा अभ्युदय प्रकट होता है केवलज्ञानरूप जिसके अभ्युदय के कारण देवेन्द्रों के आसन कम्पायमान हो जाते हैं सूचना देने के लिए। प्रभु जब चार-घातिया-कर्मों को नष्ट करके केवलज्ञान प्राप्त करते हैं तो इसकी सूचना इन्द्रों को हो जाय इतने मात्र के लिए उनका आसन कम्पायमान हो जाता है, अर्थात् प्रभु में चमत्कार प्रकट हुआ है। तुम आसन पर बैठे हुए अभिमान मत करो, आसन से उठकर विनय करो। वह आसन से उठता है, वहीं ही 7 पग चलकर नमस्कार करता है फिर उत्तर विक्रिया शरीर धारण करके समवशरण में आता है।

देवों का वैक्रियक शरीर—देवों का शरीर वैक्रियक शरीर है। जो उनका खास शरीर है वह स्वर्ग से उतरकर यहाँ नहीं आता किन्तु यह नवीन वैक्रियक शरीर बनाकर यहाँ आता है। मूल शरीर स्वर्ग में ही रहता है। देवों की भी ऋद्धि देखो। कितने शरीर बना लें और जितने शरीर बनेंगे, जितनी दूर तक उनका शरीर जायेगा, मूल स्थान से लेकर जहाँ तक उन्होंने बनावटी शरीर भेजा है वहाँ तक पूरी जगह में उनका आत्मा रहता है। मानो दूसरे स्वर्ग के देव का शरीर यहाँ आया तो यहाँ से लेकर दूसरे स्वर्ग तक में मूल शरीर तक बीच के क्षेत्र में उनका आत्मा रहता है, क्योंकि आत्मा अखण्ड है। वह टुकड़ों में बँटकर नहीं, फैलकर वह हजारों शरीर भी धारण कर ले और उन हजारों शरीरों से भी क्रियाएँ करें तो उनका मन क्रम-क्रम में इतनी तेजगति करके उन सब देहों की क्रियाएँ कराता है कि आप यह जान पायेंगे कि एक साथ ही सब काम हो रहा है, किन्तु वहाँ क्रम में होता है।

इन्द्र की प्रभुसेवानिष्ठता—मनुष्य लोक में किसी समय एक साथ 170 तीर्थंकरों का जन्म हो सकता है। इस ढाई द्वीप के भीतर 5 तो भरतक्षेत्र हैं, 5 विदेहों में 32-32 नगरियाँ होने से 160 स्थान विदेहों के हैं। जिस समय चतुर्थकाल चल रहा हो तब भरत और ऐरावत में सबमें एक साथ प्रभु का जन्म हो, विदेह की सब नगरियों में भी जन्म हो तो ऐसी स्थिति में एक ही काल में 170 तीर्थंकर मनुष्य लोक में हो सकते हैं और

उन सब तीर्थंकरों की सेवा के लिए मुख्य इन्द्र एक ही है सौधर्मइन्द्र। वह कैसे सब तीर्थंकरों की सेवा में एक साथ रह सके? इन्द्र इतने उत्तरविक्रिया के शरीर रचते हैं और अपनी कलावों से, सेवावों से तीर्थंकर देव को प्रसन्न किया करते हैं।

तीर्थंकर का बल—तीर्थंकरदेव के अकेले में भी इतना महान बल है जो सैकड़ों इन्द्रों को मिलाकर भी बल न हो सके। लोग महत्ता में इन्द्र का नाम लिया करते हैं पुराणों में। इन्द्र प्रसन्न हो गये। कोई चीज समझमें न आयी तो इसके भी करने वाले इन्द्र को मान लिया। मेघ बरस रहे हैं तो लोग कहते हैं कि आज इन्द्र प्रसन्न हो रहे हैं। इन्द्र क्या है? देवतावों का राजा। इन्द्र भी तीर्थंकर के चरणों की सेवा के लिए आया करता है। ये तीर्थंकर मन से भी बलिष्ठ, वचन से भी बलिष्ठ और काय से भी बलिष्ठ हैं। इनके जब केवलज्ञान होता है तो देवेन्द्रों के आसन भी कम्पायमान हो जाते हैं।

सद्धर्मप्रकाश—भगवान सद्धर्म के रक्षामणि हैं। अहिंसामय मोक्षमार्ग को प्राप्त कराने वाला धर्म इसको प्राप्त करके वे स्वयं पावन हुए हैं और भव्य जीवों को इस ही सद्धर्म का मार्ग बताते हैं। ऐसे केवली भगवान के दिव्यध्वनि भी खिरे, विहार भी हो, खड़े हों, बैठ जायें, सब प्रकार की प्रवृत्तियाँ होने पर भी चूँकि उनके इच्छा नहीं है इस कारण कर्मबन्ध नहीं होता। इस शुद्धोपयोग अधिकार में शुद्धोपयोग के स्वामी अरहंत और सिद्ध भगवान हैं। सिद्ध भगवान तो निष्क्रिय हैं, उसमें हलना, डोलना प्रदेशमात्र भी नहीं होता। अरहंत प्रभु के विहार अधिक होता है, सो शुद्धोपयोग के प्रसाद से और इच्छा के अभाव से प्रभु के इतनी क्रियाएँ होकर भी उनके बंध नहीं है। हम आप भी जितने अंशों में इच्छा पर विजय पा सकें उतने अंशों में बंध से दूर रह सकते हैं। ज्ञानार्जन का प्रयोजन यह है कि हमारे वस्तु स्वातन्त्र्य की दृष्टि जगे और इच्छा का अभाव हो ताकि शुद्ध आनन्द का अनुभव कर सकें।

गाथा 176

आउस्स खयेण पुणो णिण्यासो होइ सेसपयडीणं।

पच्छा पावइ सिग्घं लोयग्गं समयमेत्तेण।।176।।

आत्मा के चरमविकास का संकेत—हम आप जीव वर्तमान में मलिन हैं, देह के अधीन हैं, कर्मों के उदय के अनुसार परिणमन कर रहे हैं, भव-भव में जन्म-मरण करते आये हैं, ऐसे ये अशुद्ध जीव किस प्रकार अपनी इस अकल्याणमय स्थिति को त्यागकर शुद्ध स्वाभाविक कल्याणमय स्थिति में पहुँचते हैं इसका अन्तिम संकेत इस गाथा में किया गया है।

जीव की प्रकृतिबद्धता—यह जीव सूक्ष्म कर्म-पुद्गल से बँधा हुआ है। निमित्तनैमित्तिक बन्धन इस जीव के साथ प्रकृति का है। अन्य लोग भी कहते हैं कि इस आत्मा के साथ प्रकृति का बन्धन है और जब प्रकृति का और आत्मा का भेद ज्ञात हो जायेगा तब यह मुक्त हो जायेगा। वह प्रकृति क्या चीज है? इस सम्बन्ध में जितना स्पष्ट विवेचन जैन सिद्धान्त में है प्रकृति के बारे में, वह समझने के योग्य है। प्रकृति को अनेक पुरुष कुदरत कहते हैं। यह तो प्रकृति की चीज है। यह तो कुदरती बात है। प्रकृति का लोग अनेक प्रकार से उपयोग करते हैं, पर प्रकृति है क्या? उसके जानने के लिए कुछ मूल से उठकर पहिचानिये।

अविरुद्धसम्पर्क में बन्धन की असिद्धि—हम आप जीव हैं, जीव का जो निजी स्वरूप है वह स्वरूप जीव के बन्धन के लिए नहीं बनता। वस्तु का स्वरूप वस्तु के विनाश के लिए नहीं होता। वह तो वस्तु के विकास के

लिए होता है। तो हम स्वयं अपने आपके लिए बन्धन के कारण पड जायें; बरबादी के, विनाश के हम ही मात्र एक कारण हों यह तो बात नहीं है। पदार्थ का स्वरूप पदार्थ के विनाश के लिए नहीं होता। तब यह मानना पड़ेगा कि मेरे साथ कोई अन्य चीज लगी हुई है, जिसका बन्धन है, जिसके कारण मलिनता है, बरबादी है, उस ही चीज का नाम प्रकृति है। अब वह उपाधिभूत प्रकृति किस ढंग में होती है? यह एक समझने की बात है। जो भी प्रकृति उसके साथ लगी है वह उसकी ही तरह स्वरूप वाली तो हो नहीं सकती। जैसे काँच में काँच का प्रतिबिम्ब नहीं झलकता, काँच में गैर काँच का प्रतिबिम्ब झलकता है, क्योंकि काँच भी पूर्ण स्वच्छ है, दूसरा भी पूर्ण स्वच्छ है, एक जाति का है, तो काँच के कारण से काँच की छाया नहीं बनती। काँच से विरुद्ध चीज हो तो उसके निमित्त से काँच में दृश्य बनेगा। ऐसी ही बात जीव के स्वरूप की है।

प्रतिपक्ष से बन्धन की सिद्धि—प्रकृति का स्वरूप मेरे ही जैसा हो तो मुझमें कलुषता न बन सकेगी। इस कारण यह भी मानना होगा कि मैं जीव चेतन हूँ तो प्रकृति जड़ है। मैं जीव अमूर्त हूँ, रूप आदिक से रहित हूँ सो प्रकृति मूर्त है, रूप आदिक से सहित है। हाँ, साथ इतनी बात अवश्य है कि वह प्रकृति स्थूल न होगी। वह सूक्ष्म है, इसी प्रकृति को लोग कर्म शब्द से कहते हैं। उस जड़ प्रकृति उपाधि का निमित्त पाकर जीव में जो राग द्वेषादिक कलुषताएँ बनती हैं, उन कलुषतावों का भी नाम प्रकृति है। जीव की मलिन प्रकृतियों का नाम है भावप्रकृति और कर्म-पुद्गल का नाम है, द्रव्यप्रकृति। हम आपका जो यह शरीर बना है, इस शरीर के बन्धन में द्रव्यप्रकृति तो निमित्त है और इस मुझ आत्मा में जो अनेक मनुष्यों के योग्य विचार और रागादिक होते हैं वे सब भावप्रकृति हैं। इस ही का नाम कुदरत है। जैसे लोग पहाड़, नदी आदि को देखकर कहते हैं कि देखो कितना सुहावना यह प्रकृति का दृश्य है तो प्रकृति के मायने क्या? जिसका दृश्य बताते हो? वह प्रकृति यह है। सुनिये—द्रव्यकर्म-प्रकृति का उदय पाकर यह जीव पेड़, पानी आदि के रूप में आया है। बस यही प्रकृति का अर्थ है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण व वेदनीयरूप प्रकृति—इस जीव के साथ 148 प्रकृतियाँ लगी हुई हैं, किसी के दो एक कम भी हो सकती हैं। इन 148 प्रकृतियों के मूल प्रकार 8 हैं। जीव के साथ इस प्रकार की एक प्रकृति लगी है जिसके कारण यह जीव ज्ञान में ठहर नहीं पाता है, इन्द्रियों द्वारा ही कुछ जानकर रह जाता है। उस प्रकृति का नाम है ज्ञानावरण। इस जीव के साथ एक ऐसी प्रकृति लगी है जिसके कारण यह सर्व विश्व के जाननहार अपने आत्मा को सामान्य प्रतिभास नहीं कर सकता, दर्शन नहीं कर सकता। उस प्रकृति का नाम है दर्शनावरण। इस जीव के साथ एक ऐसी प्रकृति लगी है जिसका निमित्त पाकर यह जीव इन्द्रियों के द्वारा कभी सुख का अनुभव करता है और कभी दु:ख का अनुभव करता है। उस प्रकृति का नाम है वेदनीय।

विभाव की अस्वभावता—भैया ! साथ ही साथ यह भी निरखते जाइये कि इन प्रकृतियों के निमित्त से जो वारदात उत्पन्न होती है वह जीव का स्वरूप नहीं है। जीव का स्वरूप है पूर्ण ज्ञानस्वरूप रहना। उसमें भंग पड़ा है प्रकृति के कारण। जीव का स्वरूप है समस्त विश्व को, पदार्थों को दृष्ट कर लेना, उसका दर्शन करना, इसमें बाधा आयी है दर्शनावरण कर्म-प्रकृति के निमित्त से। जीव की प्रकृति है निर्बाध सुख, शुद्ध भय रहित, किसी प्रकार की बाधा वेदना न हो, किन्तु उसमें बाधा आयी है वेदनीयकर्म-प्रकृति के निमित्त से।

मोहनीय व आयुकर्मरूप प्रकृति—जीव के साथ चौथी प्रकृति एक ऐसी लगी है जिसके कारण यह जीव वस्तुस्वरूप का यथार्थ श्रद्धान नहीं कर सकता और जड़ पदार्थों को विषय बनाकर क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय करता रहता है। इस प्रकृति का नाम है मोहनीय कर्म। इस जीव के साथ एक ऐसी प्रकृति बँधी हुई है जिसके कारण यह जीव शरीर में रुका रहता है। शरीर में रुका रहना जीव का स्वरूप नहीं है, जीव को क्लेश नहीं है; किन्तु यह कलंक है, दु:ख है, परतंत्रता है। जिस प्रकृति के निमित्त से जीव शरीर में रुका

रहता है इस प्रकृति का नाम है आयुकर्म। आयुकर्म को बहुत से लोग ऐसे बोलते हैं—इस जीव का आयु रुका रहता है इस प्रकृति का नाम है आयुकर्म। आयुकर्म को बहुत से लोग बोलते हैं—इस जीव का आयुकर्म इतना ही था। जब तक आयुकर्म बलवान है तब तक मरण कैसे होगा? वह आयुकर्म भी प्रकृति है।

नाम, गोत्र व अन्तरायरूप प्रकृति—एक प्रकृति है नामकर्म, जिसके कारण जीव का भव त्याग होने पर, मरण होने पर फिर नई देह की रचना होने लगती है। देह की रचना की कारणभूत प्रकृति जीव के साथ लगी है इसलिए कभी ऐसी भूल नहीं हो सकती कि कोई जीव मरने के बाद बिना शरीर का रह जाय या कुछ दिन यहाँ वहाँ घूमता फिरे या कोई बनाने वाला खबर न ले, क्योंकि अनन्त जीव हैं, किसी की लिखा-पढ़ी में चूक हो जाय तो वह जीव बिल्कुल शरीररहित हो जाय, ऐसा तो इस संसार में नहीं होता, क्योंकि शरीर का रचना का निमित्तभूत नाम कर्म की प्रकृति जीव के साथ लगी है। 7 वीं प्रकृति है ऊँचे नीचे कुल की संज्ञा दिलाने वाली। यह मनुष्य है उच्च कुल का, यह नीच कुल का है। तिर्यञ्च सब नीच कुल के हैं। नारकी सब नीच कुल के हैं, देव सब उच्च कुल के हैं। मनुष्यों के ही ये दो भेद पड़े हुए हैं कि कोई मनुष्य उच्च कुल में है और कोई नीच कुल में है। यह एक प्रकृति भी जीव के साथ लगी है। 8 वीं प्रकृति है अंतराय प्रकृति, जिसके उदय के निमित्त से यह जीव दान नहीं कर सकता, चीज की प्राप्ति नहीं कर सकता, भोग-उपभोग भी नहीं कर सकता, अपने पुरुषार्थ का उपयोग भी नहीं कर सकता।

प्रकृति के विनाशक्रम में प्रथम दर्शनमोहप्रकृति का विनाश—जीव के साथ मूल में 8 व उत्तररूप 148 प्रकृतियाँ लगी हुई हैं। उन सब प्रकृतियों में से यह जीव कुछ विवेक बुद्धि का अवसर पाकर मोहनीय प्रकृति विनाश करता है। इस मोहनीय की दो प्रकृतियाँ हैं एक तो श्रद्धा विपरीत कराना, दूसरी प्रकृति है कषायों में लगाना आदि। तो सबसे पहिले यह जीव मोक्षमार्ग के उद्यम में श्रद्धा उल्टी करने वाली प्रकृति को विनष्ट करता है। जहाँ इसकी श्रद्धा सही बन गयी, मैं आत्मा परमार्थत: सहज चिदानन्दस्वरूप हूँ, मेरा मात्र मैं ही हूँ, मेरा किसी अन्य पदार्थ से कुछ सम्बन्ध नहीं है, मेरे में सबका अत्यन्त अभाव है, ऐसी श्रद्धा बनाकर जब यह जीव समस्त परपदार्थों की उपेक्षा करके अपने आपमें निरत होता है, अपने शुद्ध ज्ञान का अनुभव करता है तो दर्शनमोहनीय पर विजय हो जाती है।

दर्शनमोह के विनाश से मोक्षमार्ग का अपूर्वकदम—अब यहाँ से उसका प्रोग्राम बदल गया। इससे पहिले तो यह संसारियों में रुलने मिलने वाला था, अब उसका उपयोग मुक्त जीवों में, प्रभु में, मोक्षमार्गी जीवों में रहने लगा है। संगति का परिवर्तन हो गया। सम्यक्त्व जगने से पहिले तो इसकी मोहियों की संगति थी। सम्यक्त्व होने के बाद अब इस ज्ञानी पुरुष के ज्ञानियों की सत्संगति हो गयी। यह गृहस्थ ज्ञानी चाहे मोही पुरुषों के बीच में ही रहे लेकिन जिसके संग की हृदय में भावना, प्रवृत्ति और ध्यान रहे, संगति उसकी ही कहलाती है। कोई पुरुष व्यसनी पहिले किसी प्रसंगवश धर्मसभा में भी बैठ जाय तो भी उसके चित्त में पाप की ही बातें बसी हैं इसलिए वह सत्संगति में नहीं बैठा है, ऐसा समझिये। जिसका हृदय सत्संगति से सुवासित है ऐसा ज्ञानी गृहस्थी भी मोक्षमार्गी है।

आत्मगुणघातक प्रकृतियों का विनाश—जब यह ज्ञानी गृहस्थ विशेष वैराग्य वृद्धि के कारण समस्त परिग्रहों से विरक्त हो जाता है, सर्वपरिग्रहों का त्याग करके साधु होकर केवल एक आत्मध्यान में ही रत रहता है तब इसके प्रकृतियों के विनाश का तीव्र पुरुषार्थ जगने लगता है। यह अब मोहनीय की शेष प्रकृतियों का नाश करने में लग गया। यों जब इस जीव के मोहनीयकर्म का पूर्ण विनाश हो जाता है तब अन्तर्मुहूर्त में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय—इन तीन मूल प्रकृतियों का भी नाश हो जाता है तब इस जीव को स्वभावपरिणति प्राप्त होती है, शुद्ध ज्ञान प्रकट होता है जिसके द्वारा समस्त लोक को वे प्रभु यथार्थ स्पष्ट जानते हैं, अनन्त दर्शन प्रकट होता है जिससे अनन्त पदार्थों को जानने वाले इस आत्मा को अपने प्रतिभास

में ले लेते हैं। मोहनीय कर्म का नाश होने से शुद्ध सम्यक्त्व जग गया, अमिट क्षायकसम्यक्त्व बना हुआ है और कषायरहित प्रवृत्ति हो गयी है, अंतराय का क्षय होने से अनन्त सामर्थ्य प्रकट हो गया है।

सकलप्रकृतियों का विनाश—अब यह पावन आत्मा सकल परमात्मा कहलाता है। प्रभु के जब तक आयुकर्म मौजूद है तब तक वह शरीर सहित है और अंतिम कुछ समय को छोड़कर शेष प्रभुता के समयों में उनका विहार होता है, उनकी दिव्यध्वनि खिरती है। वे चलते, उठते, बैठते भी हैं लेकिन ये सब प्रवृत्तियाँ प्रभु की इच्छा के बिना होती रहती हैं। इच्छा होना, रागद्वेष का भाव करना, यह दोष है, आत्मा का गुण नहीं है, यह तो अवगुण हैं, जो संसारी जीवों में होते हैं। प्रभु निस्पृह, परमउपेक्षा से सहित सारे लोक का जाननहार, अपने ही शुद्ध आत्मीय आनन्दरस में लीन आराध्य भगवान हैं। जब इस सकल परमात्मा के आयु का क्षय होता है तो उसके ही साथ समस्त बाकी बची हुई प्रकृतियाँ नष्ट हो जाती हैं।

भगवंतों की निष्कलंकता—अब यह प्रभु सिद्ध भगवान प्रकृतिरहित शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप हो गया है। सिद्ध भगवान के शरीर तक का सम्पर्क नहीं है, इनका अब जन्म-मरण भी न होगा। ये प्रभु इस मनुष्यलोक से ही तो सिद्ध बने हैं। ये सकल परमात्मा, सशरीर प्रभु एक समय में शीघ्र ही लोक के अंत को प्राप्त हो जाते हैं। शुद्ध जीव अपनी स्वाभाविक गति को यों प्राप्त कर लेता है। इसका संकेत इस गाथा में किया है। स्वाभाविक गति है उनकी, यह जीव मरण करके जन्म ले तो पूर्व से पश्चिम, उत्तर से दक्षिण, पश्चिम से पूर्व, दक्षिण से उत्तर, नीचे से ऊपर, ऊपर से नीचे—यों 6 प्रकार की गतियों से गमन करता है। प्रभु की एक दृष्टि से गति भी न समझिये। एक ही समय में शीघ्र ही सीध में ऊपर जाकर लोक के शिखर पर विराजमान हो जाते हैं। अरहंत प्रभु के ध्यान-ध्याता-ध्येय का विकल्प नहीं है। अब ये सिद्धक्षेत्र के अभिमुख हैं। इनके कोई प्रयोजन नहीं, अपने स्वरूप में अविचल स्थित रहते हैं, ये अरहंत प्रभु परम शुक्लध्यान के प्रताप से ज्यों ही आयुकर्म का क्षय करते हैं त्यों ही वेदनीय नाम गोत्र आदि का भी विनाश होता है। यों चार घातिया कर्मों का नाश होने पर शरीर सहित परमात्मा होते हैं और चार अघातिया कर्मों का भी नाश हो जाय तो सिद्ध भगवान होते हैं।

सिद्धस्वरूप का अभिवन्दन—सिद्ध भगवान का अर्थ है केवल आत्मा रह जाना। जहाँ न धर्म का सम्बन्ध है, न शरीर का सम्बन्ध है, केवल ज्ञानानन्दपुंज है। शुद्ध निश्चयनय से यह भगवान अपने ही सहज महिमा में लीन हैं, पर व्यवहारदृष्टि से इनका सिद्ध लोक में जाना कहते हैं। संसारी जीव 6 दिशावों में गमन करते हैं मरने पर, किन्तु सिद्ध ऊर्ध्वगामी ही होते हैं। भगवान ऊपर ही विराजमान रहते हैं, लोग जब भगवान का नाम लेते हैं तो जमीन में आँखे गड़ाते हुए नाम नहीं लेते हैं, प्रकृति से ऊपर ही आँखें उठाकर हाथ जोड़कर नाम लेते हैं। यह लोगों की प्रकृति भी सिद्ध करती है कि प्रभु का निवास लोक के शिखर पर है। बंध का विनाश होने से जिनके अनन्त महिमा प्रकट हुई है ऐसे सिद्ध भगवान अब देव और मनुष्यों के प्रत्यक्ष स्तवन से भी परे हो गये हैं। अब उनकी एक परोक्षभक्ति ही रह गयी है। जैसे वे अपने शुद्धस्वरूप में विराजमान है, सर्वज्ञ सर्वदर्शी अनन्त आनन्दमय हैं ऐसे ही वे सदाकाल रहेंगे। अब इनका संसार में भ्रमण न होगा। ऐसे सिद्ध प्रभु को मैं अपनी विभाव प्रकृतियों के क्षय के हेतु, अपनी रागादिक बाधावों के विनाश के हेतु वंदन करता हूँ।

उपासनीय तत्त्व के दर्शन का पुरुषार्थ—हम आपको उपासना करने योग्य दो ही तत्त्व हैं। एक तो प्रभु का स्वरूप जो सच्चिदानन्दमय है और एक आत्मा का स्वभाव जो सच्चिदानन्दमय है। केवल ज्ञानभाव का चिन्तन, स्वभाव का मनन हम आपमें निर्मलता को बढ़ाने वाला है; इस कारण अनेक यत्न करके हम ज्ञानस्वरूप की भावना को प्राप्त करें। कुछ भी करना पड़े, बाहर के कामों को महत्त्व न दें, उनसे अपना हित और अपनी महिमा न आँकें। ये सब स्वप्नवत् दृश्य हैं, एक अपना ज्ञान बढ़े, अपने में निर्मलता जगे, ऐसा भावपुरुषार्थ अपना बनाना चाहिए।

गाथा 177

जाइजरमरणरहिय परमं कम्मट्ठवज्जियं सुद्धं।

णाणाइचउसहावं अक्खयमविणासमच्छेयं।।177।।

कारणपरमात्मतत्त्व व कार्यपरमात्मतत्त्व की समानता का प्रतिपादन—इस गाथा में सिद्ध प्रभु और आत्मस्वभाव का स्वरूप बताया गया है। जैसे निर्मल जल स्वरूप रखता है वैसे ही जल का स्वभाव अपना स्वरूप रखता है। स्वच्छ पानी कैसा है? उत्तर मिलेगा निर्दोष, निर्मल, कीचड़रहित, साफ, स्वच्छ। और गंदा जल कटोरे में भरकर लाकर दिखायें और पूछें कि इस जल का स्वभाव कैसा है? तब भी उत्तर मिलेगा निर्मल, निर्दोष, कीचड़रहित, साफ, स्वच्छ। जो जल का स्वभाव है वह स्वभाव सदा निर्मल है, पर उस गंदे जल में मिट्टी का संयोग है इस कारण उसकी यह स्वच्छता तिरोहित हो गयी है, पर जल का स्वभाव और निर्मल जल का स्वरूप एक समान है, ऐसे ही सिद्धभगवान और यहाँ हम आप सब आत्मावों का स्वभाव भी समान है, इसी दृष्टि से कहा है कि—'मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।' मैं वह हूँ जो भगवान है, सिद्ध है, परमात्मा है, जो परमात्मा है सो मैं हूँ।

दृष्टिविवेक—यद्यपि सर्वथा यह बात ठीक न बैठेगी कि मैं व प्रभु समान ही हूँ, क्योंकि व्यवहारदृष्टि से जब देखते हैं हम अपना और प्रभु का परिणमन, तो वहाँ अन्तर प्रतीत होता है। और वह अन्तर है—'अन्तर यही ऊपरी जान। वे विराग यहाँ राग वितान।।' परिणमन की दृष्टि से, अनुभवन की दृष्टि से यह अन्तर है। वह वीतराग है और यहाँ राग का फैलाव है, किन्तु अंत:स्वरूप सहजभाव की दृष्टि से अपने को निरखें तो अपने में और परमात्मा में अन्तर नहीं है। इस स्वभावदृष्टि से हममें और प्रभु में ही क्या, पेड़ कीट जैसे जीवों में और प्रभु में भी अन्तर नहीं है। जब इस गाथा में आत्मस्वरूप का वर्णन आये तब तो स्वभावदृष्टि करके सुनना और जब सिद्ध भगवान का वर्णन आये तब सर्वदृष्टियों से सुनना।

जन्मजरामरणरहितपने की प्रभुता—यह भगवान जन्म, जरा, मरण से रहित हैं। अब भगवान का न जन्म होगा, न बुढ़ापा आयेगा। शरीर ही नहीं है तो बुढ़ापा कहाँ से आये? बुढ़ापा तो अरहंत भगवान के भी नहीं होता। कोई बूढ़ा मुनि अरहंत बन जाय तो अरहंत होने पर उनका शरीर बूढ़ा नहीं रह सकता। उनका शरीर कान्तिमान, युवा, हृष्ट पुष्ट हो जाता है, यह प्रताप है कैवल्यप्राप्ति का। यह शरीर परमौदारिक हो जाता है। शरीर पुष्ट हो गया इतना ही नहीं, किन्तु कोई मुनि रुग्ण हो, कोढ़ निकल आया हो या कोई शारीरिक रोग फोड़ा, फुँसी, खाज, खुजली कुछ हो गयी हो, अथवा कोई अंगुली आदि में विरूपता आ गयी हो अथवा कोई अंग टेढ़ा-मेढ़ा हो गया हो, बेडौल शरीर हो जाय, ऐसी भी स्थिति पहिले हो, किन्तु वह योगिराज जब कैवल्य प्राप्त कर लेता है तो उसके भी शरीर पुष्ट और दर्शनीय हो जाता है। कुछ ऐसा भी विचारो कि किसी साधु का अंग बेडौल हो, बूढ़ा हो और वह अरहंत हो जाय और ऐसा ही बूढ़ा, हड्डी निकली, टेढ़े-टाप्टे हाथ-पैर भगवान के रूप में दिखे तो क्या कुछ भला सा जँचेगा? भक्तों की श्रद्धा जिन भगवान में है वे भगवान परमौदारिक शरीर वाले होते हैं, उनके बुढ़ापा रोग, आदिक भी नहीं हैं।

आत्मतत्त्व की परमस्वभावता—जैसे सिद्ध भगवान में जन्म, जरा, मृत्यु—ये तीन रोग नहीं हैं ऐसे ही हम आपके आत्मपदार्थ में जन्म, जरा, मरण नहीं हैं। इस आत्मस्वभाव की तीक्ष्ण प्रज्ञा से हमें सबकी अटकें त्यागकर बहुत अन्दर प्रवेश करके निरखना है। जैसे एक्सरे यंत्र चमड़ा, खून, मांस, मज्जा आदि में न अटक कर सीधा भीतर की हड्डी का फोटो ले लेता है ऐसे ही हमें इस सम्यग्ज्ञान के बल से देह में, रागादिक भावों

में, तर्क-वितर्क में, कल्पनावों में न अटक कर सीधे अंत:सहज ज्ञानस्वरूप को ग्रहण करना है। यह ज्ञानस्वरूप जन्म, जरा, मरण से रहित है। इस आत्मा का स्वभाव से ही संसरण का अभाव है। ये सिद्ध भगवान उत्कृष्ट हैं और यह कारणसमयसार हम आपका अंत:स्वरूप परमपारिणामिक भाव में स्थित होने से परम है।

आत्मतत्त्व की निरुपाधिता—सिद्ध भगवान अब सदा उपाधिरहित रहेंगे। भविष्य में कभी भी कर्मों का रागादिक भावों का संयोग न हो सकेगा और यहाँ आत्मस्वभाव में देखो हम सब अपने आपमें तो यह आत्मा अपने सत्त्व के कारण जैसा स्वयं है तैसा ही है, तैसा ही रहेगा, इस में किसी अन्यतत्त्व का प्रवेश नहीं होता है। यद्यपि इस संसारी अवस्था में इस आत्मस्वरूप का कुछ भान भी नहीं रहा और त्रस, स्थावर की योनियों के रूप में इसका रूपक बना हुआ है फिर भी सत्त्व की महिमा अतुल है। यह जीव अपने स्वभाव से त्रिकाल निरुपाधिस्वरूप है। इस कारण उसमें आठों कर्म नहीं हैं। भगवान सिद्ध तो अष्ट कर्मों के विनाश से ही हुए हैं और यहाँ देखो तो अष्टकर्मों का सम्बन्ध होने पर भी जब हम अपने स्वभाव में उतरते हैं तो यहाँ कहाँ कर्म रक्खे हैं, यहाँ तो मात्र यह मैं आत्मतत्त्व हूँ। यों यह कारणपरमात्मतत्त्व अष्टकर्मों से रहित है। सिद्ध भगवान के न ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म हैं, न रागादिक भावकर्म हैं। समस्त कर्मों से रहित होने से अत्यन्त शुद्धि व्यक्त हो गयी है। अब जरा अपने आप के अंत:स्वरूप में अपने को देखो। यह मैं आत्मा अपने सत्त्व के कारण जैसा स्वयं हूँ, अमूर्त, निर्लेप, ज्ञानानन्दस्वरूप, भावात्मक उसमें भी न द्रव्यकर्म हैं और न रागादिक भावकर्म हैं। दोनों प्रकार के कर्मों से रहित यह मैं कारणपरमात्मतत्त्व शुद्ध हूँ।

आत्मतत्त्व की सहजानन्तचतुष्टयात्मकता—प्रभु में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति प्रकट हुई है। ये अनन्त चतुष्टयात्मक कहलाते हैं। यह चारों प्रकार का स्वभाव हम आपमें सहज, अन्त:प्रकाशमान है। सहजज्ञान अर्थात् ज्ञान के जितने भी परिणमन होते हैं उन सब परिणमनों की शक्ति रूप, आश्रयरूप जो एक स्वभाव है वह है सहजज्ञान। यह सहजज्ञान हम आपमें अनादि-अनन्त अन्त:प्रकाशमान है। सहजदर्शन के जितने भी पर्याय हैं उन पर्यायों का आधारभूत सहज दर्शनस्वभाव है। यों ही चारित्रस्वभाव अथवा आनन्दस्वभाव और चैतन्यशक्ति हम आपके सहज है। सबमें सहज है। जो सिद्ध प्रभु हुए हैं उनमें यह सहज स्वभाव व्यक्तरूप भी है और हमारा यह सहजस्वभाव शक्ति रूप है। इस तरह यह मैं सहज अनन्तचतुष्त्यात्मक हूँ।

आत्मतत्त्व की अविनाशिता—प्रभु सिद्ध अविनाशी हैं, इनका अब सिद्धत्व न मिट सकेगा इसलिए वे अक्षय हैं और यहाँ हम आप स्वभावदृष्टि से अपने को देखें तो हम सब भी अक्षय हैं। आत्मस्वभाव में कोई विभाव व्यञ्जनपर्याय नहीं है। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जो कुछ नजर आते हैं, जिन्हें निरखकर लोग जीव कहते हैं वे सब विभाव व्यञ्जनपर्यायें हैं। विभाव व्यञ्जनपर्यायों का विनाश होता है जैसा कि आँखों भी देखते हैं, पशु मर गया, पक्षी मर गया, मनुष्य मर गया, अब विभाव व्यञ्जनपर्याय नहीं रही। देखिये देह भी वहीं पड़ा है, जीव भी कहीं का कहीं चला गया है, मरा कोई नहीं, नष्ट कोई नहीं हुआ, देह में देह है, जीव में जीव है, फिर वहाँ मरना किसका नाम हुआ? अरे ! भले ही देह रहे, भले ही जीव कहीं रहे किन्तु अब यह विभाव व्यञ्जनपर्याय नहीं रही। यह तो मिट्टी है और जीव कहीं है? इसको विभाव व्यञ्जनपर्याय न कहेंगे। मरण होता है, विनाश होता है तो यहाँ विभाव व्यञ्जनपर्याय का होता है। जब अपने आत्मा में अंत:स्वभाव को निरखें तो यह निर्णय होगा कि इस स्वभाव में विभाव व्यञ्जनपर्याय नहीं है।

परमात्मतत्त्व की अनादिनिधनता व विभावव्यञ्जनपर्याय की सादिनिधनता—मैं अनादि हूँ किन्तु विभाव व्यञ्जनपर्याय की तो आदि है। इस मनुष्य की तो आदि है ना। लोग कहते हैं कि तुम्हारी कितनी उमर है? तो बताते हैं कि 49।। वर्ष की मेरी उमर है। अरे, लोक में ऐसी प्रसिद्धि है किन्तु जिनकी 49।। वर्ष की उमर

कही जाती है उसकी 50 वर्ष की उमर जानो। 9 मास के करीब जो गर्भ में रहा, क्या वह मनुष्य की उमर बिना रहा? इस विभाव व्यञ्जनपर्याय की आदि है और अन्त है, पर मुझ अंतस्तत्त्व की, इस ज्ञानानन्दप्रकाश की न आदि है, न अन्त है।

आत्मा की अमूर्तता व विभाव व्यञ्जनपर्याय की मूर्तता—यह देह, यह विभाव व्यञ्जनपर्याय मूर्तिक है, किन्तु यह मैं आत्मस्वरूप अमूर्त हूँ। यह देह इन्द्रियात्मक है, सर्वत्र इसमें इन्द्रियां भरी पड़ी हैं। कान, आंख, नाक, जिह्वा ये तो थोड़ी सी जगह में हैं, किन्तु स्पर्शन इन्द्रिय सारे शरीर में पड़ी है। स्पर्शनइन्द्रिय का कार्य है पदार्थ का ठंडा गर्म, चिकना आदिक स्पर्श जान लेना। इस नाक की चमड़ी से भी चीज छू जाय तो स्पर्श मालूम हो जाता है, हाथ छू जाय तो भी मालूम हो जाता है, पैर से, पीठ से किसी भी स्थान से छू जाय तो स्पर्श मालूम होता है। यह सारा शरीर इन्द्रियात्मक है, किन्तु यह आत्मा इन्द्रियात्मक नहीं है।

आत्मा की इन्द्रियात्मकविभावव्यञ्जनपर्यायरहितता—आत्मा में इन्द्रियात्मकता की बात कहना तो दूर रहो, इन्द्रिय के माध्यम से जानने वाला होकर भी यह इन्द्रियों से जानने वाला नहीं हो रहा, किन्तु अपने ज्ञानपरिणमन से जानने वाला हो रहा है। ये इन्द्रियाँ तो असमर्थ हैं। यह स्पर्शन स्वयं अपने आपको स्पर्शमय बनाने के लिए तैयार है। बुखार चढ़ा हो तो वह बुखार वाला रोगी उसे कितना बुखार है, कितना गर्म शरीर है, इसको वह अपने ही हाथ से अपने ही देह को छुवे बिना नहीं जान पाता। अरे, जब शरीर गर्म हो रहा है तो हाथ पैर न आपस में लगावो और जान जावो कि मेरा शरीर गर्म है, तो नहीं जान पाता है। एक हाथ से अपने ही हाथ को छूकर यह जान पाता है कि मेरा गर्म शरीर है। अरे, जब तेरा यह शरीर गर्म है तो हाथ से हाथ क्यों छूता है, जान जा कि गर्म है, नहीं जान सकता। रसना इन्द्रिय, यह जीभ अपने आपके रस का पता नहीं कर सकती कि मैं मीठी हूँ क्या हूँ? इसे अपना स्वाद नहीं आ रहा है, ये इन्द्रियाँ खुद का ज्ञान खुद नहीं कर पाती। इस इन्द्रियात्मक समस्त विजातीय विभाव व्यञ्जनपर्याय से मैं रहित हूँ।

आत्मा की अविनाशिता व अछेद्यता—मैं अविनाशी हूँ, क्योंकि शुभ, अशुभ गतियों में जाय यही तो इसकी बरबादी है। शुभ-अशुभ गतियों का कारणभूत है पुण्यकर्म और पापकर्म। इसका द्वन्द्व मुझमें है ही नहीं। अपने शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप को निरखकर ज्ञानी चिन्तन कर रहा है कि प्रभु में ये बातें ही नहीं हैं। वह तो पुण्य, पाप दोनों से रहित है और यह में अपने स्वभाव में पुण्य-पाप कर्मों से रहित हूँ इसलिए मैं बरबादी से परे हूँ। मैं अछेद्य हूँ, मेरा कोई छेदन नहीं कर सकता। जैसे सिद्ध भगवान का कोई छेदन-भेदन नहीं कर सकता। वह तो निर्लेप, अमूर्त, शुद्ध ज्ञानानन्दपुञ्ज हैं, वहाँ तलवार कहाँ चलेगी? न आग जला सके, न वहाँ किसी का प्रवेश है। ऐसे ही अपने आत्मा के स्वरूप को देखिये, जो यह शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभावमात्र है। उसमें भी न शस्त्र चल सकते न उसे कोई जकड़ सकता, न हवा उड़ा सकती, न पानी डुबो सकता, न आग जला सकती, यह अछेद्य है। यों यह मैं कारणपरमात्मतत्त्व इन समस्त दंदफंदों से रहित हूँ।

धर्मपालन के लिये एकमात्र यत्न—जो भव्य जीव ऐसे विशुद्ध आत्मस्वभाव का ध्यान करता है वह ऐसा ही व्यक्त स्वभावपरिणमन प्राप्त कर लेता है। धर्म करने के लिए दसों तरह के काम नहीं करना है केवल एक ही प्रकार का काम करना है। वह है अपने सहज शुद्ध ज्ञायकस्वरूप का दर्शन, आलम्बन, आश्रय, ध्यान, यत्न, चिन्तन; एक ही निज ज्ञानस्वरूप का आश्रय करना है। व्यवहार धर्म अनेक प्रकार के हैं, उनमें भी यही ध्यान रखिये, पूजा में भी यही करना है, सामायिक आदि जितने भी धार्मिक कार्य हैं उनमें भी यही करना है। समस्त परपदार्थों से विविक्त स्वरूपमात्र निज सहजस्वरूप का आलम्बन लेना है।

शुद्धोपयोगप्रकाश का विधान—यह मैं कारणपरमात्मतत्त्व स्वरसत: पवित्र सनातन हूँ। कितनी सुविधा है अपने आपको धर्ममय बनाने के लिए। कोइ पराधीनता नहीं है। यह मैं आत्मा अविचल हूँ। अखण्ड ज्ञायकस्वरूप हूँ, रागद्वेषादिक द्वन्द्वों से रहित हूँ। समस्त अघसमूह को जलाने में प्रचंड दावानल समान हूँ। ऐसे दिव्य सुखामृत

स्वभावी आत्मतत्त्व को हे आत्मन् ! तू भज। जो तू स्वयं है इस निजस्वरूप का आश्रय कर। बाहर में सब धोखा है, माया है। विनश्वर है, कुछ भी सार नहीं है। समस्त बाह्य पदार्थों से अपना उपयोग हटा। अपने आपके सहजस्वभाव को तू निरख। इस विधि से तुझे यह शुद्धोपयोग प्रकट होगा।

शुद्ध अन्तस्तत्त्व के आलम्बन का अनुरोध—इस शुद्धोपयोग अधिकार में केवलज्ञान और केवलदर्शन का मुख्यरूप से वर्णन चल रहा है। आत्मा में ऐसी ज्ञानशक्ति है कि जिसका पूर्ण विकास हो तो वह समस्त लोकालोक का जाननहार होता है। समस्त लोकालोक का जाननहार बने, इसका उपाय है निज सहज ज्ञानशक्ति का आलम्बन करना। अपने आपके स्वरूप में झुके, बाह्य पदार्थों के विकल्प तोड़े, तो यही है वास्तविक धर्मपालन। हिम्मत बनाकर अपने आपमें ही गुप्त इस धर्मपालन का आनन्द लूटते जाइए। इससे ही बेड़ा पार होगा। किन्हीं बाह्य पदार्थों की आशा से, आश्रय से, संग से यह आत्मस्वरूप प्रकट न होगा। यों शुद्धोपयोग अधिकार में व्यक्त शुद्धोपयोग का वर्णन करके सहज शुद्धोपयोग का इस गाथा में वर्णन किया है। यह मैं आत्मा ऐसा सहज अविकारी, निरञ्जन, अखण्ड, अछेद्य, अविनाशी, जन्मजरामरणादिक रोगों से रहित, द्रव्यकर्म—भावकर्म से रहित, केवल शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहने की बान लिए हुए यह मैं चैतन्य चमत्कारमात्र हूँ। यों जो निज अद्वैत का आश्रय करता है उसके समस्त सिद्धि प्रकट होती है।

गाथा 178

अव्बाबाहमणिंदियमणोवयं पुण्णपावणिम्मुक्कं।

पुणरागमणविरहियं णिच्चं अचलं अणालंवं।।178।।

प्रभु की अव्यावाधस्वरूपता—जिन उपास्य आत्मावों के शुद्धोपयोग का परम विकास हुआ है वे प्रभु परम उत्कृष्ट स्थिति में हैं और उन ही जैसा स्वभाव मुझ आत्मा में है, इसका वर्णन इस गाथा में है। प्रभु भगवान अव्याबाध है, बाधारहित है। जिसके बाधाएँ लगी हैं वह संसारी है, प्रभु नहीं है, समस्त पाप-बैरियों की सेना का जहाँ प्रवेश ही नहीं है ऐसे सहज ज्ञानस्वरूप में उन प्रभु का आवास है।

प्रभु के आवास का उत्तर जानने की पद्धति—प्रभु कहाँ रहते हैं? इसका उत्तर जानने से पहिले आप ही बतावो कि आप कहाँ-कहाँ रहते हैं? आपका उपयोग जिस ओर लगा हुआ हो आप वहाँ रहते हैं, यह इसका उत्तर है। जैसे प्रवचन सुनते हुए में आपका चित्त उचट जाय, मन न लगे तो कोई पूछ ही सकता है कि आप अभी कहाँ चले गये थे। अरे ! कहाँ चले गये थे? यहीं तो बैठे हैं 5 मिनट से। अरे ! शरीर का निवास है यहाँ, पर हम पूछ रहे हैं आपके जीव का निवास। आप कहाँ चले गये थे? जिस वस्तु में आपको ममता का परिणाम जगा वहाँ आप चले गए थे। जहाँ आपका चित्त लग रहा था वहाँ थे आप। आप इस समय कहाँ हैं? उसका उत्तर बाह्य द्रव्यों को लपेटकर न दिया जायेगा। मैं मंदिर में हूँ, यह इसका सही उत्तर नहीं है। मैं अमुक नगर में हूँ, यह मेरा सही उत्तर नहीं है। आप जिस प्रदेश में अपना उपयोग बसाये हुए हों आप वहाँ हैं, अन्यत्र नहीं हैं।

प्रभु का आवासस्थान—ऐसे ही जब पूछा जाय कि प्रभु कहाँ रहते हैं? तो उसका उत्तर यह नहीं है कि वे सिद्ध लोक में रहते हैं या परमौदारिक शरीर में रहते हैं या ढाई द्वीप में विराजमान हैं, यह उसका उत्तर नहीं है। प्रभु अपने स्वरूप में रहते हैं, अपने ज्ञानबल से सारे लोक को जानकर भी समस्त विश्व उनके ज्ञान में स्पष्ट झलक रहा है, झलक रहा है तिस पर भी वे रह रहे हैं अपने सहजस्वरूप में। यह सहज आत्मस्वरूप ऐसा दृढ़ दुर्ग है कि इसमें पाप-बैरियों का प्रवेश नहीं हो सकता है। हम अपने स्वरूप की दृष्टि दृढ़ बनायें तो

पाप नहीं सता सकते हैं। जब हम अपना ही घर नहीं मजबूत कर पाते हैं, हम अपने ही अंतस्तत्त्व की भावना सुदृढ़ नहीं कर सके हैं तो यह पाप-बैरी स्वच्छन्द होकर सता ही रहे हैं और उसके फल में संसार में अब तक रुलते चले आये हैं। भगवान अव्याबाध हैं। उनके किसी भी प्रकार की बाधा नहीं है। यहाँ मैं अपने स्वरूप को निरखूँ तो यह मैं भी अव्याबाध हूँ।

प्रभु की अतीन्द्रियता व विशिष्टता—भगवान अतीन्द्रिय हैं, समस्त आत्मप्रदेशों में चिदानन्दस्वरूप ही भरा हुआ है, इन्द्रियाँ नहीं भरी हैं, आत्मतत्त्व में इन्द्रिय का स्वरूप नहीं है। यह स्वरूप अतीन्द्रिय है, मैं भी केवल एक ज्ञानानन्दभाव स्वरूप हूँ। इसमें भी इन्द्रिय नहीं हैं। यह आत्मा यद्यपि पर्यायदृष्टि से तीन स्थितियों में रह सकता है बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। फिर भी इन तीन तत्त्वों से यह कारणपरमात्मा स्वरूपदृष्टि में विविक्त है अतएव विशिष्ट है और प्रभु परमात्मा इन तीन तत्त्वों में उत्कृष्ट तत्त्वोंरूप है, विशिष्ट है।

बहिरात्मत्व—बहिरात्मा कहते हैं उसे जो जीव शरीर को और आत्मा को एक मानता हो। शरीर ही मैं हूँ। शरीर का रंग निरखकर यह विश्वास रखता है कि मैं गोरा हूँ, काला हूँ, लम्बा हूँ, ठिगना हूँ। शरीर को जैसे यह मैं हूँ मानता है ऐसे ही दूसरे शरीरों को देखकर यह अमुक है ऐसा मानता है। ये सब दृश्यमान, मायारूप हैं, परमार्थ आत्मपदार्थ तो विलक्षण तत्त्व है, ऐसी श्रद्धा बहिरात्मा जीव के नहीं होती है। वह शरीर को और जीव को एक मानता है। इसी का ही नाम मूढ़, दुरात्मा, मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी, मोही आदि है। बाह्य पदार्थों में अपना स्वरूप देखना अथवा बाह्य पदार्थों से अपना ज्ञान और आनन्द मानना इस ही का नाम बहिरात्मापन है। जगत के सब जीवों पर एक ओर से दृष्टि डालते तो जावो, प्राय: यही चर्या सबकी मिलेगी। बाह्य पदार्थों में अपना हित और आनन्द समझना और बाह्य को ही अपना स्वरूप मानना, यह भूल पशुपक्षी में, मनुष्यों में, कीड़ों—मकौड़ों में, वनस्पतियों में, सबमें पड़ी हुई है।

आत्मा की विशिष्टता व सामान्यरूपता—बिरले ही पंचेन्द्रिय संज्ञी जीव इस बहिरत्व को त्यागकर निज अंत:प्रकाश को ग्रहण करते हैं। यह मैं आत्मा शाश्वत शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव मात्र हूँ। यह मैं न बहिरात्मा हूँ और ज्ञानी बनकर अन्तरात्मा बना हूँ तो भी स्वरूपत: अन्तरात्मा नहीं हूँ, और इस अन्तस्तत्त्व के ध्यान के प्रसाद से परमात्मप्रभु होऊँगा तो भी मैं स्वयं स्वभावत: शाश्वत ज्ञानस्वरूप हूँ, शुद्ध आत्मा हूँ। परमात्मा होना शुद्ध आत्मा के आलम्बन का प्रसाद है। शुद्ध स्वभाव की दृष्टि रखकर यह प्रकरण समझा जायेगा। मैं अव्याबाध हूँ। अतीन्द्रिय हूँ, और उपमारहित हूँ जगत के समस्त पदार्थों में एक आत्मा ही श्रेष्ठ पदार्थ माना गया है क्योंकि यह व्यवस्थापक है। अन्य समस्त पदार्थ अचेतन हैं, वे व्यवस्था नहीं बना सकते, वे कुछ जान नहीं सकते। हम आप जानते हैं, व्यवस्थाएँ बनाते हैं।

सांसारिक सुखों से अतृप्ति—सिद्ध भगवान, शुद्धोपयोगी जीव संसार के सुखों से भी परे हैं, ये सांसारिक सुख केवल गोरखधंधे ही हैं। भोगते समय सुहावने लगते हैं, पर पीछे बड़ा खेद पहुंचाते हैं। आप देख लीजिए ना, गृहस्थी में सांसारिक सुख का विशेष प्रारम्भ मान लीजिए वहाँ से जैसा कि आप विवाह को माना करते हैं। विवाह के समय कैसा उत्सव समारोह मनाया जाता है। कितने ही रुपये व्यय किए जायें, एक दुनिया भी समझ ले कि हाँ इन्होंने समारोह बहुत ऊँचा किया है और खुद को भी बड़ी खुशी है सो अनापसनाप बड़ा उत्सव मनाते हैं। ठीक है, विवाह हुआ कुछ दिन बड़े प्रेम वचनालाप से कटे, पर कुछ ही दिन के बाद कोई न कोई प्रकार की चिन्ता कलह मनमोटाव या जो उत्सुकता थी वह तो समाप्त हुई, सो स्वयं ही किसी बात से अतृप्ति आने लगी। लो अब संतान बढ़े, उनकी चिन्ता, आजीविका का साधन मजबूत बनाना पड़ा; न जाने कितने खटपट हुए? बुढ़ापे में पूछा जाय कि जीवन भर तुमने विविध श्रम किये, उनके फल में क्या तुम्हारे हाथ आज लगा? तो वह यही कहेगा कि हाथ तो कुछ भी नहीं लगा। नाना श्रम किये, जिन्दगी भर अपने मन को खुशी में रक्खा, पर आज खाली हाथ जा रहे हैं।

सांसारिक सुखों की असारता—ये सांसारिक समस्त सुख असार हैं, मायारूप हैं। पानी में जो फेन उठता है, नदियों के या समुद्र के किनारे जो फेन इकट्ठा हो जाता है उसमें जरासा थप्पड़ मारो तो सब फेन यहाँ वहाँ अलग हो जाता है, तो जैसे पानी के फेन में सार कुछ नहीं है ऐसे ही इस सांसारिक सुख में सार कुछ नहीं है। पानी को कितना ही मथो मटके में भरकर तो क्या उससे मक्खन निकल आयेगा? कभी नहीं निकल सकता। मक्खन तो दही में निकलता है। दही को एक दो घंटे मथानी से मथो तो मक्खन निकल आता है, पर पानी को चाहे वर्षों तक मथानी से मथो, पर मक्खन नहीं निकल सकता है। ऐसे ही बाह्यपदार्थों को मथने से, निग्रह-अनुग्रह करने से आनन्द कहाँ से निकलेगा? तुम चाहे जिन्दगीभर परपदार्थों में सिर मारो, पर आत्मा का गुण जो शान्ति है वह वहाँ से कैसे प्रकट होगी? प्रभु सांसारिक सुख से परे हैं और आत्मीय आनन्द में ही सदा मग्न रहते हैं।

सिद्ध की आवागमनविमुक्तता व समृद्धता—अब ये प्रभु पुन: संसार में न आयेंगे। ये जिस भव से मुक्त होते हैं वह भव इनका बड़ा सांसारिक दृष्टि से वैभवसम्पन्न होता है। दीन, दु:खी, दरिद्री लोग मुनि बनकर मोक्ष जाने वाले अत्यन्त ही कम होंगे, किन्तु सेठ, राजा, ज्ञानी, विद्वान, अनेक कलासम्पन्न पुरुष साधु बनकर मोक्ष गये वे ही प्राय: समस्त सिद्ध हैं। यहाँ उपासक जन भी जब जानते हैं कि यह परम योगीश्वर हैं, ये निर्वाण पधारेंगे तो वह अधिकाधिक भक्ति और अपना सब कुछ उन पर न्यौछावर करता है, बड़ी पूजा के साथ योगिराज मुक्ति पधारते हैं। आप भी अपने घर के किसी बालक को विदेश भेजते हैं किसी कारण से तो कितना शकुन मनाकर और कितना समारोह मनाकर आप बिदा करते हैं? वह तो वर्ष दो वर्ष में लौटकर घर ही आयेगा, किन्तु जिन जीवों को आप इस संसार से सदा के लिए बिदा कर रहे हैं अर्थात् जो निर्वाण प्राप्त करते हैं, जो कभी भी इस संसार में लौटकर न आयेंगे वे क्या ऐसे रूखे-सुखे ही संसार से चले जायेंगे? बड़े कल्याण के साथ, बड़े समारोह के साथ उनका सभामण्डप इन्द्र रचता है, उनका समवशरण इन्द्र कुबेर बनाता है, वे आखिर मुक्त होते हैं। अब ये प्रभु संसार में पुन: न आयेंगे क्योंकि संसार के आवागमन का कारण शुभ और अशुभ भाव है। मोह रागद्वेष के वशीभूत होकर यह जीव संसार में रुलता है। अब रागादिक भावों का सर्वथा परिहार हो गया, अब ये पुन: संसार में न आयेंगे।

परमात्मतत्त्व की नित्यता—उस निर्मल आत्मा का यहाँ चिन्तन किया जा रहा है, जो निर्दोष है, कर्मरहित है, अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त शक्ति से सम्पन्न है। इनका न अब नित्यमरण होता है, न तद्भव मरण होता है। यह मरण शरीर से सम्बन्ध रखता है। हम आप रोज-रोज मर रहे हैं, प्रति समय मर रहे हैं, वह कैसे? मानो किसी का आयु 60 साल की है, अब 20 वर्ष का हो गया, इसका अर्थ यह है कि 20 वर्ष मर चुका। 21 वर्ष का हुआ तो एक वर्ष का मरण और हो गया। आयु निकलती है, जितनी निकल गयी समझो उतना मरण हो गया। जितनी आयु है उतना अभी जिन्दा है। आयु के प्रति समय झडने का नाम नित्यमरण है और जब इस भव से बिल्कुल ही चले गए तो उसका नाम तद्भव मरण है। लोग उस तद्भवमरण के समय समाधि ग्रहण करते हैं, करना चाहिए। अब इस देह को त्यागकर बिल्कुल ही जा रहे हैं तब भी यदि समता प्राप्त न करें, परिजन और वैभव में मोह ममता ही बढ़ाये तो उसका फल उत्तम न होगा। पर एक बात और ध्यान में रखने की है कि जब हम रोज-रोज प्रति मिनट में मर रहे हैं तो हमें प्रति मिनट समाधिभाव रखना चाहिए, समतापरिणाम करना चाहिए। नित्यमरण और तद्भव मरण का कारणभूत जो यह शरीर है इस शरीर का सम्बन्ध ही न रहा भगवान के, इस कारण भगवान नित्य है। यह भगवान जैसे नित्य हैं तैसे हम आप भी स्वभावत: नित्य हैं। हम आपका भी कभी मरण नहीं है। जो स्वरूप है उस ही स्वरूप सहित निरन्तर रहा करते हैं।

परमात्मतत्त्व की अचलता व अनालम्बता—प्रभु अचल हैं, उनमें जो गुणविकास हुआ है वह अब गुणविकास न छूटेगा। उसके प्रच्यवसन न होने से वह प्रभु अचल है। यह मैं आत्मा भी चैतन्यस्वरूप को लिए हुए हूँ। मेरा स्वरूप सहज ज्ञानस्वभाव, सहज आनन्द स्वभाव है उसको भी में त्रिकाल त्याग नहीं सकता हूँ। मैं अपने स्वरूप में अचल हूँ, मेरे में मैं ही हूँ, मेरे को परद्रव्यों का आलम्बन नहीं है। किसी परद्रव्य के सहारे हम अपनी सत्ता रखते हों ऐसा नहीं है। जो पदार्थ है वह स्वयं स्वतंत्ररूप से अपने आप है। किसी दूसरे की मदद से मेरी सत्ता नहीं है, परद्रव्यों का मुझमें आलम्बन नहीं है, इस कारण अनालम्ब हूँ और यह प्रभु भी परद्रव्यों के आलम्बन से रहित है। ऐसा यह निरुपाधिस्वरूप मेरा स्वभाव और प्रभु का व्यक्त तत्त्व है।

स्वरूपदर्शन का अनुरोध—अहो ! कितने खेद की बात है कि ऐसा प्रभुतास्वरूप होकर भी यह जीव अनादिकाल से प्रत्येक स्थिति में मोहमत्त होकर सोया हुआ है और दु:खी हो रहा है। अरे ! जिस स्थिति में तुम मत्त हो रहे हो उसे तुम अपना पद मत जानो, उसमें अंध मत बनो, जो कुछ भी समागम मिला है उस समागम में सदा रहने का विश्वास न करो। सदा न रहेगा यह, इसमें राग मत करो। विषयांध मत बनो, अपने आत्मा की भी सुध लो। यह समस्त दृश्यमान मायाजाल है, यह तुम्हारा कुछ नहीं है, यहाँ से हटो और देखो अपने आपकी ओर आवो जहाँ तुम्हें यह चैतन्य-निधि प्राप्त होगी, जहाँ केवल ज्ञानप्रकाश का ही अनुभवन होगा, समस्त संकट और आकुलताएँ दूर होंगी, ऐसे इस आत्मतत्त्व में आवो और निज बाह्य स्थितियों में तुम भरम रहे थे उनसे विराम लो।

परमात्मतत्त्व की सहजरूपता व उसके आलम्बन का संदेश—जीव में भाव 5 होते हैं। कुछ कर्मों के उदय से होते हैं, उन्हें औदयिक कहते हैं, कुछ कर्मों के दबने से होते हैं, उन्हें औपशमिक कहते हैं, कुछ कर्मों के विनाश से होते उन्हें क्षायिक कहते हैं और कुछ कर्मों के मिटने से, कुछ दबने से, कुछ उदय से होते हैं उन्हें क्षायोपशमिक कहते हैं, किन्तु यह मैं आत्मस्वरूप इन चार भावों से भी विविक्त केवल शुद्ध चैतन्यप्रकाशमात्र हूँ, परमपारिणामिक भावस्वरूप हूँ। यह मेरा शुद्धस्वरूप मुझे दिख जाय, इसी के मायने हैं सम्यग्दर्शन। बुद्धिमान पुरुष समस्त रागद्वेषों को त्यागकर इस शुद्ध चैतन्यस्वभाव का आलम्बन करते हैं। जो पुरुष बाहरी पदार्थों का रागद्वेष, मोह तजकर अपना जो असहाय केवल अपने आपके कारण जो अपने में स्वभाव है उस स्वभाव का आलम्बन करता है वह पुरुष संसार के समस्त संकटों से परे हो जाता हैं। हम आपका कर्तव्य है कि व्यवहार में तो प्रभु की उपासना करें जो वीतराग है, सर्वज्ञ है और अपने आपमें अपने अंत:प्रकाशमान इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूप की उपासना करें। अपने आपको ऐसी प्रतीति में लें कि मैं सिर्फ ज्ञानमात्र हूँ, मेरा स्वभाव केवल ज्ञानस्वरूप है, ऐसी प्रतीति करें तो इस शुद्ध ध्यान के प्रताप से संसार की समस्त उलझनें दूर हो जायेंगी और प्रभुता प्राप्त कर ली जायेगी।

गाथा 179

णवि दुक्खं णवि सुक्खं णवि पीडा णेव विज्जदे बाहा।

णवि मरणं णवि जणणं तत्थेव य होइ णिव्वाणं।।179।।

यातनावों के अभाव में निर्वाण—निर्वाण वहाँ ही है जहाँ न दु:ख है, न सुख है, न पीडा है, न बाधा है, न मरण है और न जन्म है। संसार अवस्था में ये सभी दोष हैं। दु:खों का कारण है अशुभ कर्म का उदय। असाता वेदनीय के उदय में दु:ख होता है। यह असाता वेदनीय बनता है तब, जब आत्मा में अशुभ परिणमन होता है। यह अशुभ परिणमन कलंक है। यह परमात्मतत्त्व, यह आत्मा भगवान अपने ही सत्त्व के कारण शुद्ध

ज्ञानप्रकाशमात्र है। इसमें दु:ख का अवसर ही नहीं है, किन्तु अनादि काल से ऐसा उपादान मलिन चला आ रहा है कि अशुभ कर्म का उदय पाकर यह जीव दु:खी बन रहा है। यों तो जितने भी कर्म हैं वे सब कर्म दु:ख के हेतु हैं, यह आत्मा केवल जैसा अपने स्वरूप से है वैसा ही रहा आये तो इसको कोई दु:ख नहीं है। लोग कल्पनायें करके अन्य पदार्थों को मानते हैं कि ये मेरे हैं, यह मैं हूँ, यह कल्पनाजाल जो इसमें घर बनाये हुए है वही समस्त दु:खों का कारण है।

इच्छावों की क्लेशकारणता—अशुभ परिणति मेरा स्वरूप नहीं है। जो निरन्तर अपने आत्मस्वरूप में अन्त:प्रकाशमान् रहा करता है उस अपने आपके सहजस्वरूप की ओर झुकाव हो तो अशुभ परिणमन नहीं होता। जितनी भी इन्द्रियों की इच्छा है यह सब बाह्य दृष्टि होने पर होती है। इस इच्छा से आत्मा को साध्य कुछ नहीं है। केवल इच्छा करके यह क्लेश पाता रहता है। मोक्ष तक की भी जब तक वाञ्छा रहती है तब तक मोक्ष नहीं मिलता है, अन्य की वाञ्छावों का तो कहना ही क्या है? ज्ञानी विरक्त पुरुष मोक्ष की चाह रखता है, ठीक है, यह शुभ परिणाम है, फिर भी यह जानो कि तब तक मोक्ष की इच्छा है तब तक सविकल्प अवस्था है। एक शुभ विकल्प अपना हुआ।

निर्वाण की पात्रता—जब यह आत्मा, आत्मा ही ज्ञाता, आत्मा ही ज्ञेय रहकर एक अभेदोपयोगी बनता है, तब मोक्ष तक की भी वहाँ इच्छा नहीं रहती है। वहाँ मर्म यह है कि एक अद्वैत बुद्धि रहना सो तो सिद्धि है और जहाँ द्वैत भाव आया, द्वैधीकरण आया बस वहीं क्लेश है। यह मैं आत्मा हूँ इतना तक भी परिणाम हुआ तो वह विकल्प है। आत्मा को पूर्ण निर्विकल्प समाधिमय होना चाहिए तब उसकी मुक्ति होती है। यह आत्मतत्त्व निरुपराग है, जो कुछ भी है वह अकेले है, दूसरे को लेकर है कोई नहीं बनता। दूसरे का गुण उधार लेकर सत् नहीं बना करता है। जो भी पदार्थ है वह पूरा अपने आप है, मैं आत्मा हूँ तो मैं अपने आप ज्ञानमात्र हूँ, सत् हूँ, किसी दूसरे का सहारा लेकर नहीं हूँ।

ज्ञायक की ज्ञानानन्दरूपता—भैया ! ऐसा मालूम होता है मोह में कि मैं इन्द्रियों के सहारे जानता हूँ। पहिली बात वहाँ यह है कि इन्द्रियों का सहारा लेने से हमारे ज्ञान में कमी आयी है, ज्ञान का विकास रुक गया है। ये इन्द्रियाँ तो एक कमरे की खिड़कियों की तरह हैं। जानने वाला पुरुष तो अलग है, खिड़कियाँ नहीं जानती हैं। खिड़कियों के होने से तो बल्कि उस जानने वाले पुरुष को रुकावट हो रही है। वह अब केवल खिड़कियों से जाने और जगहों से नहीं जान सकता। ऐसे ही मैं तो ज्ञानमात्र हूँ। ज्ञान से सबको निरन्तर जानता रहता हूँ। इन इन्द्रियों के कारण तो मेरे में रुकावट आयी है। मैं अब सबको नहीं जान सकता। इन्द्रियों का जब तक हम सहारा लेते हैं तब तक हम सर्वज्ञ नहीं हो सकते। इन्द्रियों का सहारा मोहवश लेता है यह जीव। इन इन्द्रियों की उपेक्षा करके अपने शुद्ध ज्ञानामृत का पान करना चाहिए।

मोह में भ्रमपूर्ण श्रम—लोक में किसी भी स्थिति में आनन्द नहीं है। यह जीव मोह से पीड़ित हुआ नाना श्रमों को करके सुखी होना चाहता है, किन्तु सुखी होने का यह रास्ता ही नहीं है। हम गलत रास्ते पर चल रहे हों और गलत रास्ता हम जान जायें तो यह भी एक सुलझने का मार्ग है। रास्ता तो गलत रखें और यही समझें तो यह मेरे भटकने का मार्ग है, ऐसे ही यह भी एक धर्मपालन है कि हम इसका खेद विषाद मानते रहें कि मेरा उपयोग क्यों बाह्यपदार्थों में अटकता है, क्यों परिजनों में ममता बुद्धि बनती है? मेरा तो यह देह भी नहीं है मैं तो नामरहित एक आत्मसत् हूँ।

परमार्थत: पदार्थ की निर्नामता—भैया ! सच पूछो तो नाम तो किसी वस्तु का होता ही नहीं है। जो भी विशेषता उस वस्तु में नजर आयी वही नाम लोग लेते हैं। वह नाम उस वस्तु का नहीं है। जैसे लोग कहते हैं इस देह को शरीर। तो कोई कहे कि शरीर तो नाम है। पर शरीर नाम नहीं है, 'शीर्यते इति शरीरम्।' जो सड़ेगले उसका नाम शरीर है। यह विशेषण है। इस शब्द ने विशेषता बतायी है। 'देह दिह्यते उपचीयते इति

देह:' जो संचित हो उसे देह कहते हैं। संदूक भी नाम नहीं है, 'सं' मायने अच्छी तरह से 'दूक' मायने छिप जाय जिसमें वह संदूक है। यह विशेषता है, पदार्थ का निज का नाम नहीं है, नाम किसी का होता ही नहीं है, विशेषता को लोग पुकारते हैं। दुकान-दुकान नाम नहीं है, जहाँ दो कानों से व्यवहार चले उसका नाम दुकान है, एक बेचने वाले का कान और एक लेने वाले का कान। अथवा, दुकान कोई चीज दुकावो नहीं, सामने रक्खो, उसका नाम दुकान है। चौकी—यह नाम नहीं है, किन्तु चार कोने जिसमें हों उसका नाम चौकी है। किसी वस्तु का नाम ही नहीं होता। लोग तो अपने मतलब के अनुसार जो उनके प्रयोजन की विशेषता मालूम हुई—नाम रख लिया। किवार कि मायने किसी को वार दे मायने रोक दे, कुत्ता, बिल्ली, आदमी आदि सबको किसी को न आने दे वह किवार है। भींट-भींच करके ईंट लगाये उसका नाम है भींट। नाम किसी का होता ही नहीं है, अपने स्वार्थवश जो विशेषता हम देखते हैं उसका नाम लगा देते हैं।

परमार्थत: आत्मा की निर्नामता—इस आत्मा का भी नाम कुछ नहीं है। आत्मा तो एक विशेषता है। 'अतति सततं गच्छति जानाति इति आत्मा।' जो निरन्तर जानता रहे उसका नाम आत्मा है। क्रोध कर रहे हों वहाँ भी जानते हैं, मान आदिक कर रहे हों वहाँ भी जानते हैं, कषाय न कर रहे हों, वहाँ भी जानते हैं, यह सत् जानने से कभी नहीं चूकता है, इसका नाम है आत्मा। जीव—दसों प्राणों करि जीवे उसका नाम है जीव, चैतन्यप्राण से जीवे तो जीव। ब्रह्म, अपने गुणों से जो बढ़ने की प्रकृति रखता है उसका नाम है ब्रह्म। इस मुझ सत् का कोई नाम नहीं है। लोगों ने व्यवहार के अर्थ इस व्यञ्जनपर्याय का नाम रख लिया। नामधारी बन जाने से अब इस जीव को धन में हो गया ममत्व। इस कारण अब अपनी कल्पना के अनुसार इसे नाना श्रम करने पड़ते हैं। कलह और विवाद भी करने पड़ते हैं।

परमात्मतत्त्व में क्लेशहेतुओं का व क्लेशों का अभाव—यह परमात्मतत्त्व तो निर्लेप रत्नत्रयात्मक परमात्मस्वरूप है। सदा अन्तर्मुखाकार परम अध्यात्मस्वरूप में निरत है। इसकी अशुभ परिणति का अभाव होने से न इसके साथ कर्म हैं, कर्मों का अभाव होने से न इसमें दु:ख है, स्वभाव दृष्टि से अपने आपमें ऐसा निरखिये। और पर्यायदृष्टि से सिद्ध भगवान में, मुक्त अवस्था में ऐसा निरख लीजिए प्रभु के किसी प्रकार का दु:ख नहीं है। हम प्रभु को क्यों पूजते हैं? हम दु:खरहित होना चाहते हैं, और दु:खरहित है प्रभु का स्वरूप। सो प्रभु के स्वरूप का ज्ञान बनाकर मैं अपने दु:खरहित स्वरूप का पोषण करता हूँ। उससे दु:ख दूर हो जाता है। यदि प्रभु दु:खरहित न होते तो हम उनको कभी न पूजते।

परमात्मतत्त्व में सुखरूप क्षोभों का भी अभाव—प्रभु के सांसारिक सुख भी नहीं हैं। सांसारिक सुख मलिन परिणाम है। यह पुण्य कर्मों के उदय से होता है। जैसे दु:ख में क्षोभ रहता है ऐसे ही सुख में भी क्षोभ रहता है। पुण्य और पाप ये दोनों कर्म इस जीव को बेड़ी की तरह बाँधे हुए हैं। जैसे लोहे की बेड़ी कैदी को पहिना दिया जाय, चाहे सोने की हो, पर वह तो एकसा बन्धन है, यों ही संसार के प्राणियों में कोई पुण्य की बेड़ी से जकड़ा है, कोई पाप की बेड़ी से जकड़ा है। पुण्य और पाप से रहित सिद्ध भगवंत हैं। अनुभव करके भी देख लो, जब इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग आदिक पाप के फल मिलते हैं वहाँ भी चैन नहीं रहती और जब सम्पदा, इष्टवियोग आदिक के फल मिलते हैं तो वहाँ भी इस जीव को होश नहीं रहता। सुख के रूप में क्षोभ मचता है, शान्ति तो रहती नहीं। शान्ति होना ज्ञान का फल है, पुण्य का फल नहीं है। पुण्य का फल क्षोभ है, पाप का फल क्षोभ है। पुण्यपाप दोनों से रहित यह सिद्ध भगवंत हैं, अत: इनके न दु:ख है और न संसार का सुख है।

परमात्मतत्त्व में पीड़ा व बाधा का अभाव—प्रभु के शरीर ही नहीं है, केवल ज्ञान और आनन्द की ज्योति हैं वे। जहाँ दु:खयातनायोग्य शरीर हो वहाँ पीड़ा होगी। शरीर ही नहीं है तो पीड़ा क्या होगी। भूख, प्यास, ठंड, गर्मी, रोग, ये समस्त शरीर के सहारे होते हैं। पीड़ा के योग्य यातनामय शरीर है। शरीररहित होने से सिद्ध

भगवान के पीड़ा नहीं होती। हम जिस भगवान की आराधना करते हैं हमें चाहिए कि हम उस भगवान के स्वरूप से पूर्ण परिचित रहें। संसार में कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जिसका शरण गहा जाय और शान्ति मिले। एक प्रभु स्वरूप ही ऐसा है कि जिसका शरण गहें तो शान्ति मिले। प्रभु के बाधा भी रंच नहीं है। असाता वेदनीय कर्म का अभाव होने से रंच मात्र भी बाधा नहीं है। मानसिक जितनी भी वेदनाएँ हैं वे सब बाधाएँ कहलाती हैं। शरीर के सहारे जितनी वेदनाएँ हैं वे सब पीड़ा कहलाती हैं। प्रभु के न कोई पीड़ा है और न किसी प्रकार की बाधा है।

निर्वाण में मरण व मरण के आश्रयभूत शरीरों का अभाव—प्रभु मरणरहित हैं। शरीर हो तो मरण हो। किसी प्रकार का सिद्ध प्रभु के शरीर ही नहीं है, वे तो शुद्ध ज्ञानानन्द का पुञ्ज हैं। शरीर 5 होते हैं—औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण। इन 5 शरीरों में दो शरीर तो अत्यन्त सूक्ष्म हैं और सदा साथ रहते हैं संसारी जीवों में। वे दो शरीर है तैजस और कार्माण। जीव के मरने पर यह शरीर तो नहीं रह जाता है किन्तु तैजस और कार्माण शरीर जीव के साथ जाते हैं, इसी को लोग सूक्ष्म शरीर कहते हैं। तैजस शरीर उसे कहते हैं जिसके कारण पाये हुए शरीरों में तेज उत्पन्न हो। लोग जैसे कहने लगते कि इसमें जान नहीं रही, मुर्दा हो गया है, मुर्दनी छा गयी है, कान्ति नहीं रही है जब जीव ही निकल गया और उसके साथ तैजस शरीर भी निकल गया तो कान्ति कहाँ से रहे? कार्माण शरीर उसे कहते हैं जो इस जीव के कर्म बँधे हैं, पुण्य अथवा पाप, उन समस्त कर्मों का जो शरीरात्मक ढाँचा है उसे कार्माण शरीर कहते हैं। यह सूक्ष्म शरीर जीव के साथ जाता है। औदारिक और वैक्रियक स्थूल शरीर हैं, आहारक भी सूक्ष्म है, पर वह किसी साधु के प्रकट होता है। हम आपका शरीर औदारिक कहलाता है और देव और नारक का वैक्रियक। सर्व प्रकार के शरीरों का अभाव होने से अब प्रभु के मरण नहीं है। अब वह प्रभु शरीर जिससे बनता है ऐसी वर्गणावों को कोई ग्रहण नहीं कर सकते, इस कारण अब उनके जन्म-मरण नहीं है।

प्रभु का आराध्य स्वरूप—भैया ! सर्वझंझटों से रहित ज्ञायकस्वरूप परमात्मतत्त्व केवल ज्ञानादिक अनन्तचतुष्टय से सम्पन्न प्रभु के सदा निर्वाण रहता है। हमें आराधना करनी है प्रभु की, तो प्रभु को हम यदि नाना रूपों में तकते हैं, यह आ गये मुकुट बाँधे, अथवा बढ़िया पोशाक पहिने संगीत बाजे बजाते हुए, शस्त्र हथियार रखते हुए, स्त्री साथ में रखे हैं, भगवान के ये बच्चे भी पास में बैठे हैं, इस रूप में यदि भगवान को तकते हैं तो आत्मा में शान्ति का तो कोई साधन नहीं बन पाया। विकल्प ही बढ़ाया और इन्द्रियों पर ही जोर देकर ऐसा प्रभु को तकने का यत्न किया। आप प्रभु को केवलज्ञान और आनन्द के स्वरूप में निरखें। प्रभु तो शरीररहित है। केवल जानन और निरन्तर आनन्दमग्नता जिनमें बनी हुई है ऐसा विशुद्ध एक भाव है परमभाव। उत्कृष्ट ज्ञान ज्योति प्रभु है, उस ज्ञान और आनन्द के स्वरूप का अनुभव करते जाइए, तो इस पद्धति से अपने आपमें शान्ति भी मिलेगी और जो वास्तविक प्रभुता है उसका दर्शन भी होगा।

प्रभुभक्ति का प्रयोजन—इस लोक में जीव के भव-भव में सुख-दु:ख बने रहते हैं, ये सुख-दु:ख जिसके नहीं हैं, बाधा, जन्म, जरा, मरण जिनके नहीं है ऐसे परमात्मा को मैं किसलिए नमस्कार करता हूँ? इसलिए कि जो ज्ञान और आनन्द का विकास प्रभु के प्रकट हुआ है वह मेरे प्रकट हो। तुलसीदास जी जब काम वासना से पीड़ित होकर स्त्री से मिलने रात्रि को गये ससुराल, तो मुर्दे को पकड़कर नदी तैर गये, साँप को पकड़कर महल पर चढ़ गये। स्त्री ने जब पूछा कि कैसे नदी तैरी और कैसे महल आ गए? देखा तो मालूम पड़ा कि यह तो सांप है जिसके सहारे तुलसीदास मकान में आये हैं और यह मुर्दा है जिसको पकड़कर नदी पार कर पाये हैं। तो स्त्री बोलती है 'जैसा हेत हराम से, तैसा प्रभु में होय। चले जावो बैकुण्ठ में पल्ला न पकड़े कोय।।' तुलसीदास को वहाँ सीख मिली और स्त्री से हाथ जोड़कर बोले कि आज से तुम हमारी माँ हो, गुरु

हो और वापिस चल दिया। जितना स्नेह हम इस जड़ वैभव से करते हैं उतना स्नेह प्रभु की प्रभुता से करें तो हम संसार के संकटों से पार हो सकते हैं। यहाँ के श्रम से कुछ लाभ न होगा।

आत्मा की आराधना में निरपराधता—जो पुरुष आत्मा की आराधना नहीं करते हैं उन्हें तो अपराधी कहा गया है। राध मायने आराधना और अप मायने दूर हो गयी। जिसके आत्मा की आराधना नहीं है उसे अपराधी कहा गया है। मैं निरपराध होऊँ, इसके लिए कर्तव्य है कि मैं इस आनन्दपुञ्ज ज्ञाननिधान आत्मा को भजूँ। इस ज्ञानस्वरूप आत्मा को ज्ञान ही रूप में ज्ञान से जाना करूँ, अन्य सब विकल्पों को तोड दूँ, यह है आत्मा की आराधना। जो आत्मा की आराधना करता है वह निरपराधी है और इस ही सहज ज्ञानस्वरूप आत्मा के ध्यान के प्रसाद से ऐसे निर्वाण को प्राप्त होता है ज्ञानी संत, जहाँ न दु:ख है, न सुख है, न पीड़ा है, न बाधा है, न जन्म है, न मरण है। हम प्रभु की उपासना करें और ऐसे ही स्वरूप वाले आत्मतत्त्व की आराधना करें।

गाथा 180

णवि इंदिय उवसग्गा णवि मोहो विम्हियो ण णिद्दा य।

ण य तिण्हा णेव छुहा तत्थेव य होइ णिव्वाणं।।180।।

परम तत्त्व—समस्त संकटों के कारण व उपकारणों के बुझ जाने का नाम निर्वाण है। इस जीव के परमोत्कृष्ट अवस्था मोक्ष की है। जहाँ शरीर, कर्म और रागादिक भाव सभी प्रकार के कलंक समाप्त हो जाते हैं और केवल शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप यह परमात्मतत्त्व रहता है उस स्थिति को निर्वाण कहते हैं। यह दृश्यमान् जगजाल मायारूप है, यहाँ परमार्थभूत तत्त्व कुछ नहीं है। जैसे नाना पुद्गल स्कंधों के मेल से ये सब कुछ जो स्थूल दिख रहे हैं, ये स्थूल परम पदार्थ नहीं हैं, इनमें जो अतिसूक्ष्म कारण अणु हैं ये अणु परमार्थ चीज हैं, ऐसे ही हम आपके आत्मा में जो राग, विकार, विचार, वितर्क, विषय-कषाय, इच्छा ये तरंगें उठती हैं ये परमार्थभूत नहीं हैं। ये माया हैं, इन्द्रजाल हैं, असार हैं, इनमें न अटक कर इन्हें असार जानकर इनकी उपेक्षा करके अपने आपमें अन्त:ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, ऐसी प्रतीति होना सो ही वास्तव में कल्याणकारी पग है। जिनसे मिलाप होता है ये कोई सहाय न होंगे। यह तो चंद दिनों का झमेला है। अपना पूरा पड़ेगा तो अपने सहज स्वरूप के दर्शन से, आलम्बन से, वहाँ ही निवास करने से पूरा पड़ेगा। इस गाथा में परम निर्वाण के योग्य कौनसा परम तत्त्व है, किस तत्त्व का सहारा लें कि शान्ति ही शान्ति रहे उसका इसमें वर्णन है और उसको जो प्राप्त कर चुके हैं, वे परमशुद्ध अवस्था में हैं ऐसे सिद्ध भगवंतों का इसमें वर्णन है।

सिद्धों की अनिन्द्रियता व संसारियों की इन्द्रियरूपता—सिद्ध भगवान में किसी भी इन्द्रिय का व्यापार नहीं रहा। वे अखण्ड स्वरूप हैं, अखण्ड ही प्रदेशों में निवास है, उनके देह ही नहीं है, इन्द्रियाँ कहाँ से रहें? इन्द्रियाँ 5 होती हैं जिनसे संसारी जीवों की पहिचान होती है। संसार में जीवों की पहिचान का इन्द्रिय ही एक तरीका है। पहिली इन्द्रिय है स्पर्शन। आत्मा से प्रतिपक्ष कोई पुद्गल स्कंध, कोई भौतिक पदार्थ विलक्षण आत्मा के साथ जुड़ गया वही देह है और यह सारा दृश्यमान देह स्पर्शनइन्द्रिय है। स्पर्शनइन्द्रिय उसे कहते हैं जिसके द्वारा स्पर्श जाना जाय, यह ठंडा है, यह गर्म है, यह रूखा है, यह चिकना है, यह कड़ा है, नरम है, हल्का है, भारी है—ये बातें जिस इन्द्रिय से जानी जायें उसका नाम स्पर्शनइन्द्रिय है। संसार का प्रत्येक जीव स्पर्शन इन्द्रिय से तो जानता है ही, पृथ्वी, जल, अग्नि, हवा पेड़ ये भी स्पर्शन इन्द्रियसहित हैं, इनका जो शरीर है वह समस्त स्पर्शन इन्द्रिय है।

दोइन्द्रिय जीव का विकास—रसना इन्द्रिय जिह्वा का नाम है, जीव की निष्कृष्ट स्थिति एक इन्द्रियपने की है। जब उन जीवों का कुछ विकास होता है तब उन्हें जिह्वा वाला देह मिलता है। अब यह जीव दो इन्द्रियों से जानने लगा। स्पर्शन इन्द्रियों से तो स्पर्श की बात जानता है और रसना इन्द्रिय से रस भी पहिचानता है, स्वाद आता है अब यह मुख से खाने लगा। पहिले यह स्थावर जीव समस्त शरीरों से भरम लेता था। पेड़ है वह जड़ों से आहार ग्रहण करता है और जड़ों से ही नहीं, शरीर के प्रत्येक अंग से वह रस का ग्रहण करता रहता है। सूक्ष्म स्कंध वायु मंडल में प्राप्त जो भी इन पेड़ वगैरह के पास आता है उस योग्य सबको आहरण करता है। अब दो इन्द्रिय होने पर यह जीव मुख से भी खाने लगा। लट, जोक, केचुवा, शंख का कीड़ा, सीप का कीड़ा आदि ये सब दो इन्द्रिय जीव हैं। इनके शरीर है और मुख है।

तीन इन्द्रिय जीव का विकास—स्पर्शन, रसना व घ्राण, इन तीन इन्द्रियों द्वारा जान लेना यह जीव का अगली श्रेणी का विकास है। जब इस जीव में ज्ञानावरण का क्षयोपशम विशेष बढ़ता है अर्थात् कुछ ज्ञानविशेष जगता है तब इसके बाद का विकास होता है तीनइन्द्रिय जीव का। अभी यह जीव स्पर्शन और रसना, इन दो इन्द्रियों से ही जानता था, भोगता था; तीन इन्द्रियाँ होने पर अब घ्राण से भी ज्ञान करने लगा। चींटा-चींटी में घ्राण का बहुत तेज विषय होता है। कहीं मिठाई रक्खी हो तो तमाम चींटा-चींटी सूँघ—सूँघ कर इकट्ठे हो जाते हैं।

चार इन्द्रिय जीव का विकास—कुछ और ज्ञान बढ़ा, कुछ और विकास हुआ तो इस जीव ने आँखों वाला देह पाया। मक्खी, मच्छर, टिड्डी, ततैया ये सब चारइन्द्रिय जीव हैं। आँखों से भी जान सकते हैं। यहाँ तक सब जीव मनरहित होते हैं। ये केवल आहार, भय, मैथुन, परिग्रह—चार संज्ञावों से पीड़ित रहते हैं, उनके हित-अहित का विवेक नहीं जगता। कोई शान्ति का साधन नहीं बन सकता। उनका जीवन-मरण सब एक समान है। जीकर भी क्या किया, मर कर भी क्या किया?

पञ्चेन्द्रिय का विकास—अब इस विकास के बाद का विकास है कर्ण इन्द्रिय का। अब यह जीव कानों से भी जानने लगा। पंचेन्द्रिय में कुछ होते है मनरहित, कुछ होते है मनसहित। मनरहित तो बिरले ही होंगे। प्राय: जिनके कर्ण हैं उनके मन हुआ करता है। पशुपक्षी ये भी पंचेन्द्रिय हैं, इनके मन है। मनुष्य सम्यक्त्व में जितना भला कर सकते हैं करीब-करीब उतना भला करने की पात्रता उन पशुपक्षियों में है। जिस उत्कृष्ट बात को ध्यान में लाकर यह मनुष्य बड़ा कहला सकता है, जिस ब्रह्मज्योति का अनुभव करके यह मनुष्य सम्यग्दृष्टि कहलाता है उस ब्रह्मज्योति के अनुभव करने की पात्रता इन गाय, बैल आदि जानवरों में भी है। हालाँकि ऐसा दिखता है कि यह जानवर क्या शुद्ध ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे, यों ही तो मनुष्यों में भी दिखता है, कौनसा मनुष्य शुद्ध ज्ञानमार्ग का आलम्बन कर पाता है, क्रोध, मान, माया, लोभ, विषय, मोह, राग, द्वेष ये सबके सब सता रहे हैं मनुष्यों को भी, उस ब्रह्मज्योति का दर्शन जैसे बिरले मनुष्य को होता है ऐसे ही उस ब्रह्मज्योति का दर्शन बिरले पशु और पक्षियों को भी हो जाता है। पंचेन्द्रिय अवस्था तक 5 इन्द्रियों का विकास हुआ।

निर्वाण में इन्द्रियों का अभाव—ये संसारी जीव इन 5 इन्द्रियों का व्यापार करके, इनका उपयोग करके जानते हैं और अपनी कल्पनावों के अनुसार मौज मानते हैं, लेकिन प्रभु सिद्ध भगवंत इन्द्रिय के व्यापार से रहित हैं। ज्ञानमय होकर भी जब तक इन इन्द्रियों के सहारे जानने और मौज मानने का प्रयत्न बनाता है यह प्राणी तब तक एक न एक संकट इसके सिर पर मंडराते रहते हैं। भगवान के इन्द्रियाँ नहीं हैं, इन्द्रियों का व्यापार नहीं है। वे तो ज्ञान और आनन्द के पिंड हैं। प्रभु का ध्यान करके हम भव्यजीव इसी कारण शान्ति पाते हैं कि प्रभु शान्त है, आनन्दघन है, शुद्धज्ञानमय हैं, ऐसा उपयोग बनाने से हमें भी आनन्दसिंधु आत्मतत्त्व की याद आती है और शान्ति प्रकट होने लगती है।

निर्वाण में उपसर्ग का अभाव—सिद्ध भगवंतों के किसी भी प्रकार का उपसर्ग नहीं है। मोक्ष अवस्था में कोई सता नहीं सकता। संसार में जीव चार गतियों में बँटे हुए हैं, कोई नारकी, कोई तिर्यंच, कोई मनुष्य और कोई देव है। नारकी जीव का तो इस मध्यलोक में कभी आना होता ही नहीं है। देवता लोग इस मध्यलोक में आ सकते हैं कदाचित् कभी, या तो किसी विशिष्ट पुरुष से स्नेह हो, भक्ति हो तो आते हैं, अथवा कोई खोटे देव किसी से बैर रखते हों तो आते हैं। यहाँ तो मनुष्य और तिर्यंच ही विशेष करके रहा करते हैं। तीन गति के जीव यहाँ हो सकते हैं देव, मनुष्य और तिर्यंच। किसी-किसी को देव भी बाधा देते हैं, मनुष्य और तिर्यञ्च तो विशेष बाधक हैं ही। सिद्धों को कोई बाधा नहीं दे सकता।

संसार की दु:खरूपता—संसार दु:खों से भरा हुआ है, भले ही पुण्य के उदय में कुछ दिन कोई बाधा न आये, उपसर्ग न आये, लेकिन इसका विश्वास क्या? एक माह भी क्या, एक दिन भी पूरा ऐसा किसी का नहीं गुजरता जिसमें कोई चिन्ता न आये, कोई विपदा अनुभव न करे, कुछ अपने में व्यग्रता न आने दे। ऐसा एक दिन भी नहीं कटता किसी का। सब अपनी-अपनी बात जान सकते हैं, कोई कितनी ही ऊँची स्थिति में हो लौकिक दृष्टि से, पर इस रोग में तो सब एक समान हैं। गरीब हो, रईस हो, अशिक्षित हो, शिक्षित हो सब पर दु:ख, चिन्ता, शोक, शल्य, हर्ष, विशाद, ये सब दौड़ते हुए सब पर मंडरा रहे हैं। और ऐसी स्थिति में हम किसी भी दूसरे जीव की कोई हरकत देखकर हम उपसर्ग समझने लगते हैं। इसने तो मुझ पर बड़ा सितम ढाया है। अपनी कल्पना बनाकर हम अपने में उपसर्ग अनुभव करते हैं और कभी-कभी उपसर्ग जैसी घटना भी आ जाती है, लेकिन भगवान के किसी भी प्रकार का उपसर्ग नहीं है। न उन्हें देव उपसर्ग कर सकें, न मनुष्य उपसर्ग कर सकें और न पशुपक्षी। प्रभु उपसर्गरहित हैं।

आत्मत्त्व की विविक्तता व निर्बाधता—अब जरा अपने आपके स्वरूप में भी निहारो। जो हम आप स्वयं स्वत: सहज अपने स्वरूप हैं उस स्वरूप को निहारो, अन्य बातें उसके साथ न देखना। देह मैं नहीं हूँ, देह की दृष्टि करके, देह का मिश्रण करके अपने आपको न देखना। इस देह-देवालय में विराजमान् यह मैं आत्मतत्त्व ऐसा शुद्ध चित्प्रकाशमात्र हूँ कि जिसमें किसी दूसरे पदार्थ का प्रवेश ही नहीं है, इस आत्मस्वभाव में भी उपसर्ग नहीं है, इसे कोई सता नहीं सकता। किसी को कोई दूसरा सताता नहीं है। खुद ही खुद को सताया करता है यह बात यथार्थ सत्य है। यह सोचना कि मुझे अमुक ने सताया है, कोरा भ्रम है, कोई सता ही नहीं सकता है। हम अपनी कल्पना बनाते हैं, हम अपनी इस पर्याय पर दृष्टि डालते हैं, हम अपने अज्ञान का नृत्य करते हैं और उस अज्ञान दशा में हम यह अनुभव करने लगते हैं कि मुझे अमुक ने सताया है, मुझे कोई दूसरा सता ही नहीं सकता।

पर के द्वारा पर में बाधा का अभाव—आप कहेंगे वाह ! कोई गाली देकर सता तो सकता है, पर कोई नहीं सता सकता। यदि कोई दूसरा पुरुष हमें सता सकता है तो वह सबको सता सकेगा, किन्तु कोई कल्पना करके अपना उपसर्ग अनुभव करता और कोई विशिष्ट ज्ञानी अपने में उपसर्ग नहीं अनुभव करता। जितने भी क्लेश होते हैं अपने को वे अपने अज्ञान से होते हैं, यह बात अपने उपयोग में निर्णय करके रक्खो। यह चिन्तन, यह भावना सदा काम देगी। आप किसी भी स्थिति में हों, जब कभी कोई व्यग्रता आये तो इस मन्त्र को सामने रख लो कि मुझे यह व्यग्रता हुई है तो उसमें मेरा अज्ञान ही अपराध है, मैं किसी दूसरी वस्तु से अपना सम्बन्ध जोड़ रहा हूँ और उसी से राग और द्वेष की स्थिति मुझमें घट रही है, इसी से व्यग्रता है।

अपने अपराध का ही क्लेशानुभव—अब इस स्वतन्त्रता के मंत्र का आधार लेकर अपने आपमें झुकें और अपनी गल्ती खोजें। प्रत्येक उपसर्ग में गल्ती अपनी है। यह भी बात एक प्रमाणभूत है। प्रत्येक क्लेश में अपराध हमारा ही है। हम दूसरों से कोई आशा रक्खें, सम्मान की, आय की, रोजगार की, अथवा अन्य विषय के साधनों की और उनकी पूर्ति न हो सके तो अकेले कल्पना बनाकर दु:खी हो जाते हैं। सब जीव

अपने-अपने स्वरूप के राजा हैं, कोई जीव किसी दूसरे के अधीन नहीं है। जो अधीन बनता है वह भी अपनी स्वतंत्रता से परतंत्र बनता है। किसी जीव का गुण, पर्याय, शक्ति दूसरे पर आ जाय ऐसा नहीं होता है। हम भी राग के वश होकर अपने आपके अधीन बन जायें। हमारी परतंत्रता हमारी स्वतंत्रता से ही होती है, जब भी जो क्लेश हों उन सब क्लेशों में अपने अपराध को ढूँढ़िये, यह मार्ग शान्ति देगा। दु:खी तो हुए हम, दूसरे के अपराध ढूँढ़े, इसने यों किया, यों कष्ट पहुँचाया। अरे ! उसने तो अपनी बुद्धि के अनुसार अपना परिणमन किया, मेरे में कुछ नहीं किया, इसी को कहते हैं अद्वैत मार्ग का अनुसरण। हम अपने आपमें अपनी ही गल्ती देखें और उस गल्ती को दूर करें और अपने इन गुणों के उपवन में विहार करें तो अशान्ति दूर होगी। इस आत्मा में देव, मनुष्य, तिर्यंच किसी भी चेतन के द्वारा उपसर्ग नहीं होता।

निर्वाण में विस्मयादिक दोषों का अभाव—इस आत्मा में मोह नहीं है। मोह तो बनाया जाता है। मोह करना मेरे आत्मा का स्वरूप नहीं है। यह जीव निर्मोह है। इस जीव में स्वभाव से कोई आश्चर्य की दशा नहीं है। कोई जीव बाह्य प्रपंचों में लगे तो उसे आश्चर्य होगा, पर जो बाह्य प्रपंचों से विमुख है उसके कोई आश्चर्य नहीं। प्रभु में निद्रा नहीं, उनका ज्ञान तो सदा जगा हुआ है। असाता वेदनीय का विनाश हो जाने से उनमें क्षुधा और तृषा का रोग नहीं है। यों इस परम ब्रह्मस्वरूप में निर्वाण बसा हुआ है। जो विशेषता भगवान की है वह विशेषता हम आपके अन्तर में स्वभाव से पड़ी हुई है। हम उस स्वभाव का उपयोग करें तो हम सबमें प्रभु की प्रभुता प्रकट हो सकती है। भगवान में रोग, जन्म, मरण, बुढ़ापा किसी भी प्रकार की वेदना नहीं है। अब उनका आवागमन भी संसार में न होगा, वह शुद्ध ज्ञान और शुद्ध आनन्द के पिण्ड हुए हैं।

गुरुचरणकमल प्रसाद—जो निर्मल चित्त वाले पुरुष हैं, जिन्हें सम्यग्ज्ञान प्रकट हुआ है वे इस देह में रहकर भी इस तत्त्व का अनुभव कर लेते हैं। यह सब गुरुवों के चरण—कमलों की सेवा का प्रसाद है। जैसे कितनी ही बातें पुस्तकों में लिखी हैं, पर मास्टर उन्हें न बताए तो उनका विशद बोध नहीं होता है। केवल पुस्तक देखने से जो बोध होता है उससे भी अधिक बोध कोई बताए और इस आधार पर कुछ समझाये तो विशेष बोध होता है। ऐसे ही हमारी आचार्य-परम्परा के जो शास्त्र हैं उनमें सब बातें लिखी हैं फिर भी उनके मर्म का अनुभव कोई गुरु समझाये तो वहाँ विशेष अनुभव जगता है। यों यह आत्मतत्त्व का अनुभव हमें गुरुवों के चरण-कमल की सेवा के प्रसाद से प्राप्त होता है। जिस ब्रह्म में, जिस आत्मतेज में जो कि अनुपम गुणों से अलंकृत है, जहाँ ज्ञान, दर्शन, आनन्द, चैतन्यप्रकाश ये समस्त चमत्कार पड़े हुए हैं, जो शुद्धरूप में विकसित हो तो समस्त विश्व को भूल जाय, ऐसा जिसका ज्ञान है, ऐसे सिद्ध भगवंतों में इन्द्रिय की विषमता रंच नहीं है, यहाँ रागद्वेष का कलंक रंच नहीं है, केवल एक निर्वाण ही है, ऐसे ब्रह्मस्वरूप में मेरी बुद्धि निरन्तर बसो।

ज्ञानमय उपयोग का निवास्य धाम—भैया ! हम अपना चित्त कहाँ स्थापित करें कि हमको परम शान्ति का अनुभव हो, उसकी बात यहाँ कही जा रही है। एक तो परमात्मा में अर्थात् शुद्ध ज्ञानानन्द के पिंड में अपना चित्त बसावो और एक अपने इस अन्त:स्वरूप में जो स्वभाव से प्रतिभासमात्र है वहाँ अपना चित्त बसावो। आत्मा और परमात्मा—इन दोनों के स्वरूप में चित्त रहेगा तो अशान्ति, उपसर्ग, संकट, विह्वलता, ये सब समाप्त होंगे।

गाथा 181

णवि कम्मं णोकम्म णवि चिंता णेव अट्टरुद्दाणि।

णवि धम्मसुक्कझाणे तत्थेव य होइ निव्वाणं।।181।।

उपाधियों का संसारी जीवों के सद्भाव व निर्वाण में अभाव—जीवों के 2 प्रकार की अवस्थाएँ होती हैं—एक संसार अवस्था और एक मुक्त अवस्था। हम आप सब जीव संसार अवस्था में हैं। संसार अवस्था उसे कहते हैं जहाँ जीव के साथ कर्म लगा हो, शरीर लगा हो, रागद्वेष, विषय-कषाय, चिन्ता और अनेक प्रकार की अन्तर में बाधाएँ चल रही हों वह संसार अवस्था है और मुक्त अवस्था उसे कहते हैं जहाँ कर्म, शरीर, संक्लेश, क्लेश, सुख-दु:ख, जीवनमरण आदिक दोष एक भी नहीं रहते हैं। संसार अवस्था निष्कृष्ट अवस्था है। इस अवस्था में हम आप कुछ सुयोगवश आज अच्छी स्थिति में आये हैं, मनुष्य हुए हैं, श्रेष्ठ मन मिला है। दूसरे के भाव को हम समझ सकते हैं, अपने भाव को हम दूसरे को बता सकते हैं। इतनी श्रेष्ठ अवस्था मिली तो है, किन्तु इसका विश्वास नहीं है कि यह अवस्था हमें आगे भी मिलेगी। देखिये, पशु-पक्षी आपस में कहीं बैठ भी जायें तो भी एक दूसरे को अपना भाव जताने में असमर्थ हैं, न वे कहीं भाषण दे सकते हैं, न आपस में बातें कर सकते हैं। इस नरदेह में अनेक कलायें विकसित हैं, किन्तु उस सुख का हम क्या हर्ष मानें जो सुख आसक्ति से भोगे जाने के कारण आगे कोई बड़े दु:ख रूप में प्रकट होगा। मोही जीवों को भविष्य के दु:खों का ध्यान नहीं है इस कारण सुख में हर्ष मानते हैं। ध्यान आ जाय कि इसका फल बहुत बुरा है तो उस सुख में आसक्ति न हो सकेगी।

मुग्ध मानव का अशुभ ध्यान और प्रयत्न—इस मनुष्यभव में कितने प्रकार के नाना मौज माने जा रहे हैं, यह मौज भी क्षोभरूप हैं, इनमें विशुद्ध आनन्द नहीं है, बाहरी तत्त्वों में इनका उपयोग फँसता है। बाहरी तत्त्वों से भीख मांगते हैं, आशा बनाते हैं, मुझे विषयों से सुख मिलेगा, मुझे लौकिक यश से आराम मिलेगा, सो जनता के भी अधीन बनना है अन्तरंग से व नाना क्लेश पाया करता है। वर्तमान में भी तो इन सांसारिक सुखों में आनन्द नहीं है। भावी काल में तो इन छोटे मौजों के मानने का फल अति भयानक होगा। न हुए मनुष्य, हो गये पशु-पक्षी अथवा कीड़े-मकौड़े तो वहाँ क्या स्थिति होगी? आज तू अपनी झूठी पोजीशन संभाल रहा है, आगा-पीछा कुछ नहीं विचारता है, दूसरे के सम्मान की भी अवहेलना कर देता है, जिस प्रकार से यश बढ़े, अथवा विषय—साधना बनें वैसा ही यत्न किया करता है।

विमोच्य विभावपरिणमन—हे आत्मन् !अब उद्दण्डता से विराम ले, देख तेरी अवस्था दो प्रकार की होती है—एक संसार अवस्था और एक मुक्त अवस्था। तू संसार अवस्था में आराम मत मान। तेरे आराम का साधन मुक्त अवस्था ही है। अपने आपमें ऐसी भावना बना कि मुझे संसार के संकटों से मुक्त होना है; शरीर और कर्मों के बन्धन से विमुक्त होना है। उस मुक्त स्थिति में क्या रहेगा? उसका इस गाथा में वर्णन चल रहा है। निर्वाण में कर्म नहीं हैं, कर्म उसे कहते हैं जो बनावट का परिणाम करे। जो स्वाभाविक चीज होती है, वह की नहीं जाती वह तो होती है। जो की जाने वाली बात है वह बनावटी होती है। कौन राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, काम विकार ये स्वभावत: किया करता है, ये आत्मा में नहीं होते हैं, होने वाली बात अच्छी है और की जाने वाली बात अच्छी नहीं होती है। किन्हीं प्रतिपक्षी तत्त्वों की प्रेरणा से करना पड़ता है। वह स्वाभाविक चीज नहीं है।

कर्म और क्लेश—जो परिणाम किया जाय उसका नाम कर्म है, आत्मा जानता है इसका नाम कर्म नहीं है क्योंकि आत्मा का जानने का स्वभाव है। आत्मा में जानन अपने आप हो रहा है। इस संसार अवस्था में कमजोर स्थिति में हम आप जान-बूझ कर प्रयत्न लगाकर, दिमाग लगाकर जो जानते हैं यह जानना तो कर्म बन गया है, पर प्रयत्न लगाये बिना, कुछ तरंग उठाये बिना अपने आपमें जो स्वयं जानन होता है वह जानन कर्म नहीं है। कर्मों की प्रकृति क्लेश पहुँचाने की होती है। हम विकल्पपूर्वक जानें उससे भी क्लेश होता है ऐसे जानने के साथ जो रागांश लगा है वह कर्म है। हम विकल्पपूर्वक जानें अनुराग करें, राग-विरोध करें उससे भी क्लेश होता है। आत्मा में क्लेश न हो उसका सुगम उपाय आत्मविश्राम है। श्रम से कष्ट होता है,

श्रम दूर करने से विश्राम मिलता है, यह मैं आत्मा कर्मों से रहित हूँ, मेरा स्वभावमात्र लोक-अलोक को जानने देखने का है। जानन-देखने के अपने बड़प्पन से कुछ और आगे बढ़े, परपदार्थों में कुछ चाह की, बस वहीं बन्धन हो गया।

ज्ञानाश्रय बिना सर्वत्र ठोकरें—यह मैं आत्मस्वरूप स्वयं अपने आप कैसा हूँ, इसका इस समय वर्णन चल रहा है। यह अपने अंतस्तत्त्व के एक मर्म का प्रतिपादन है, जब हम अपने आपमें भीतरी तत्त्व को नजर में न ले सकेंगे, ज्ञानदृष्टि में न सँभाल सकेंगे तब तक फुटबाल की तरह यहाँ से वहाँ ठोकर खा-खाकर भटकना ही पड़ेगा। हम जिन बाह्य पदार्थों को अपने समीप लेना चाहते हैं, जिन जीवों की हम शरण पहुँचना चाहते हैं सुख की आशा से, उन सब जीवों से उन सब पदार्थों से हमें ठोकर ही मिलती है, शान्ति नहीं मिलती। कोई ठोकर सुहावनी लग रही है, कोई असुहावनी लग रही है, किन्तु बाह्य पदार्थों के संग-प्रसंग से इस आत्मा को ठोकर ही मिलती है। शान्ति तो इस आत्मा में अपने आप मौजूद है, उल्टा जो कदम बढ़ाया है उसे बंद कर दें तो शान्ति, आनन्द अभी भी स्वयं अपने आप है।

न कुछ-सी बात पर विसंवाद का तूमाल—मैं आत्मा तो केवल ज्ञानप्रकाश मात्र हूँ, पर मान रक्खा है देह को लक्ष्य में लेकर कि 'यह मैं हूँ।' बस इसी बड़ी भूल के मूल पर यह विशाल संसारवृक्ष खड़ा हो गया है, जैसे कभी-कभी न कुछ-सी बात पर यहाँ भी झगड़ा बढ़-बढ़कर बहुत बड़ा हो जाता है, यहाँ तक कि किन्हीं दो भाईयों में यदि झगड़ा बढ़ जाय तो दोनों अपनी लाखों की जायदाद बरबाद कर डालें। उनसे पूछा जाय बाद में कि क्यों भाई ! इतना झगड़ा क्यों बढ़ गया? तो वे बतावेंगे। अच्छा इसका कारण क्या हुआ, ऐसा पूछते जावो तो अन्त में उसका कारण ऐसा तुच्छ मिलेगा कि जिसको सुनकर आपको हँसी आयेगी। तुच्छ कारण से प्रारम्भ होकर यह झगड़ा खड़ा होता है और बढ़—बढ़कर बहुत बड़ी विपदावों का रूप रख लेता है। जैसे मान लो दो भाईयों के बँटवारे पर दो चार इंच भूमि पर विवाद हो गया, बड़ी-बड़ी चीजों का झगड़ा तो निपट गया पर तीन चार इंच भूमि पर मैं-मैं तू-तू हो गया, विवाद बढ़ गया, मारपीट हो गयी, मुकद्दमा चल गया। बढ़ते-बढ़ते दोनों ने अपनी लाखों की जायदाद को बरबाद कर डाला। इतनी बड़ी विपदा का सबसे मूल में कारण कितना था? बहुत छोटा, जिसको सुनकर हँसी आ सकती है।

काल्पनिक मूल त्रुटि पर संसरणजाल का प्रसार—हम आप सबका कितना बड़ा झगड़ा बढ़ गया है? कहाँ तो यह सारे लोक को जानने की शक्ति रखने वाला, अनन्त आनन्द में मग्न रह सकने वाला आत्मा भगवान है और कहाँ आज यह स्थिति है कि नाना शरीरों में, देहों में जन्म और मरण करना पड़ता है और उस जीवन में अनगिनते दु:खों को भोगना पड़ता है। इतनी दयनीय अवस्था हम आप आत्मावों की क्यों हो गयी, इसका कारण क्या है? कारण बताने चलें। हम लोग कषाय करते हैं इस कारण इतना झगड़ा खड़ा हो गया है। कषाय क्यों करते हो? हम लोगों की जो इच्छा है उसकी पूर्ति नहीं हो पाती है इसलिए कषाय करते हैं। भाई इच्छा क्यों करते हो? अजी इच्छा किए बिना विषयों के साधन भी तो नहीं जुटाये जा सकते। इच्छा करनी पड़ती है, विषयों के साधन जुटाने पड़ते हैं। यह भी क्यों? इस देह को पोषने के लिए और दुनिया में इस देह की इज्जत रखने के लिए, लोग कह दें कि यह भी कोई व्यक्ति है। इतने दो शब्द सुनने के लिये इतनी बड़ी आकुलतावों में पड़ना पड़ता है। यह भी क्यों? 'यह देह मैं हूँ' ऐसी बुद्धि हुई है। तो मूल में भूल इतनी है कि हम अपने विशुद्ध स्वरूप को नहीं मान सके कि यह मैं हूँ और इन तत्त्वों से जो भिन्न है, जो उसके लिए कलंकरूप है, मान लिया कि यह मैं हूँ, इस देह में 'मैं हूँ' ऐसी श्रद्धा हुई कि एक इस मामूली भूल के ऊपर इतने सारे संकटों की विपदा खड़ी हो गयी है। जन्म-मरण बढ़ते चले जा रहे हैं।

शान्ति के अर्थ यथार्थ श्रद्धा की अनिवार्यता—बतावो भैया ! जगत् के नाना जीवों में से दो चार जीवों को मान लिया कि ये मेरे हैं—मेरी स्त्री है, मेरा पुत्र है, यह भी कैसा पागलपन है? अरे ! जैसे जगत के सब जीव हैं

ऐसे ही यह भी हैं। हालांकि इस स्थिति में व्यवस्था करना है, मानना भी पड़ता है पर भीतर श्रद्धा में तो यह बात नहीं रहनी चाहिए कि मेरे तो सब कुछ ये ही हैं। भीतरी श्रद्धा इतनी स्पष्ट होनी चाहिए, जो श्रद्धा साधुवों में स्पष्ट रहती है, योगीश्वरों के स्पष्ट रहती है उतनी विशुद्ध श्रद्धा गृहस्थावस्था में भी होनी चाहिए। करने की बात अलग है। कौन किस अवस्था में कहाँ तक साधना कर सकता है? यह उसकी स्थिति की बात है, किन्तु श्रद्धा उतनी ही निर्मल होनी चाहिए जितनी निर्मल योगीश्वरों के होती है। ज्ञानमात्र हम हैं; बड़े-बड़े योगीश्वर भी ज्ञानमात्र हैं। ज्ञान का काम जानने का है। जो बात यथार्थ है उसको हम जानना चाहें तो कौन रोक सकता है।

आत्मतत्त्व की कर्म नोकर्म से विविक्तता—भैया ! अपने आत्मस्वरूप का परिज्ञान हुए बिना संसार के संकटों से हम मुक्त नहीं हो सकते। भला क्या कष्ट है सही बात को जानने में? कोई शरीर में वेदना होती है कि रोग बढ़ता है? कुछ भी तो कष्ट नहीं है। अरे ! अपनी विचारधारा तो वस्तु के सही स्वरूप में लगाने की होनी चाहिए। यदि हो सके तो यह सच्चा बड़प्पन कर लें। इस आत्मतत्त्व के कर्म नहीं हैं व इन कर्मों का कारणभूत पौद्गलिक कर्म भी नहीं है। यह मैं आत्मा त्रिकाल निरुपाधिस्वरूप हूँ। प्रत्येक पदार्थ स्वयं के रूप हैं, वे खुद जैसे हैं तैसे ही हैं। प्रत्येक पदार्थ प्यौर, केवल, खालिस रहते हैं। प्यौर का अर्थ भावरूप से पवित्र मान रक्खा है, इस प्यौर का सीधा अर्थ पवित्र नहीं है। खालिस, केवल, वही का वही अर्थ है। चौकी पर किसी पक्षी का वीट पड़ा हो तो आप किसी को आज्ञा देते हैं कि चौकी को पवित्र कर दो, शुद्ध कर दो। शुद्ध करने वाला क्या करेगा? यह करेगा कि चौकी के अलावा जो गैर तत्त्व इस पर लिपटा है उसको अलग कर देगा, धो-धा देगा। लो चौकी शुद्ध हो गयी। इस शुद्ध का अर्थ क्या है? चौकी में चौकी ही रही। चौकी के अलावा किसी चीज का सम्बन्ध नहीं रहा, इस ही के मायने शुद्ध करना है। आत्मा को शुद्ध कर लो, इस शुद्ध करने का अर्थ क्या है, आत्मा में आत्मा ही रहो। आत्मा की बात आत्मा में ही रहे। जो गैर बात लग गयी है उसे दूर कर दिया जाय, इसी के मायने आत्मा का शुद्ध करना है।

आत्मनिजभाव व आत्मपरभाव—आत्मा में गैर चीज क्या लगी है? यह समझने के लिए आत्मा में आत्मा की चीज क्या हुआ करती है, यह जानना होगा। आत्मा में जो अपनी बात है वह निरन्तर रहेगी और एकस्वरूप रहेगी। जो गैर वाली बात है वह नाना रहेगी और कभी रहे कभी न रहे। बस इस ही स्वरूप के आधार पर निर्णय कर लीजिए। आत्मा का स्वरूप क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारोंरूप रहना है क्या? इसमें घटाव—बढ़ाव होता है, ये क्या सदा रहते हैं? अभी क्रोध हुआ, थोड़ी देर में मान हुआ, माया हुई, लोभ हुआ। ये बदलते रहते हैं, सदा नहीं रहते। ये मेरे स्वरूप नहीं हैं, किन्तु ज्ञानस्वभाव एक शुद्ध ज्ञानप्रकाश ये आत्मा में सदा रहते हैं। कोई भी स्थिति हो, आत्मा ज्ञान से शून्य नहीं रहता है, इस कारण ज्ञान तो हमारा धर्म है, किन्तु क्रोधादिक भाव अधर्म हैं। हम अधर्म को प्रोत्साहन न दें, अधर्म से दूर होने की भावना रक्खें, धर्म के अभिमुख हों, धर्म को समझें तो इस ही से हमारा विकास होगा। इसमें ही बड़प्पन होगा।

आत्मतत्त्व में असहज भावों का अभाव—मुझ आत्मा में कोई उपाधि ही नहीं लगी है, इसलिए शरीर भी मुझमें नहीं है, प्रभु तो व्यक्त ही शरीररहित हैं, कर्मरहित हैं, वे सर्वज्ञ हैं, मन की प्रवृत्ति उनमें नहीं है इस कारण वहाँ चिन्ता नहीं है। यहाँ भी मेरे स्वरूप में चिन्ता, शोक का काम नहीं है, ये सब बनाये जाते हैं, मुझमें होते नहीं हैं। कल्पनाएँ करते हैं और बनाते रहते हैं। इसमें औदयिक आदि कोई विभाव नहीं, आर्तध्यान, रौद्रध्यान इस आत्मा में नहीं हैं, धर्मध्यान व शुक्लध्यान भी इसके सहज भाव नहीं हैं। दु:खमयी ध्यान को आर्तध्यान कहते हैं। झूठे मौज के ध्यान को रौद्रध्यान कहते हैं। इष्ट का वियोग होने पर, अनिष्ट का संयोग होने पर, शारीरिक वेदना आने पर, तृष्णा और इच्छा के बढ़ाने पर रौद्रध्यान होता है। ये सब इस मुझ आत्मा में स्वभावरूप नहीं हैं, ये बनावटी हैं। मुग्ध प्राणी हिंसा करते हुए मौज मान रहे हैं। झूठी गवाही

देने में मौज मान रहे हैं, किसी की चीज चोरी करने में, अथवा जबरदस्ती छीन लेने में मौज मान रहे हैं, विषयों के साधनों में, परिग्रहों के संचय में खुशी मान रहे हैं। ये सब रौद्रध्यान हैं, ये सब खोटे ध्यान हैं। इन ध्यानों को यह जीव मोह की प्रेरणा बनाकर किया करता है। मुझ आत्मा का स्वरूप इन खोटे ध्यानों का नहीं है।

अपने परमार्थ कुल की उज्ज्वलता का यत्न—भैया ! अपने कुल की बात को पहिचानो। हमारा कुल है चैतन्यस्वरूप, जिस कुल में बड़े-बड़े तीर्थंकर, पुराण-पुरुष हो गए हैं उस कुल में हम आप अच्छी स्थिति में आये हैं। अपने पुराण-पुरुषों के कुल में विकार में ही जीवन बिताने की परम्परा नहीं रही है। और की बात तो जाने दो, जिन्हें लोग बड़ी अच्छी वृत्ति बताते हैं दया, परोपकार, धर्मध्यान, पूजन, वंदन ये सब भी मेरे आत्मा में स्वभावत: नहीं हैं। कोई बनावट सुहावनी होती है, कोई बनावट असुहावनी होती है। जहाँ एक भी दोष नहीं रहा उसे निर्वाण कहते हैं। निर्वाण में ही महान् आनन्द है। संसार अवस्था में आनन्द नहीं है, इस कारण केवल विषय-भोगों के लिए ही अपना जीवन न समझें किन्तु धर्मध्यान करके उस ज्ञान की उपासना करके सदा के लिए इन झंझटों से मुक्ति पाने का उद्यम बनाएँ।

निर्वाण की निर्दोषता—जो पुरुष निर्वाण में स्थित है, जिसने पापांधकार का विनाश किया है, जो विशुद्ध है, उस परमब्रह्म में एक भी अवगुण नहीं है। भगवान ज्ञानपुञ्ज का नाम है। हाथ, पैर, मुँह, शकल का नाम भगवान नहीं है। भले ही चूँकि मनुष्य ही भगवान बनते हैं या मनुष्य-देह से भगवत्ता प्राप्त होती है लेकिन वह देह ही स्वयं भगवान नहीं है। उस देह में स्थित पवित्र आत्मा कर्मों का विनाश करके प्रभुता पा गया है, पर प्रभु तो विशुद्ध ज्ञान और आनन्द का नाम है, जहाँ रंच भी आकुलता नहीं, जहाँ समस्त विश्व जाननहार ज्ञानप्रकाश होता है ऐसा जो ज्ञानप्रकाश है उसे प्रभु कहते हैं।

प्रभुदर्शन का उद्यम—निर्दोष, गुणपुञ्ज प्रभु की पूजा आराधना करना है तो हम भी अपना उपयोग ज्ञानप्रकाशरूप बनाएँ तो हम उनके दर्शन कर सकते हैं। हम मोह-ममतारूप तो अपना चित्त बनाएँ और प्रभु के दर्शन की आशा रक्खें, यह तो बालू में तेल निकालने की तरह है। हम प्रभु के दर्शन करना चाहते हैं तो जैसे प्रभु ज्ञानानन्दस्वरूप हैं, हम भी अपनी शक्ति-माफिक व अपनी पदवी-माफिक विकल्पों को दूर करके किसी क्षण आत्मविश्राम लें, मैं ज्ञानमात्र हूँ, आनन्दमय हूँ ऐसी बारबार भावना बनाएँ, इस ही ओर अपना झुकाव बनाएँ तो इस अन्तरंग वृत्ति में जो निर्विकल्प स्थिति होगी, उस स्थिति में इस ज्ञानपुञ्ज प्रभु भगवान का दर्शन होगा।

प्रभुनैकट्य में संकटों का विघटन—हम मोहियों के निकट बसकर कुछ हस्तगत नहीं कर पायेंगे और इस प्रभुता के निकट रहें तो अनुभव करके देख लो कि बहुत से संकट आपके तुरन्त समाप्त हो जायेंगे। जिस प्रभु की चर्चा में ही इतना आनन्द बसा है फिर उस प्रभु के ध्यान में जो अनुभव हो जाय उसके आनन्द का क्या कहना है? हमारा कर्तव्य है कि इस संसार अवस्था में संतोष न मानें? कितना ही सुख का समागम मिला हो, आत्मीय आनन्द जो ज्ञान के अनुभव में प्रकट होता है, उस आनन्द के पाने का पुरुषार्थ करो।

गाथा 182

विज्जदि केवलणाणं केवलसोक्खं च केवलं विरयिं।

केवलदिट्ठि अमुतं अत्थितं सप्पदेसत्तं।।182।।

सिद्ध के स्वाभाविक गुण—निर्वाण प्राप्त प्रभु के केवलज्ञान है, केवल सुख है, केवल वीर्य और केवल दर्शन हैं। प्रभु में ये सब गुण उत्कृष्ट विकसित हुए हैं और अमूर्तत्व, केवल अस्तित्व, सप्रदेशत्व आदि भी स्पष्ट शुद्ध विकासमान् हो चुके हैं। भगवान सिद्ध के स्वभावगुणों का स्वरूप इसमें बताया है।

अनन्त ज्ञान—भगवान के अनन्त ज्ञान है अर्थात् वह ज्ञान के द्वारा समस्त लोकालोक को जानते हैं और तीन काल के समस्त परिणमनों को भी एक साथ जानते हैं, जबकि हम लोगों का ज्ञान केवल एक सामने की वस्तु, नियत बुद्धि और कुछ नियत काल तक का ही ज्ञान होता है। ज्ञान कला तो है। जब सत्पथ मिल जाय और उस ज्ञान के विकास का योग मिल जाय तो यही ज्ञान प्रभुवत् पूर्ण केवलज्ञान हो सकता है। जैसे कोई घोड़ा कुपथ पर चलता हो, जिसे लोग ऊधमी कहते हैं, अड़बंगा चलता है, सीधे रास्ते पर नहीं चलता है पर चलने की उसमें कला तो है, चल तो सकता है। जिसमें चलने की कला है उसकी उस कुपथ की चाल को बदलकर सुपथ की चाल लाई जा सकती है किन्तु जो काठ के घोड़े है, जिससे बच्चे खेलते हैं या एक लाठी ले ली टांगों के बीच कह दिया कि यह घोड़ा है, उस घोड़ा में तो चाल ही नहीं है, उसे न सुपथ पर चलाया जा सकता है और न कुपथ पर। जिस घोड़े में चाल है वह आज कुपथ पर है तो कभी सुपथ पर हो जायेगा, ऐसे ही हम आपके आत्मा में चाल तो वही है। जानते तो हैं पर कम जानते हैं, पराधीन होकर जानते हैं, इन्द्रियों के द्वारा जानते हैं, कभी हम इन्द्रियों के बिना भी केवल आत्मीय शक्ति से अपने को पहिचान जायेंगे तो आत्मस्थिरता द्वारा अनन्त ज्ञानी होवेंगे।

आत्माश्रित परमध्यान के प्रसाद से अनन्त विकास—जब यह निकटभव्य जीव निज को निज पर को पर जानने के बल से परपदार्थों से उपेक्षा करके समस्त प्रयत्नों के साथ अपने अंतस्तत्त्व की ओर झुकता है तब वहाँ आत्मा के ही आश्रय से निश्चय धर्मध्यान प्रकट होता है। शुक्लध्यान का अर्थ है सफेदध्यान। अर्थात् जहाँ कोई दोष नहीं, कोई धब्बा नहीं, साफ-स्वच्छ केवल आत्माश्रित ध्यान है। ध्यान के होने पर ज्ञानावरणादिक 8 कर्मों का विलय हो जाता है। तब भगवान सिद्ध परमेष्ठी के केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलवीर्य, केवल आनन्द, पूर्ण अमूर्तपना अर्थात् पहिले संसारावस्था में शरीर के सम्बन्ध से औपचारिक मूर्तता थी वह भी अब नहीं रही, अब तो वे सिद्ध हो गये, समस्त स्वाभाविक गुण सिद्ध प्रभु के प्रकट हो चुके हैं।

शुद्ध उपयोग का प्रताप—भैया ! किससे रागद्वेष करते हो, ये रागद्वेष खुद असहाय हैं, बहुत देर तक टिकने वाले नहीं हैं, जिस काल रागरूप परिणाम हुआ, हो गया, बाद में निकल गया। अब मलिन परिणाम है, लो मिट गया कि दुबारा राग परिणाम बना, पर सिद्ध प्रभु के तो स्थिर भाव है। वह शुद्ध ज्ञान जो सदा एक समान ही प्रकट रहेगा। बंध के छेद होने पर भगवान के यह केवलज्ञान अत्यन्त विकास के साथ प्रकट हुआ है, यह सब शुद्धोपयोग का माहात्म्य है। रागद्वेष करने का यह माहात्म्य जो संसार में दिख रहा है—दु:ख, क्लेश, संक्लेश, विडम्बना, विपदा। अपना उपयोग शुद्ध करने से, रागद्वेष से रहित केवलज्ञान प्रकाशमात्र अपने आपको अनुभव में लेने से प्रकट होती है यह सिद्ध पर्याय। इस शुद्धोपयोग अधिकार में शुद्धोपयोग का स्वरूप और शुद्धोपयोग का फल इन दोनों का वर्णन चल रहा है।

संसारसमागम की अरम्यता—हम आप संसार अवस्था में हैं, निष्कृष्ट दशा में हैं। इस निष्कृष्ट दशा में जब तक घृणा नहीं होती है अर्थात् यह हेय है जब तक यह बुद्धि न जगे तब तक मुक्त दशा की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। जो पुरुष अपनी इन अहित दशावों में ही मस्त हैं वे उससे ऊपर कैसे उठ सकेंगे? हमें यह चाहिए कि हम जिन परिणामों में रहा करते हैं उन परिणामों में मग्न न हों। यह सब धोखा है, इससे भविष्यकाल में क्लेशजाल सहने की परम्परा रहेगी। हम अपनी इस स्थिति में संतोष न मानें और जो अन्त:स्वरूप है उसके दर्शन के लिए प्रयत्नशील रहें। मोह तो रंच आना ही नहीं चाहिए गृहस्थ को भी। साधुजनों की निर्मोहता की

बात तो सही है ही, मगर जो सद्गृहस्थ हैं उनके भी परिजन में मोह नहीं होता है। व्यवस्थाएँ करनी पड़ती हैं, पर मोह उनमें नहीं होता।

राग और मोह का विवेचन—भैया ! राग में और मोह में तो महान् अन्तर है। मोह में जहाँ यह विश्वास रहता है कि मेरी जिन्दगी इनके सहारे है, मेरा अस्तित्व इनके सहारे है, मेरा सुख, मेरा ज्ञान, मेरा बड़प्पन सब इन लोगों के कारण है, हम परिवार से भरे-पूरे हैं तो हम बड़े कहलाते हैं। इनसे ही हमारा सुखमय जीवन है। मोह में ऐसा विश्वास बनता है और इस मुग्ध विश्वास के कारण यह पुरुष पद-पद पर दु:खी होता है, क्योंकि उसने अपने को पर का अधिकारी माना। जब उसने यह देखा कि मेरे अनुकूल नहीं चलता तो कर्तृत्व बुद्धि बनाने के कारण उसे खेद होता है। अज्ञानी पुरुष तो अपनी इच्छा के प्रतिकूल परिणमन देखकर दु:खी होता है और अपनी इच्छा के अनुकूल परिणमन देखे तो वहाँ क्षोभ करता है।

अन्त:पुरुषार्थ बिना प्रभुदर्शन की अशक्यता—पूर्ण आनन्द का धाम तो भगवान है। यदि भगवान आनन्द के धाम हैं ऐसा ख्याल नहीं रखते, ये शुद्ध ज्ञान के विकास हैं, ऐसा ध्यान नहीं करते तो हमें फिर यह बतलावो कि भगवान को पूजा कहाँ? जैसे गृहस्थी में कोई बड़ा ऊँचा धनी हो या इतिहास में प्रसिद्ध कोई बड़ा कर्मठ नेता हो उनको जैसे लोग आज प्रभु के रूप में मानने लगे हैं ऐसा ही कोई प्रभु होगा जिसका कि आप ध्यान करते होंगे। प्रभु ज्ञान और आनन्द का शुद्ध विकास है। उसकी उपासना हम सब ही कर सकते हैं जब हमारा लक्ष्य भी शुद्ध ज्ञान और आनन्द के विकास करने का बन जाय। जब तक हमें शुद्ध ज्ञान और आनन्द के विकास का प्रयोजन नहीं जगता तब तक हम प्रभु की पूजा के वास्तविक पात्र नहीं है। जब तक चित्त में कुटुम्ब-पोषण, धनवृद्धि, इज्जत का लाभ, लोगों में सम्मान, इन मौजों का ही प्रयोजन रहता है तब तक न प्रभु को हम पहिचान पाये हैं और न प्रभु की पूजा करने के पात्र हैं। जब तक संसार, शरीर और भोगों से विरक्ति नहीं जगती है तब तक हम धर्म के कहाँ पात्र हैं।

आनन्द की साधना—अच्छा अब चलो अपने मन की बात सुनो, देखो धर्म सुख के लिए होता है, शान्ति के लिए होता है। यदि विषय-समागम, वैभव-समागम ये सुख के लिए हों तो यही धर्म है, निर्णय कर लो। यदि विषयसाधनों का समागम शान्ति करने वाला है तो शास्त्रों के पन्ने खूब रंग डालो कि विषय-साधन ही धर्म हैं, कोई हर्ज नहीं। किन्तु निर्णय तो करो कि विषय-साधन शान्ति के लिए हो भी पाते हैं क्या? प्रथम तो जिस काल में विषय-साधन किए जा रहे हों उस काल में ही महान् क्षोभ है, आकुलता है और थोड़ी ही देर बाद तो वह एक बड़ा दु:ख का रूप रख लेता है और फिर भावी काल में कर्म-बंध होने से विशेष ही वह दुर्गति में और संक्लेश में पड़ेगा। ये विषय-समागम, वैभव के समागम यह सब अधर्म हैं, ये सब अपने आपको बरबाद करने के साधन हैं। गृहस्थ तो इतने साहसी होते हैं कि वे अपने प्रोग्राम प्रत्येक परिस्थिति में ठीक बना लेते हैं, वे परिस्थिति के दास नहीं हैं, किन्तु समस्त परिस्थिति में अपनी सुविधा बना लेते हैं। कोई पुरुष तो अपनी जरूरतें बहुत बड़ी बनाकर उसकी पूर्ति के लिए चिन्ता करते हैं, किन्तु ज्ञानी गृहस्थ जो भी साधन मिले हैं उनके ही अन्दर व्यवस्था बनाकर अपनी जीवन चलाते हैं और धर्म में अपने जीवन को लगाते हैं।

यथार्थ ज्ञान व निष्परिग्रहता का महत्त्व—प्रभु भगवान तो अकिञ्चन हैं, उनके पास कुछ भी नहीं है, अरे ! तुम यदि परिग्रह के कारण अपने को बड़ा मानते हो तो इसका अर्थ है कि तुम भगवान से भी बड़ा बनना चाहते हो, भगवान के तो कुछ भी परिग्रह नहीं है, केवल आत्मा ही आत्मा रह गया। शरीर भी नहीं, धन वैभव भी नहीं, कुछ भी अन्य वस्तु समीप में नहीं है, तुम उनसे भी बड़े बनना चाहते हो। और भी देखो—भगवान जानते हैं पर भगवान वही जानते हैं जो चीज है, जो चीज थी, जो चीज होगी, पर ये मोहीजन जो चीज नहीं है, जो बात न होगी उसकी भी कल्पना करते हैं। तो यह क्या है? जैसे कहते हैं कि बड़े के मुँह लगना। यह तो इससे भी और आगे बढ़ गया, बड़े से होड़ करता, प्रभु सत् पदार्थ को ही जानते हैं, यह मोही असत्

को भी जानकर सम्भव करना चाहता है। मकान मेरा नहीं है, पर हम जानते हैं कि यह मकान मेरा है, प्रभु भी नहीं जानते कि यह मकान इस चंद का है, लेकिन अमुक ऐसा ही सोचते है कि यह मकान मेरा है। प्रभु तो आनन्द में मग्न हैं, वे नहीं जानते कि यह मकान अमुक का है। प्रभु तो जो है सो ही जानते हैं, तो अज्ञानी पुरुष कल्पनावों में प्रभु से भी आगे बढ़ना चाहते हैं और इस होड़ का ही यह फल है कि संसार में रुल रहे हैं। बड़े से होड़ करना कोई भली बात नहीं है। प्रभु विशुद्ध ज्ञान, दर्शन, वीर्य और आनन्द के धाम हैं, उनका स्तवन उनका स्मरण करने से अपने आपमें शुद्धविकास प्रकट होता है।

गाथा 183

णिव्वा णमेव सिद्धा सिद्धा णिव्वाणमिति समुद्दिट्ठा।

कम्मविमुक्को अप्पा गच्छह लोयग्गपज्जयंतं।।183।।

निर्वाण और सिद्ध का अभेदाख्यान—निर्वाण और निर्वाण को प्राप्त हुए जीव इन दोनों में अन्तर मत देखो। उन जीवों को छोड़कर निर्वाण किसी अन्य वस्तु का नाम है क्या? जो निर्वाण है सो भगवान है भगवान है सो निर्वाण। जैसे यहाँ भी साहित्यकार किसी पुरुष का नाम न लेकर पुरुष के भाव का नाम लेकर वर्णन करते हैं। जैसे कुछ उनके साथ ऐसे खोटे तत्त्व लग गये कि ये हमको बरबाद करने पर तुले हैं ऐसा बोलते हैं लोग। उस तत्त्व के मायने क्या? खोटे आदमी। आदमी का नाम लेने की जगह लोग तत्त्व का नाम लेकर बोलते हैं अथवा किसी साधु के बारे में कहते हैं—साधु का नाम न लेकर उसका व्यक्तित्व कहते हैं। यह बड़ा व्यक्ति है। व्यक्ति भी नहीं बोलते, यह अपूर्व व्यक्तित्व है जिससे हम लोग शान्ति प्राप्त करते हैं। लोग साधु का नाम नहीं लेते, भाव का नाम लेते हैं। ये अहिंसा की मूर्ति हैं, ये साक्षात् सत्य हैं, ये साक्षात् सदाचार हैं, इस प्रकार भाव का भी नाम लेकर लोग पुरुष की बात किया करते हैं, तो यहाँ भगवान का नाम न लेकर, जीव का नाम न लेकर केवल निर्वाण, निर्वाण ही कहा जाय तो उसमें भी प्रभु परमात्मा ही आते हैं, निर्वाण की पूजा करो, ऐसा कहा जाय तो किसकी पूजा करोगे? निर्वाण और निर्वाण को प्राप्त हुए भगवान इन दोनों में भेद मत देखो, निर्वाण ही सिद्ध है और सिद्ध ही निर्वाण है।

निर्वाणधाम—निर्वाण कहाँ है, मोक्ष कहाँ है? व्यवहारदृष्टि वाले कहेंगे कि मोक्ष लोक के शिखर पर है, भगवान मोक्ष में रहते हैं। जैसे कि हम आप घर में रहते हैं बोलते हैं ना? आप कहाँ रहते हैं? घर में, दुकान में। भगवान कहाँ रहते हैं? मोक्ष में, तो इसमें कौनसी खूबी निकली? वे तनिक और अच्छी दुकान में पहुंच गए होंगे। मोक्ष नाम स्थान का नहीं है, मोक्ष नाम है शुद्धस्वरूप का। भगवान कहाँ रहते हैं? शुद्धस्वरूप में रहते हैं, इस उत्तर में कुछ अध्यात्म की उपासना जगी है। वहाँ केवल बातचीत हुई है भगवान मोक्ष में रहते हैं, प्रभु शुद्धस्वरूप में रहते हैं, अब उसका व्यवहारदृष्टि से विवरण किया जाय तो यह अर्थ आता है कि उनका निवास लोक के अग्रभाग पर है। परमार्थत: जानना चाहो तो उत्तर मिलेगा नहीं, वह तो बाह्य स्थान है, प्रभु तो सदा अपने शुद्ध स्वरूप में ही रहते हैं। यहाँ कोई आपसे पूछे कि आप कहाँ रहते हैं? तो आप बतायें कि हम घर में रहते हैं, यह व्यवहारिक उत्तर है। हम विषयों में रहते हैं, यह वास्तविक उत्तर है। आप कषाय में रहते हैं, हम कषाय में रहते हैं, कोई शुद्ध भावों की बात बने तो कह सकते हैं कि इस समय हम प्रभु भक्ति में रह रहे हैं। आत्मा है भावात्मक। इस भावात्मक आत्मतत्त्व का निवास भी भावात्मक है, इस भावात्मक

आत्मतत्त्व का स्थान भी भावात्मक है, इसका घर भी भावात्मक है, इसका प्रयत्न, इसका परिश्रम, व्यायाम सब कुछ भावात्मक है।

व्यक्ति में व्यक्तित्व का वाग्व्यवहार—परमार्थत: भगवान सिद्ध स्वरूप में ही रहते हैं। वे सिद्ध क्षेत्र में ठहरते हैं, यह व्यवहारकथन है। निर्वाण ही सिद्ध है, सिद्ध ही निर्वाण है। किसी नेता की प्रशंसा नाम लेकर भी की जा सकती है। महात्मा गांधी ने यों किया, और यों भी कह देते हैं कि गाँधी के व्यक्तित्व ने यह किया। दोनों में अन्तर क्या है? व्यक्तित्व ने किया इससे बात और स्पष्ट हो जाती है, गांधी तो एक आदमी है हम जैसे, इनके हाथ पैरों ने क्या किया, व्यक्तित्व ने किया। वह व्यक्तित्व और वह गाँधी जिसके बारे में बात कही जाय कोई जुदी चीज है क्या? किसी पदार्थ का भावरूप से वर्णन करना यह तो उसके मर्म का और विशद व्याख्यान है। निर्वाण ही सिद्ध है, सिद्ध ही निर्वाण है—इन दोनों शब्दों का एकत्व है।

परमभाव की भावना का प्रसाद—कोई भी आसन्न भव्यजीव परमगुरु के चरण—कमल का प्रसाद पाये उससे परमभाव की भावना बनती है। मैं ज्ञानमात्र हूँ, इस प्रकार अपने आपके ज्ञानस्वरूप का पोषण करें तो समस्त कर्मकलंक-बँध से मुक्त होकर यह जीव उत्कृष्ट आत्मा होता हुआ लोक के अग्र भाग तक जाता है। जैसे तूम्बी में कीचड़ भरी हो भीतर और उसे पानी में डाल दें तो वह तूम्बी दबी रहती है और जब उसका कीचड़ बिखर जाता है तो वह तूम्बी पानी में ऊपर उठकर उतराने लगती है। ऐसे ही संसारी जीव कर्म-कीचड़ से पगे हुए हैं इसलिए वे इस संसारसागर में डूबे हैं, यहाँ वहाँ भटकते है। जब हम आपका कीचड़ बिखर जाय, केवल शुद्ध ज्ञानमात्र रह जाय, द्रव्यकर्म, शरीर व विभाव सब दूर हो जायें, प्यौर पवित्र एकाकी बन जाय तो हम स्वभावत: ऊपर ही आ जायेंगे। कहाँ तक ऊपर जायेंगे जहाँ तक जीव का निवास है। प्रभु में और गुण-विकास में हम अन्तर नहीं मानते। उस मुक्त में और परमात्मा में हम अन्तर नहीं मानते हैं, जो निर्वाण है उसी का नाम सिद्ध है, जो सिद्ध है उसी का नाम निर्वाण है। यदि कोई भव्य जीव समस्त कर्मों को निर्मूल कर देता है, अपनी उपाधियों से अपने को दूर कर लेता है तो वह भी मुक्तिमय हो जाता है, निर्वाण स्वरूप हो जाता है।

भावना पर भविष्य—भैया ! अपने को जैसा बनाना है वैसा स्वभाव अभी से न मानें तो वैसे बन कैसे सकते हैं? हमें बनना है सिद्ध, ज्ञानमात्र। यही तो सिद्ध का स्वरूप है। जब हम अभी से अपने आपको शुद्ध ज्ञानमात्र निरखा करें तो हम शुद्ध ज्ञानमात्र बन सकते हैं। जिस तत्त्व की हम भावना ही न बनाएँ उसकी सिद्धि हमें कैसे हो सकती है? हमारा यह कर्तव्य है कि हम अपने आप में सामर्थ्य बनाएँ कि जब चाहे तब हम अपने को सबसे न्यारा केवल ज्ञानमात्र प्रतीति में ले सकें। यदि यह कला प्रकट हो गयी तो जब हम व्यवहार दृष्टि से कभी किसी विपत्ति में फँस गये हों तब हम तुरन्त विविक्त,

निजस्वरूपमात्र अपने आप पर दृष्टि डालें तो उसी समय संकटो से निवृत्ति हो सकती है। लोग वैभव इसलिए जोड़ते हैं कि वक्त-मौके पर काम आये, अरे ! वक्त-मौके पर वैभव काम न देगा, ज्ञानबल काम आयेगा। इसलिए प्रत्येक सम्भव उपायों से अपना ज्ञानबल बढ़ावें तो विकट परिस्थिति में, कष्ट के अवसर में यह ज्ञानबल सहायक होगा और अपने को संकटो से दूर कर देना।

गाथा 184

जीवाण पुग्गलाणं गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी।

धम्मत्थि कायभावे तत्तो परदो ण गच्छंति।।184।।

सिद्धक्षेत्र से ऊपर जीव व पुद्गलों के गमन के अभाव का वर्णन—जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों का गमन लोक में ऊपर सर्वत्र वहाँ तक है जहाँ तक धर्मास्तिकाय का द्रव्य है। सिद्ध भगवान लोक के अग्रभाग से ऊपर क्यों नहीं हैं, इसका उत्तर इस गाथा में किया गया है। धर्मास्तिकाय का अभाव होने पर उससे ऊपर सिद्ध भगवान नहीं जाते हैं। लोक उसे कहते हैं जहाँ तक छहों द्रव्य देखे जायें। लोक से बाहर केवल आकाश ही आकाश है, अन्य कोई पदार्थ नहीं है। वैसे भी विचारो कि ये स्कंध कहीं न कहीं तो अपनी सीमा रखते होंगे। यह समस्त महास्कंध अर्थात् स्कंधों का समूह भी किसी हद तक है, उससे बाहर के केवल आकाश ही आकाश है। न स्कंध है, न जीव है, न धर्म अधर्मकाल है। जीव के गमन में सहकारी धर्मद्रव्य है, वह धर्मद्रव्य जहाँ तक है वहाँ तक ही सिद्धभगवान की गति है।

जीव की स्वभावगति व विभावगति—जीव में स्वाभाविक क्रिया तो सिद्धगति है और वैभाविकी गतिरूप क्रिया 6 उपक्रम वाली क्रिया है। संसार अवस्था में यह जीव एक देह त्यागकर जब दूसरे देह को ग्रहण करने जाता है तो उसकी गति पूर्व से पश्चिम, पश्चिम से पूर्व, उत्तर से दक्षिण, दक्षिण से उत्तर, ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर यों 6 क्रमों से गति होती है। इन 6 क्रमों का नाम उपक्रम है अर्थात् जीव की गति का शुद्ध क्रम तो नीचे से ऊपर का है। जब यह जीव कर्मों से, शरीर से रहित होता है तो इसकी गति स्वभावत: नीचे से ऊपर की ओर हो जाती है पर कर्मबन्धन-बद्ध होने से इस जीव के उस शुद्ध क्रम की पद्धति बिगड़ गई है। इस संसार अवस्था में भी जब कभी ऊपर उत्पन्न होना हो और यहाँ से ऊपर भी जायें तो भी उसकी यह ऊर्ध्वगति स्वाभाविकी गति नहीं है। जैसे यह संसारी जीव कर्मों का प्रेरा मरण करके ऊपर से नीचे की ओर जाता है अथवा पूर्व से पश्चिम, पश्चिम से पूर्व, दक्षिण से उत्तर, उत्तर से दक्षिण की ओर जाता है इस ही प्रकार कर्मों से प्रेरा हुआ ही यह जीव संसार अवस्था में नीचे से ऊपर की ओर भी जाता है। संसार अवस्था में जो ऊर्ध्वगति है वह भी स्वभावगति नहीं है, यों जीव में दो प्रकार की गति हुई, स्वभावगति और विभाव गति। सिद्ध जीवों की गति स्वभाव गति है और संसारी जीवों की गति विभाव गति है।

पुद्गल द्रव्य की स्वभावगति व विभावगति—पुद्गल द्रव्य में भी दो प्रकार की गति है—स्वभावगति और विभावगति। पुद्गल में शुद्ध पदार्थ है पुद्गल परमाणु। पुद्गल परमाणु की गति स्वभावगति है। पुद्गल में स्वभावगति की यह विशेषता नहीं है कि वह ऊपर ही जाय; ऊपर जाय, नीचे जाय, दिशाओं में जाय। दूसरे द्रव्य के सम्बन्ध के बिना एक समूहात्मक की प्रेरणा बिना जो अविभागी पुद्गल परमाणु की गति होती है वह पुद्गल की स्वभावगति है और परमाणुवों के मेल से बने हुए इन स्कंधों का जो गमन होता है वह विभाव गति है। सबसे छोटा स्कंध द्वयणुक कहलाता है, अर्थात् दो परमाणुवों के बंध से बने हुए स्कंध। और बड़े स्कंध अनन्त परमाणुवों के मेल से बने हुए होते हैं, इनके मध्य में अनेक प्रकार की संख्या में मिले हुए परमाणुवों का भी स्कंध होता है। उन सब स्कंधों की गति विभावगति है। ये स्कंध चाहे गोल चलें, तिरछे चलें, किसी भी दिशा की ओर चलें वह सब गमन पुद्गल की विभावगति का गमन है।

सिद्ध की गति का कथन—इस प्रकरण में मुख्य बात यह कही जा रही है कि धर्मद्रव्य चूँकि लोकाकाश के ही भीतर है, बाहर नहीं है, इस कारण जो भी निकटभव्य जीव चारघातिया कर्मों का नाश करके अरहंत हुआ और फिर शेष चारघातिया कर्मों का भी क्षय करके जब सिद्ध होता है, गुणस्थानातीत होता है तो वह स्वभाव से ऊपर चला जाता है। वह कहाँ तक ऊपर जाता है? इसका उत्तर इस गाथा में है। जहाँ तक धर्मद्रव्य है वहाँ तक सिद्ध भगवान जाते हैं। सिद्ध प्रभु को लोक के शिखर तक जाने में अधिक समय नहीं लगता। एक समय ही लगता है, अथवा इसी कारण इसे गति भी नहीं कहिये। जहाँ दो तक भी समय लगे वहाँ तो गति का अनुमान बन सकता है। पहिले समय में यह चला और दूसरे समय में यह पहुँच गया। जहाँ तक वर्णन हो कि पहिले ही समय में गया और पहिले ही समय में पहुँच गया वहाँ गति का स्पष्ट अंदाजा नहीं होता।

सिद्धों की ऊर्ध्वगति का प्रथम कारण—प्रभु कर्मयुक्त होकर ऊपर ही क्यों जाते हैं? इसका उत्तर तत्त्वार्थसूत्र के दशम अध्याय में दिया गया है। इसके चार कारण और चार दृष्टान्त बताये गये हैं। पहिला कारण तो यह है कि मुनि अवस्था में इस महात्मा ने सिद्ध लोक में विराजे हुए, सिद्ध प्रभुवों का ध्यान किया था। सिद्ध प्रभु लोक के अग्र भाग में विराजे हैं, वहाँ तक भावना और दृष्टि बनी रहा करती थी। इस पूर्वप्रयोग के कारण लोक के शिखर पर इसका ध्यान बना रहा करता था। इस संस्कार के कारण जब यह जीव अभी मुक्त हुआ है तो वहाँ ही सीधा पहुँचता है, इसका दृष्टान्त दिया है कि जैसे कुम्हार मिट्टी के बर्तन बनाने के लिए मिट्टी को जिस चाक पर रखता है उस चाक को एक डंडे से घुमाता है। एक मिनट तक तेज घुमा लेने के बाद डंडे को छोड़ देता है और वह अपना काम करता रहता है वह चाक तीन चार मिनट तक घूमता रहता है। चाक को अब घुमाया नहीं जा रहा है। चाक को पहिले घुमाया था, पर ऐसे चाक के घूमने में उसकी वासना के कारण अब वह चाक स्वयमेव घूम रहा है, ऐसे ही साधुसंत महात्मावों ने सिद्ध प्रभु लोक के अंत में विराजमान् हैं इस रूप से ध्यान किया था और वहाँ ही उनका चित्त बना रहता था तो अब कर्मयुक्त होने के बाद यह स्वभावत: उसी दिशा को ऊपर की ओर ही जाता है।

सिद्धों की ऊर्ध्वगति के तीन अन्य कारण—सिद्ध प्रभु पूर्ण नि:संग हो गये हैं, इस कारण सिद्धों की गति ऊर्ध्व ही होती है। जैसे कीचड़ से लिपटा हुआ तूमा पानी में मग्न रहता है। जब तूमा से कीचड़ का संग हट जाता है, तूमा नि:संग हो जाता है तब तूमा ऊपर ही जल पर आ जाता है। प्रभु के अष्टकर्मों का बन्धन दूर हो गया है सो बन्धच्छेद के कारण वे ऊपर ही जाते हैं, जैसे कि एरण्डबीज का छिलका फटे तो वह ऊपर को उचटता है। अथवा आत्मा की स्वभावत: ऊपर ही गति होती है, या तो कर्मप्रेरित होकर यत्रतत्र जाता था, अब विरुद्ध प्रेरणा रही नहीं इससे स्वभावत: यह पावन आत्मा ऊपर ही जाता है, जैसे अग्नि ज्वाला की गति स्वभावत: ऊपर ही चलती है।

सिद्धक्षेत्र की सिद्धभगवंतों से व्यापकता—जो आत्मा सिद्ध हुए हैं वे ढाई द्वीप के क्षेत्र में से ही हुए हैं। जितना ढाई द्वीप का विस्तार है उतना ही विस्तार सिद्ध लोक का है। वह मुड़कर या कुछ अगल बगलहोकर ऊपर नहीं जाता। जो साधु जिस प्रदेश से मुक्त हुए हैं उस ही के ठीक ऊपर प्रदेश पर ऊपर विराजमान् होते हैं। इस ढाई द्वीप में कोई भी ऐसी जगह नहीं बची जिस जगह से अनिगनते सिद्ध मोक्ष न पधारे हों। लोकव्यवहार में ताजी स्मृति रखने के लिए और कुछ अपने धर्म का साधन बनाने के लिए सिद्धक्षेत्र माने गये हैं। इतने महाराज सोनागिरि से मुक्त हुए, इतने महाराज शिखर जी से मुक्त हुए इत्यादिरूप से यों अनेक तीर्थस्थानों का वर्णन आता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि और जगहों से कोई मोक्ष ही नहीं गया। जहाँ आप इस समय बैठे हैं, जहाँ आपकी रसोई बनती है, जहाँ आप अपनी बैठक में बैठते हैं कहाँ तक कहा जाय—इस ढाई द्वीप के अन्दर प्रत्येक प्रदेश पर से अनगिनते मुनि, महात्मा, संत मोक्ष गये हैं। इसलिए हम लोगों का यह निवास क्षेत्र एकएक कण सिद्धक्षेत्र स्थान है। हम जिस तीर्थस्थान पर जाकर वहाँ भावना भाते हैं—यहाँ से अनन्त संत, मुनि मोक्ष पधारे हैं वैसे ही यहाँ भी बैठकर यह भावना भायें कि इस जगह से अनन्ते मुनि, साधु, संत, महाराज मोक्ष पधारे हैं।

सिद्धभगवंतों की त्रिलोकशिखरविराजमानता—ढाई द्वीप से जिस जगह से भी जो मुनिजन मुक्त हुए हैं वे ठीक सीधे उसके ऊपर लोक के अन्त में जाकर विराजमान हो जाते हैं, वह स्थान तीन लोक का शिखर है। वैसे भी बात बड़ी अच्छी बन गयी—जो पुण्य आत्मा हुए हैं उनका आसन ऊपर ही होना चाहिए। जो तीन लोक के अधिपति हैं, समस्त जीवों में उत्कृष्ट हैं उनका निवास इस लोक में बिल्कुल अन्त में हुआ तो यह बड़ी योग्य बात है। हम लोग भी आदरपूर्वक सर्वोपरि विराजमान सिद्ध प्रभु को नमस्कार करने में अपना

विनय ही बढ़ा सकेंगे। तीन लोक के शिखर से ऊपर गति-क्रिया साधु, संत, महंतों की सिद्धदशा होने पर भी नहीं है, क्योंकि उसके ऊपर गमन का कारणभूत जो धर्मास्तिकाय द्रव्य है वह नहीं है।

दृष्टान्तपूर्वक धर्मास्तिकाय की विशिष्टता का समर्थन—धर्मास्तिकाय के लक्षण के दृष्टान्त में यह बताया गया है कि जैसे जल का निमित्त पाकर मछलियों की गति होती है और जल का अभाव होने पर मछलियों की गति-क्रिया नहीं होती है ऐसे ही धर्मद्रव्य होने पर जीव, पुद्गलों की गति होती है और धर्मास्तिकाय का अभाव होने पर उस अभाव क्षेत्र में जीव और पुद्गल की गति-क्रिया नहीं होती है। जैसे पानी में मछली चलती है बड़ी कलासहित किलोल करती हुई बड़ी वेग सहित। क्या कभी जल के बाहर भी इस तरह तैरती हुई, किलोल करती हुई, कला सहित तैरती हुई, क्रीड़ा करती हुई मछली देखी है? अरे, गमन करने की बात तो दूर रही, जल को छोड़कर मछली बहुत देर तक जिन्दा भी नहीं रह सकती। तो जैसे मछली के गमन में सहकारी पानी है, वह पानी जबरदस्ती मछली को चलाता नहीं, वह जल प्रेरणा नहीं करता कि तू यहाँ खड़ी क्यों रह गयी? तेरे गमन का कारणभूत यह मैं जल, यहाँ उपस्थित हूँ, तू यहाँ क्यों खड़ी है, ऐसी कोई जबरदस्ती नहीं है। वह पानी तो मछली को चलाने में निमित्तभर है। मछली चलना चाहे तो उस जल में चल सकती है, ऐसे ही इस लोक में धर्मास्तिकाय नाम का द्रव्य है। तो यह धर्मास्तिकाय इस जीव, पुद्गल को जबरदस्ती चलाता नहीं है, किन्तु सुविधा है एक। जीव और पुद्गल जब किसी कारण से चलने लगे तो उनके चलने में यह धर्मास्तिकाय सहायक होता है।

अधर्मास्तिकाय की विशिष्टता—जैसे इस लोक में धर्मास्तिकाय नाम का द्रव्य है जो जीव और पुद्गल के चलने में सहायक है, ऐसे ही इस लोक में अधर्मास्तिकाय नाम का द्रव्य है जो जीव और पुद्गल को ठहरने में सहायक है, जो जीव और पुद्गल चलते जा रहे हैं, वे चलते हुए जीव और पुद्गल ठहरना चाहें, ठहरें तो ठहर सकते हैं। इस ठहरने में निमित्त कारण है अधर्मद्रव्य। यों जैसे धर्मद्रव्य जबरदस्ती जीव पुद्गल, को चलाता नहीं है ऐसे ही अधर्मद्रव्य जीव, पुद्गल को जबरदस्ती ठहराता नहीं है। यदि यह धर्मद्रव्य चलाने में जबरदस्ती करे, अधर्मद्रव्य ठहराने में जबरदस्ती करे तो किसकी जबरदस्ती की विजय हो, जीव पुद्गल की क्या स्थिति बने? एक जबरदस्ती ढकेले, एक जबरदस्ती रोके तो कुछ व्यवस्था भी बन सकेगी क्या? यह धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य जीव और पुद्गल के गमन में और ठहरने में सहायक मात्र है। यह उदासीन निमित्त है।

लोकशिखरस्थ होने पर भी सिद्धों की सिद्धत्व के कारण विशिष्टता—सिद्ध प्रभु उस क्षेत्र तक गमन करते हैं एक ही समय में जिस क्षेत्र तक धर्मास्तिकाय द्रव्य स्थित है। यों ही कोई अशुद्ध जीव, संसारी जीव मरकर अपने उपार्जित कर्म के उदयानुकूल लोक के अग्र भाग तक निगोद देह पाने के लिए गमन करे तो वह भी लोक के अग्र भाग तक पहुँचता है। यों जीव स्वभावगति से भी लोक के शिखर तक पहुँचे हुए हैं और विभाव गति से भी लोक के शिखर पहुँचे हुए हैं। भावों की विचित्रता देखिये, उस ही स्थान में सिद्धभगवान तो अनन्त आनन्द में मग्न हुए विराजे हैं और उस ही स्थान में निगोदिया जीव एक श्वास में 18 बार जन्ममरण करते हैं और संकट भोगते हुए वहाँ तड़फते रहते हैं; उसी क्षेत्र में प्रभु विराजमान् हैं, उस ही क्षेत्र में निगोदिया जीव दु:खी हो रहे हैं, यह सब अपने-अपने कर्मों की और भावों की महिमा है, विचित्रता है।

पुद्गलों की गति—पुद्गल में स्वभाव गति हो तो वह भी अधिक से अधिक लोक के शिखर तक पहुँच जाता है। पुद्गल परमाणुवों की गति को स्वभावगति कहते हैं, क्योंकि, वह अणु असहाय केवल अकेला ही गमन कर रहा है। और इस पुद्गल की विभावगति भी लोक के शिखर भाग तक हो जाती है। पुद्गल स्कंधों की गति को विभावगति कहते हैं। दो अणु वाले स्कंध तथा इससे अधिक अणु वाले स्कंध भी लोक के अन्त तक गमन करते हैं। जीव के साथ जो तैजस शरीर, कार्मणशरीर गमन कर रहे हैं वह तो अनन्त परमाणुवों का

समूह स्कंध है। यों पुद्गल की स्वभावगति भी लोक के अग्रभाग तक होती है और पुद्गल की विभावगति भी लोक के अग्रभाग तक होती है।

लोकानुप्रेक्षण—इस प्रकरण से हमें अपने ज्ञान और वैराग्य की प्रेरणा के लिए कुछ इस ओर भी दृष्टि डालनी चाहिए कि हम आप जीवों ने अपने ही मिथ्यात्व और कषाय की वेदना को सहकर इस लोक में प्रत्येक प्रदेश पर अनन्त बार जन्म लिया है और अनन्त बार मरण किया है। इस लोक में एक भी प्रदेश ऐसा नहीं बचा जहाँ हम आपने अनन्तबार जन्म न लिया हो और मरण न किया हो। उन अनन्त जन्म-मरणों की कुछ आज सुध नहीं है। उन अनन्त भवों में जो कुछ समागम संग कुटुम्ब पाया, उसकी भी आज कोई सुध नहीं है। फिर यह जीव इन चंद दिनों के लिए कुछ समागम पाता है। इससे इनमें इतनी आसक्ति हो जाती है कि इसे किसी अन्य में दया भी नहीं है। किसी अन्य का कोई ख्याल भी नहीं होता है। अपने ही विषयसाधनों की पूर्ति हो, बस एक यही भाव सुहाता रहता है, जैसे चंद दिनों को यह समागम मिला है और इस समागम में इतनी अधिक आसक्ति हो रही है, ऐसे-ऐसे अनन्त बार अनेक भवों में समागम पाया था और उस जीवनकाल में इससे भी बढ़-बढ़कर आसक्त होकर उनको माना था, अपनाया था, लेकिन उनमें से आज कोई साथ नहीं है और साथ भी हो तो अन्य पर्यायों को लेकर साथ है। तो पहिले जैसी प्रीति की बात अब क्या निभाई जा सकती है?

प्रतिकूल उदय में परिजन द्वारा विघात—पुराण में एक कथानक आया है कि एक सेठ जी धर्मात्मा थे। उन्होंने एक रात्रि को मंदिर में विराजे हुए सामायिक जाप के समय एक दीपक सामने जलाया और यह नियम किया कि यह दीपक जब तक जलता रहेगा तब तक हम ध्यान करेंगे। उसने अंदाज किया कि इसमें इतना घी है कि चालीस—पचास मिनट में समाप्त हो जायेगा, दीप बुझ जायेगा, तब तक अपने ध्यान का काम भी पूरा कर लेंगे। वह तो यह प्रतिज्ञा करके ध्यान में बैठ गया। जब आधा घंटा गुजरने को हुआ तो स्त्री ने देखा कि यह दीपक बुझ जाने वाला है तो उसने घी डाल दिया। फिर आध पौन घण्टा बाद देखा कि यह दीपक बुझ जाने वाला है तो फिर घी डाल दिया और यहाँ सेठ ने व्याकुल होकर अपना खोटा ध्यान बनाया और इतना ही नहीं, दिन में भी यही क्रम रहा, रात को भी यही क्रम रहा। वह बेचारा रात-दिन भूखा रहकर मर गया और मरकर हुआ कुएँ का मेंढक। अपने ही महल में जो कुआँ था, चूँकि प्यासा होकर मरा था, वहाँ मेंढक बन गया।

भिन्न पर्याय में प्रीतिसत्कार की अशक्यता—जब सेठानी ने दूसरे तीसरे दिन उसमें से पानी निकाला तो वह मेंढक बार-बार सेठानी की गोद में आ जाये, वह हटाये फिर भी उछलकर गोद में आए। तो सेठानी ने एक साधु से पूछा कि यह मेंढक क्यों हमारे पास उचक-उचककर आता है? तो उस साधु ने बताया कि यह तुम्हारा पूर्वजन्म का पति है। तब सेठानी ने मेंढक को बड़े प्रेम से रक्खा, मगर क्या प्रेम करे? मनुष्यभव में जो वचनव्यवहार आदि किया जाता है, मेंढक के साथ क्या हो सकेगा? अरे ! थोड़ा सा कुछ खाने को डाल दिया और क्या करेगा कोई? इसी प्रकार अपने जितने पूर्वभव में कुटुम्बीजन थे वे चाहे आज भी मौजूद हों लेकिन दूसरी पर्याय में हैं। हम उनसे क्या प्रेम निभाएँ? लोक में सभी जीव कुटुम्बी हुए, सभी प्रदेशों पर जन्म लिया, फिर भी तृष्णा-पिशाचिनी ऐसी लगी हुई है कि न इसे किसी क्षेत्र में संतोष है, न इसे किसी जीव में संतोष है। राग और विरोध करके यह अपनी दुर्दशा बना रहा है।

सिद्ध भगवन्तों का अभिवन्दन—एक निज शुद्ध स्वभाव का आश्रय लें जिसके प्रताप से कर्मकलंकों से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त कर लोक के शिखर पर शुद्ध स्थिति में रहते हुए विराजमान् रहेंगे। ऐसा इस शुद्धोपयोग अधिकार में शुद्धोपयोग के फल को पाने वाले सिद्ध प्रभु का स्मरण किया गया है और साथ ही यह सिद्धान्त बताया गया है कि जीव और पुद्गल इन दोनों द्रव्यों का गमन तीन लोक के शिखर से ऊपर नहीं होता है,

क्योंकि गति का उदासीन हेतुभूत धर्मास्तिकाय नाम का द्रव्य लोक के ऊपर याने बाहर नहीं है। शुद्ध का जो उपयोग करता है वह ऐसे शुद्धोपयोग वाला होता है जो अपने ज्ञान से तीन लोक, तीन काल के पदार्थों के जाननहार होते हैं, उनका अन्त में निवास तीनों लोक के शिखर पर हो जाता है। ऐसे वहाँ विराजमान समस्त सिद्ध भगवंतों को हमारा वंदन हो।

गाथा 185

णियमं णियमस्स फलं णिदिट्ठं पवयणस्स भत्तीए।

पुव्वावरविरोधो जदि अवणीय पूरयंतु समयण्हा।।185।।

प्रवचन परमागम की भक्ति से इस ग्रन्थ में नियम और नियम के फल का निर्देश किया है। यदि इस ग्रन्थ में पूर्व और ऊपर में कहीं कोई त्रुटि हो तो उसे दूर करके जो विद्वज्जन हैं, सिद्धान्तवेत्ता हैं वे उसकी पूर्ति करें।

नियम और नियम के फल का निर्देश—नियमसार ग्रन्थ में अब ग्रन्थ समाप्ति के प्रकरण को लेकर तीन गाथाएँ आयेंगी। उन गाथावों में से यह प्रथम गाथा है। नियमसार ग्रन्थ में नियम का वर्णन किया गया है, नियम का अर्थ है रत्नत्रय। अपने आत्मा को अपने आत्मा में ही नियत कर देना सो नियम है। जब जीव को निज सहज विशुद्ध ज्ञानदर्शनात्मक अन्तस्तत्त्व का श्रद्धान् होता है और इसका ही यथार्थ परिज्ञान होता है एवं ऐसा ही ज्ञानदर्शनस्वरूप शुद्ध चिदात्मक आत्मतत्त्व में उपयोग का अनुष्ठान होता है तब इस जीव के नियम की सिद्धि होती है। उस नियम को पालने का फल प्राप्त होता है, परमनिर्वाण।

परसम्पर्क का विपाक—इस जीव की हितकारी अवस्था मुक्त अवस्था है। संसार अवस्था में कुछ भी वैभव मिले, कुछ भी पुण्य-समागम मिले उस पर आस्था न करिये। ये सब दु:खी करने के लिए हैं। बाह्य पदार्थों का समागम और तद्विषयक अभिलाषा ये आनन्द के लिए नहीं मिले हैं, किन्तु क्लेश उत्पन्न करने के लिए मिले हैं। एक आत्मा के विशुद्ध ध्यान के बिना जो भी विकल्पजाल उत्पन्न होता है वह सब क्लेश के लिए ही होता है। धनार्जन का उद्यम करने में कितने विकल्पजाल गूँथे जाते हैं, उससे पहिले उद्यम के समय और अर्जन के बाद सर्वदा दु:खी होना पड़ता है याने इसके प्रारम्भ में भी क्लेश, इसकी प्राप्ति में भी क्लेश और इसके अन्तकाल में भी क्लेश है। जो कुछ वैभव जुड़ा है इसका अन्तिम फल तो वियोग ही है, चाहे यह वैभव अपने जीवन में अपने से बिछुड़ जाय या मरण काल में एक साथ ही सब बिछुड़ जाय, पर जो संयोग हुआ है, जिसका समागम है उसका नियमत: वियोग है।

सद्भावना और असद्भावना का प्रभाव—जो जीव इस समागम को पुण्ययानुसारी नहीं मान सकता है और अपने इस झूठे बल का गर्व करता है मैं कमाने वाला हूँ, मेरे करने से ही ये सब होता है, इस तरह की जो कर्तृत्वबुद्धि लगाये हैं उनका यह सोचना बिल्कुल भ्रमपूर्ण है, बल्कि ऐसे भ्रम के पाप करने से पुण्य का क्षय होता है और विनाश से सम्पदा आनी हो तो भी नहीं आती है। लोगों का आज यह ख्याल बन गया है कि धनका अर्जन बेईमानी और अन्याय से ही हुआ करता है। अर्जन तो पुण्य के अनुसार होता है। यदि सद्भावना रक्खो तब भी आयेगा, असद्भावना करो तब पुण्यानुसार आयेगा। सद्भावना से लाभ यह होता है कि कुछ समय तक ये समागम और रह सकते थे, किन्तु असद्भावना, झूठ, बल, धोखेबाजी आदि से संचित किया हुआ धन बहुत काल तक नहीं टिक सकता है। जैसे कि लोग यह देख रहे हैं कि अन्याय से कमाया हुए धन को जरा-सी देर में न जाने कितने टिल्ले लग जाते हैं, क्या अचानक उपद्रव आ जाता है कि यह

संचित धन समाप्त हो जाता है और जो न्यायवृत्ति से अपना जीवन गुजारा करते हैं चाहे उनकी आय कम हो लेकिन जीवन स्थिरतापूर्ण होता है।

धर्मभावना का परिणाम—भैया ! इन बाह्य पदार्थों को भिन्न, असार, अहितकर जानकर उनसे उपेक्षा भाव करो। उनके पीछे आसक्ति का परिणाम रहेगा तो क्लेश ही रहेगा, आनन्द नहीं मिल सकता है। आनन्द इन बाह्य पदार्थों में हो, तो मिले। ये तो केवल रूप, रस, गंध, स्पर्श के पिंड हैं। इनमें आनन्द अथवा ज्ञान नाम का तत्त्व ही नहीं है, वहाँ फिर आनन्द की आशा करना एक भ्रम ही है। अच्छा, प्रभु की वंदना-पूजा करना किस लिए है? उसका सही प्रयोजन तो बतावो? कुल पद्धति से अथवा अपना जीवन विषय-सुखपूर्ण व्यतीत हो, इस भावना से यदि हम पूजन करने आते हैं तो हमने न उससे पुण्य बांधा और न शान्ति पायी। अधर्मभावना का फल वर्तमान में भी आकुलता करना है और भविष्यकाल में भी आकुलता करने वाला है, किन्तु धर्मभावना तत्काल भी शान्ति देती है और भविष्यकाल भी शान्ति देती है।

मूल में धर्मपालन—धर्म मायने हैं आत्मा का स्वभाव आत्मा में केवल प्रतिभास का स्वभाव है। जो जैसा है तैसी मुझमें झलक आ जाय यही मेरा स्वभाव है और स्वाभाविक कार्य है, इस धर्म की दृष्टि रखना। मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ और स्वाभाविक कार्य है इस धर्म की दृष्टि रखना। मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, समस्त परपदार्थों से न्यारा हूँ, ऐसा सबसे विविक्त अपने आपमें तन्मय अपने आपकी सुध लेना सो ही धर्म का पालन है। धर्म वहाँ होता है जहाँ अहंकार और ममकार नहीं है।

अहंकार व ममकार से विविक्तता की दृष्टि—अहंकार व ममकार, ये दोनों ही मिथ्यात्व हैं। जो मैं नहीं हूँ उस रूप अपने को मानना यह मिथ्यादर्शन है। मैं देहरूप नहीं हूँ पर देहरूप ही अनुभव करना यह मिथ्यात्व है। कुछ थोड़ा सा लोगों के द्वारा अपमान हो जाय, कोई झूठ बात कह दे, गाली-गलौज की बात कह दे तो यह क्लेश अनुभव करता है। यह मोह और मिथ्यात्व का ही तो प्रताप है। जरा विचार तो करो कि उस कहने वाले ने किसे कहा? इस देह को देखकर कहा है तो देह तो जानता भी नहीं कुछ, फिर अपमान अनुभव करने का कहाँ अवसर है? वह यदि आत्मा को देखकर कहता है तो ऐसा कह ही नहीं सकता था। इसलिए जो भी अपमान, अपयश, निन्दा आदि कुछ भी परिणमन करता है वह खुद का ही भ्रम करता है मेरा कुछ नहीं करता है। मैं तो ज्ञानानन्दमात्र एक शुद्ध चेतन हूँ, इस प्रकार अपने को जो ज्ञानस्वरूप निहारता है, देह में अहंकार नहीं करता वह पुरुष सम्यग्दृष्टि है। इस ही प्रकार अहंकार न होने के कारण समस्त बाह्य पदार्थों में ममकार का भी अभाव हो जाता है। मेरा तो मात्र मेरा स्वरूप है, मेरे तो मात्र ज्ञान-दर्शनादिक गुण ही मेरे हैं, ये जड़ धन, वैभव, राज्य ये सब मेरी कुछ भी वस्तु नहीं हैं। इनमें ममकार करना केवल क्लेश और पापबंध का ही कारण है, यों जो पुरुष अहंकार और ममकार से रहित हो जाता है उसका नियम पलता है।

रत्न—यहाँ नियम का अर्थ है शुद्ध रत्नत्रय। रत्न कहते हैं सारभूत वस्तु को। जो जिस जाति में उत्कृष्ट है वह उस जाति का रत्न कहलाता है। रत्न का अर्थ हीरा, जवाहिरात नहीं है। रत्न का अर्थ है श्रेष्ठ तत्त्व। जब मोही जीवों की दृष्टि पौद्गलिक वैभव में ही फँसी तो उनके लिए तो श्रेष्ठ तत्त्व हीरा, जवाहिरात ही जँचे और उन्होंने उनका नाम रत्न रख लिया। रत्न शब्द का शुद्ध अर्थ है सारभूत चीज। ज्ञानी पुरुषों को सारभूत तत्त्व अपने आत्मा का श्रद्धान, अपने आत्मा का ज्ञान और इस ही रूप आचरण करना जँचा है। ज्ञानियों की दृष्टि में रत्न है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र। इसका फल है परमनिर्वाण, जहाँ किसी भी प्रकार का क्लेश नहीं है, न शारीरिक वेदना है, न मानसिक बाधा है और न कोई प्रकार का विसंवाद है। शुद्ध आनन्द की स्थिति है जो अपने को केवल निरखने से प्राप्त होती है। ज्ञानी के यही एक मात्र निर्णय है।

आशापरिहार से ही यथार्थ विश्राम—भैया ! इस मनुष्य जीवन को पाकर एक शुद्ध पंथ में अपने को न लगा पाया और इस जड़, असार, वैभव-समागम प्रसंगों में ही अपने को फँसाया जाता रहा तो मनुष्य जन्म तो यों

ही निकल ही रहा है। कुछ ही दिनों में मनुष्य भव छूटेगा, फिर नहीं पता कि कीड़े-मकौड़े की क्या स्थितियाँ बनेंगी, फिर क्या कर लेंगे? कैसी मोह की लीला है—यह जो समागम मिला है उसमें भी संतोष नहीं है। तृष्णा का ऐसा प्रसार बना हुआ है कि अनेकों से अनेक गुना प्राप्त होने पर भी जो पाया है उसका भी आराम नहीं पाया जा सकता है क्योंकि दृष्टि तृष्णावश और आगे की हो गई है। कभी किसी की तृष्णा की पूर्ति हो सकती है क्या? यह आशारूपी गड्ढा इतना विशाल है कि इसमें तीन लोक के पुद्गलों का कूड़ा-करकट भी भर दिया जाय तो भी आशा का गड्ढा पूरा नहीं हो पाता, बल्कि ज्यों-ज्यों इसमें वैभव भरा जाय, त्यों-त्यों यह आशा का गड्ढा चौड़ा होता जाता है।

संतों के अनुभव का लाभ—अहो ! पवित्र जैन शासन को पाकर इसके लाभ से वंचित रह जायें अपन, तो इससे बढ़कर विषाद की बात कुछ हो ही नहीं सकती, जिन ऋषि-संतों ने बड़ा राज्य वैभव, त्यागकर तपस्या के बाद ध्यान और अनुभव किया उन्होंने हम सब जीवों पर करुणा करके अनुभूत तत्त्व ग्रन्थों में लिख दिया। जो बड़ी कठिन तपस्या का अनुभव हो सकता था वह जब हमें सीधे स्पष्ट शब्दों में आज मिल रहा है तिस पर भी हम इसकी उपेक्षा करें और ज्ञानार्जन की ओर अपना प्रयत्न न बनाएँ तो इससे बढ़कर विषाद की बात और क्या हो सकती है?

आत्मविश्वास और प्रभु के महत्त्व का अंकन—यह भौतिक समागम अविश्वसनीय है, इसका कुछ भरोसा नहीं है, आज है कल नहीं, अथवा जब है तब भी दुःख के लिए है, वैभव कभी-कभी तो मनुष्य के प्राण हरने का कारण बन जाता है। वैभव में कौनसी शान्ति है? शान्ति तो मात्र एक आत्मा के स्पर्श में है। बाह्य विकल्पों से छूट कर अपने आपके अन्तरंग में अपने ज्ञान का प्रवेश हो, स्पर्श हो तो वहाँ आनन्द मिलेगा, अन्यत्र आनन्द नहीं है, हम इस बात पर यदि विश्वास नहीं करते हैं तो प्रभु का पूजन करना, दर्शन करना यह सब कोरा ढोंग है। जब हम प्रभु की महत्ता को महत्त्व ही नहीं देते हैं, प्रभु में क्या गुण प्रकट हुआ है, उसका जब तक चित्त में महत्त्व नहीं है, महत्त्व बसा हो जड़ भौतिक पदार्थों में तो हमने प्रभु को क्या पूजा? किसी का महत्त्व समझना ही उसकी वास्तविक उपासना और भक्ति है। प्रभु समस्त कर्मों से मुक्त हैं, उनके ऐसा ज्ञान प्रकट हुआ है कि समस्त लोकालोक को एक साथ स्पष्ट जानते हैं। इन प्रभु के ऐसी परमनिर्दोषता है, रागद्वेष की तरंग अब त्रिकाल भी भविष्य में कदाचित न उठ सकेगी। पूर्ण शुद्ध हो गये हैं, शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा ही रह गये हैं। इस ही स्थिति में वास्तविक आनन्द है, इसके बिना जो हम आपकी स्थितियाँ गुजर रही हैं ये धर्म की स्थितियाँ नहीं हैं। दुःखपूर्ण स्थितियों को सुख मानने का भ्रम बनाये रहें तो इससे लाभ कुछ न होगा। नियम शुद्ध आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान और आचरण है, और इस नियम के पालन का फल परमनिर्वाण है; जहाँ किसी भी प्रकार का क्लेश नहीं है, न होई कलुषता है। यह आत्मा निर्वाण में विशुद्ध परम पदार्थ हो जाता है।

ग्रन्थरचना का सत् उद्देश्य—इस ग्रन्थ की समाप्ति के प्रसंग में आचार्यदेव यह कह रहे हैं कि इस ग्रन्थ में यदि कदाचित कहीं पूर्वापरविरोध हो तो विद्वत्जन उसकी पूर्ति करें। विद्वत्ता के घमंड से इस ग्रन्थ का प्रतिपादन हमने नहीं किया है या कवित्व के अभिमान से इन गाथावों को नहीं रचा है, किन्तु एक प्रवचन की भक्ति से भगवान सर्वज्ञदेव द्वारा प्रणीत जो परमागम है उसमें मुझे तीव्र भक्ति हुई, इस परमागम में क्या रत्न भरे हुए हैं संकटों से मुक्त होने का इसमें कैसा सुगम उपाय कहा गया है, उन सब श्रेष्ठ तत्त्वों के दर्शन से प्रेरित होकर इस ग्रन्थ का प्रतिपादन किया है। जिस जीव की जो लगन हो जाती है वह अपनी लगन के अनुसार अपनी धुन में अपना काम करता है। इन आचार्यसंतों के एक शुद्ध पथप्रकाश करने की लगन लगी थी, इन्हें अपने पूजन, वंदन की चाह नहीं थी, केवल एक ही धुन थी, जो वस्तुस्वरूप है, जो मोक्ष का विशुद्ध मार्ग है, शान्ति पाने का परमार्थभूत उपाय है वह सबको विदित हो, और सब अपने इस सहजस्वरूप के दर्शन से संकटों से मुक्त हों, इस ही धुन के लिए हुए आचार्य संतों का ध्यान था। उनकी कृति फिर किसी

अभिमान के लिए कैसे हो सकती है? जिसे एक विशुद्ध कार्य बनाने की ही धुन हो उसको घमंड का अवसर कैसे हो सकता है? इसलिए वे यहाँ यह कह रहे हैं कि यदि पूर्वापर कोई दोष हो तो उसे दूर करके जो उत्तम तथ्य की बात हो उस पदरूप कर देवें।

आचार्यदेव की निरभिमानता—देखिये, आचार्यदेव की कितनी निरभिमानता है? इतने महान् ऋषि संत कुन्दकुन्दाचार्यदेव के सम्बन्ध में उनकी विद्वत्ता को कौन वर्णन कर सकता है और आध्यात्मिकता की भी कौन थाह पा सकता है, जिसमें अध्यात्मरस इतना विशाल पड़ा हुआ है। यदि ऐसे-ऐसे ये ग्रन्थ न होते तो आज हम सब कैसे उस अध्यात्मशान्ति के मार्ग पर जा सकते थे, इतनी विशाल विद्वत्ता के बावजूद भी वह अपनी लघुता प्रकट कर रहे हैं। समयसार में ऐसी लघुता भूमिका में ही सर्वप्रथम प्रकट की गयी है। समयसार में उन्होंने आत्मा का शुद्ध एकत्व बताया है अर्थात् अपने स्वरूप से जो सत् है और पर के स्वरूप से सत् नहीं है ऐसा जो आत्मस्वरूप है उसको बताने के प्रकरण में कहा है कि मैं इस शुद्ध आत्मा को दिखाऊँगा। यदि दिखा दूँ तो तुम सब अपने ज्ञान से प्रमाण करके मान लेना और यदि न दिखा सकूँ तो छल ग्रहण न करना कि अध्यात्म कुछ चीज नहीं है, ऐसा दोष न ग्रहण करना, आगे कोशिश करना।

प्रत्येक वस्तु की विविक्तता—इन बाहरी चीजों के प्रेम में तुम कुछ लाभ भी पावोगे क्या? अपने आपका स्वरूप ही न जान पाया तो तुम्हारा झुकाव फिर कहाँ रहेगा? किसी बाहरी पदार्थ की ओर जावोगे, वहाँ शरण ढूँढ़ोगे तो वह तो ऐसा अलग है जैसे पानी के ऊपर मिट्टी का तेल तैरता है। पानी से मिट्टी का तेल बिल्कुल विमुख रहता है। तैल पानी के स्वरूप को जरा भी ग्रहण नहीं कर सकता, वह बिल्कुल भिन्न रहता है। एक पात्र में रहकर भी तैल तैल की ओर रहता है, पानी पानी की ओर रहता है। ऐसे ही समझिए कि एक ही जगह में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल छहों द्रव्य हैं। जहाँ आप विराजे हैं वहाँ भी छहों द्रव्य हैं, पर वे छहों के छहों द्रव्य अपने-अपने स्वरूप की ओर ही बने हुए हैं, किसी दूसरे स्वरूप की ओर नहीं हैं—ऐसी स्वतंत्रता है प्रत्येक पदार्थ में। तू उसका भान न करके अपने में अहंकार और ममकार यदि बनाता है तो इसका फल उत्तम नहीं है। जहाँ भी तू अपना उपयोग जोड़ेगा, जिस परपदार्थ में अपना चित्त लगायेगा, वह पदार्थ तो खुद के स्वरूप की ओर झुका है, तेरी ओर तो कुछ ख्याल भी नहीं करता। फिर तेरा उससे उत्थान कैसे होगा? देख मत झुक बाहरी पदार्थों की ओर। यह भोग कठिन रोग है। सर्प के विष से भी कठिन विष है। इन विषयों की ओर, भोगों की ओर, साधन की ओर अपनी दृष्टि न फँसाकर धर्म की ओर दृष्टि कर।

धर्माश्रय बिना जीवन की शून्यता—भैया ! धर्म का तो कुछ ख्याल प्रत्येक मनुष्य करता है, पर सही रूप में कर सके तो लाभ है। किसी भी मनुष्य का धर्म का कुछ भी बाना पहिने बिना गुजारा नहीं हो सकता। किसी न किसी रूप में प्रत्येक मनुष्य धर्म का सहारा लेता है, परन्तु यथार्थस्वरूप में धर्म का सहारा मिल जाए तो बेड़ा पार हो जाता है। यथार्थस्वरूप क्या है? अपने आपको खोजो। मैं स्वयं अपने आप क्या हूँ? बस इतने निर्णय में ही आपको धर्म का दर्शन करना होगा। यह आत्मा भगवान साक्षात् सहजस्वयं धर्मस्वरूप है। इस धर्मस्वरूप आत्मतत्त्व का दर्शन करना ही धर्म का पालन है और इस धर्मपालन के प्रसाद से अन्तिम शुद्ध अवस्था उत्कृष्ट ज्ञानमय होने की है।

शुद्ध उपयोग के यत्न का अनुरोध—इस ग्रन्थ में अन्तिम अधिकार है शुद्धोपयोग का। अपना उपयोग शुद्ध रखा जाए। निज शुद्ध तत्त्व का उपयोग किया जाए तो यह उपयोग इतना विशुद्ध हो जाता है कि समस्त लोकालोक का जाननहार हो जाता है। यहाँ हम कितना जानते हैं और उसी पर गर्व मचाते हैं। हम यहाँ क्या आनन्द पाते हैं? झूठा मौज, भ्रम भर हर्ष। केवल भ्रम में ही उछलकूद मचाते रहते हैं। तेरा स्वभाव अनन्त आनन्द का है, जो सीमारहित है, जिसका कभी विनाश भी नहीं हो सकता। पूर्ण निराकुलता का तेरा स्वभाव

है। अपने इस स्वभाव को न देखकर बाहरी पदार्थों में दृष्टि फँसाकर व्यर्थ क्लेश कर रहा है। यह नियमसार अर्थात् शुद्ध रत्नत्रय मुक्ति का कारणभूत है। उस नियमसार का फल परमनिर्वाण है। इसकी रचना कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने प्रवचन की भक्ति से की है। जिस परमागम से उनका उपकार हुआ है, उस परमागम के प्रति कृतज्ञ होकर परमागम की भक्ति से उनकी यह रचना हुई है। इस मार्ग पर जो चलेगा वह भव्य जीव निर्वाण को प्राप्त करेगा। हम आचार्यजनों के करुणामयी श्रम का लाभ उठायें, अपने शुद्ध स्वरूप की दृष्टि करें और इस शुद्ध आत्मतत्त्व के दर्शन से अपने इस दुर्लभ धर्मसमागम को सफल करें।

गाथा 186

ईसाभावेणपुणो केई णिदंति सुंदरं मग्गं।

तेसिं वयणं सोच्चाऽभत्तिं मा कुणह जिणमग्गे।।186।।

कितने ही अनेक पुरुष ईर्ष्या भाव करके ऐसे सुन्दर जैनमार्ग की आत्मसिद्धि के मार्ग की निन्दा करते हैं। हे भव्य जीवो ! उनके उन अश्रद्धापूर्ण वचनों को सुनकर तुम जैनशासन से अप्रीति मत करो।

अज्ञानी जनों की दशा—जो मन्द बुद्धि हैं, जिनका होनहार अथवा संसार बहुत विकट पड़ा हुआ है—ऐसे पुरुष मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र में लीन रहा करते हैं। जीव का स्वरूप ज्ञानदर्शन स्वरूप, अमूर्तिक, सबसे न्यारा है, लेकिन मोह में यह प्राणी अपने आपको देहमय मानता है और सब पदार्थों में रलामिला हुआ समझता है। शरीर उत्पन्न होता है तो मान लेता है कि मैं उत्पन्न हुआ। शरीर मरण करता है तो मान लेता है कि मैं मरा। जो रागद्वेषादिक भाव, विषय-कषाय इस जीव को दु:ख देने वाले हैं उन्हें सुखमयी मानता है। किसी पर रोष आ जाय तो रोष करने में चैन मानता है, रोष को समाप्त नहीं कर पाता है। घमंड का परिणाम आ जाय तो मान कषाय के बनाने में यह अपना हित समझता है, मायाचार, छल, कपट के परिणाम में यह अपना हित और बड़प्पन मानता है, तृष्णा लोभ के वशीभूत होकर यह चैन समझता है, ऐसी मिथ्या जिसे बुद्धि हो गयी वह पुरुष ज्ञान और वैराग्य से प्रीति कहाँ से करेगा? आत्मा को आनन्द देने वाला परिणाम ज्ञान और वैराग्य है। उससे तो इसकी विमुखता है और विषय कषायों की ओर यह झुकता हैं।

मोही जगत की रुचि—यह सारा जगत् पुण्यपाप का फल है। यहाँ यह मोही जीव पुण्य का फल वैभव-समागम पाकर अपनी जीत समझता है। मैं सबसे श्रेष्ठ हूँ, विजयी हूँ और पाप के फल जो दरिद्रता, रोग, इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग या तिर्यञ्च आदिक के जन्म लेना आदि हैं, इनको पाकर यह जीव दु:खी होता है और पाप के फल में अपनी हार समझता है। इच्छा भी इन समस्त क्लेशों की जनक है। लोग इच्छा करके अपने को मौज में समझते हैं। उन इच्छावों की पूर्ति के लिए भारी श्रम भी करते रहते हैं, इन्हें आत्मीय आनन्द की कुछ खबर नहीं है। यह मैं आत्मा स्वभावत: जिस स्वरूप में हूँ तैसा इसका व्यक्तरूप भी प्रकट हो सकता है, इसकी ओर इसकी दृष्टि नहीं है और यह आकुलतामय संसार में ही रमने की इच्छा रखता है। यों मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान से पीड़ित यह संसारी प्राणी विषयभोगों में ही रमण कर रहा है। ऐसे कुबुद्धिजन संसार बढ़ाने वाले दुराचार की ही तो प्रशंसा करेंगे और संसार के संकटों से छुटाने वाले जैनमार्ग की निन्दा करेंगे। उनको सदाचार से ईर्ष्या होती है और व्यसनों से, पापों से प्रीत जगती है।

अज्ञानियों का बुद्धिव्यामोह—जैसे कोई शिकारी पुरुष मार्ग में किसी साधु के दर्शन कर ले तो वह साधु से ईर्ष्या करता है, आज मेरा शकुन बिगड़ गया, मुझे शिकार न मिलेगा। वह साधु से ईर्ष्या करने लगता हैं। पर साधु जो संसार, शरीर और भोगों से विरक्त है, जिसकी केवल आत्मकल्याण की ही धुन है क्या ईर्ष्या का

पात्र है? लेकिन शिकारीजन, पापीजन साधुवों से भी ईर्ष्या करते हैं। यों ही यह सारा जगत जो मायाजाल से बेड़ा हुआ है वह जैनमार्ग की निन्दा कर ही रहा है। यह सब मिथ्यात्व कर्म के उदय का प्रताप है। उन मुग्ध जीवों को आत्मा के शुद्ध रत्नत्रय धर्म की खबर नहीं है। खुद में ही क्या प्रताप पड़ा है, खुद ही में क्या रत्न भरे हुए हैं, इसकी सुध इन ज्ञानीजनों को नहीं है। इसी में शुद्ध आत्मधर्म की ये निन्दा करते हैं।

आत्मा का विकल्पमय स्वरूप—यह मैं आत्मा त्रिकाल निरावरण हूँ, अर्थात् अपने सत्त्व के कारण जैसा स्वभाव रखता हूँ उस चैतन्यस्वभावमय हूँ। इस स्वभाव का परिवर्तन नहीं हुआ करता है। यह मैं आत्मा नित्य आनन्दस्वरूप हूँ। मुझमें क्लेशों का नाम भी नहीं है स्वभावत:। क्लेश तो बना-बनाकर किए जाते हैं। स्वरसत: मैं आनन्दघन हूँ। यह मैं आत्मतत्त्व निर्विकल्प हूँ, रागद्वेष, संकल्प-विकल्प का इस आत्मतत्त्व में अभाव है। ये विकल्प मायारूप बनकर प्रकट हो रहे हैं। मैं तो निरुपाधि हूँ, यह मैं कारण परमात्मतत्त्व समस्त शुद्ध विकास के प्रकट करने में एक धातु स्वरूप हूँ। ऐसे इस शुद्ध परमात्मतत्त्व का जब सम्यक् श्रद्धान हो, यथार्थ परिज्ञान हो और ऐसा ही ज्ञाताद्रष्टारूप रहने का पुरुषार्थ जगे तो वह रत्नत्रय सत्य आनन्द को प्रकट करने वाला है।

अज्ञानियों के निन्दित वचनों से हितमार्ग में अभक्ति न करने का संदेश—मिथ्यादृष्टि जीव को शिवस्वरूप शुद्ध रत्नत्रय की सुध नहीं है सो सहज स्वरूप की दृष्टि न होने से यह जीव मिथ्यात्व कर्म के उदय के कारण ईर्ष्याभाव से इस जैनमार्ग की निन्दा किया करता है। ओह ! इस मार्ग में कष्ट ही कष्ट है, क्यों वर्तमान सुख को छोड़कर तप करें, संयम करें, कष्ट दें। अरे ! मौज से जब चाहें खायें पियें। ये सब इसीलिए तो हुए हैं। ऐसी मन की स्वच्छन्दता बनाकर जैनमार्ग की, संयम धर्म की विषयासक्त जन निन्दा करते हैं। लेकिन हे भव्य पुरुषो ! उनके इन वचनों को सुनकर तुम जैनमार्ग में अभक्ति मत करो। यह मार्ग पाप कार्यों का परिहार कराने वाला है।

जैनमार्ग का मूल अनुशासन—जैनमार्ग का मूल भाव यह है कि हे भव्य जीवो ! अपने स्वरूप को संभालो और समस्त पाप क्रियावों का परिहार करो। देखो जो तुम्हारे स्वभाव की बात है वह तो धर्म है और स्वभाव से विरुद्ध जो भी क्रिया चलती है जिसमें शुद्ध चैतन्य का चमत्कार नहीं बसा है किन्तु तरंगे उठती हैं वे सब अधर्मभाव हैं। सर्वज्ञ वीतराग का मार्ग यह ज्ञानमार्ग है, निर्दोषमार्ग है। कषायों का त्याग और शुद्ध ज्ञानप्रकाश का परिणमन इस ही की शिक्षा यह जैनधर्म देता है। यह धर्म परमार्थ से तो शुद्ध ज्ञायकस्वरूप के श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप है, पर इसकी प्राप्ति के लिए जो 7 तत्त्वों का श्रद्धान् किया जाता है जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—इन 7 तत्त्वों का यथार्थस्वरूप श्रद्धा में लिया जाता है और इसका यथार्थ परिज्ञान करके जो हेयतत्त्व हैं उनका त्याग किया जाता है और जो उपादेय तत्त्व हैं उनको ग्रहण किया जाता है। यही व्यवहारधर्म है, ऐसे व्यवहारधर्म और निश्चयधर्मरूप जैनमार्ग की अबुद्धिजन जिन्हें विषय कषायों में ही अपना महत्त्व नजर आता है वे अपवाद करते हैं।

विशुद्ध मार्ग की भक्ति का अनुरोध—आत्मश्रद्धाहीन पुरुष स्वयं विकल हैं। उन्हें अपने स्वरूप का भान ही नहीं है। इसी कारण वे खोटे तर्क, खोटी दृष्टियाँ लगा-लगाकर कुतर्क पैदा करते हैं। उनके वचनों को सुनकर हे हितैषी जीवो ! तुम आत्महित के मार्ग में अभक्ति मत करो, जिनेश्वर की दिव्यध्वनि की परम्परा से चले आये हुए इस शुद्ध रत्नत्रय के मार्ग में भक्ति ही बनाओ। इस लोक में हमारा शरण साथी कोई नहीं है, केवल एक हमारा शुद्ध आत्मा ही शरण है। एक निर्णय बनावो अपने जीवन में। पालन हम उस निर्णय का कितना कर पाते हैं? जितना बने सो करें, पर निर्णय में कभी भी भूल न करें। मेरा निर्मल परिणाम होगा तो मुझे कहीं क्लेश नहीं है, मेरा ही स्वयं मलिन परिणाम होगा तो चाहे कोई क्लेश देने का निमित्त भी न मिले तो भी मुझे अंत में दु:ख ही रहेगा। अपने आपको आनन्दमय बनाने के लिए सर्वप्रथम यह कर्तव्य है कि अपनी श्रद्धा व ज्ञान अटल बनावें।

संसार महावन—यह लोक देहों के समूह रूप वृक्ष-पंक्तियों से भयंकर है। जैसे वन भयानक वही होता है जिसमें अनेक वृक्ष खड़े हुए हैं, ऐसा ही हमारा यह संसार-वन है। इस वन में ये सब जो देह नजर आ रहे हैं ये वृक्ष—पंक्तियों की तरह बड़े भयंकर हैं। इस संसाररूपी वन में दु:ख-परम्परारूपी जंगली पशु रहा करते हैं। यहाँ दु:खों का कुछ ठिकाना है क्या? दु:ख कल्पना से ही तो होते हैं और कल्पना जब चाहे जैसी उठा लो। उसी कल्पना से दु:ख उत्पन्न होने लगेगा। बचपन में ये कल्पनाएँ रहीं, हम बड़े नहीं हुए, हम हर बात को तरसते रहते हैं। ये किस ठाठ से कैसे अपने बड़प्पन में रह रहे हैं। बड़ों की बात देख-देखकर यह मन ही मन कुढ़ता रहा। बड़े हुए तो बड़े के दु:ख बड़े ही जानें। कितनी गृहस्थी की चिन्ता, कोई अनुकूल प्रतिकूल हुए तो उनका विषाद और जैसे-जैसे घर में फँसते जाते हैं, गृह के सदस्यों की संख्या बढ़ती जाती है तो विपत्तियाँ बढ़ती जाती हैं। पहिले तो बच्चे को तरसते थे, हमारे बच्चे नहीं हैं और जब चार छ: बच्चे हो गये तो अब उनको न्यारे-न्यारे करने के समय में कितना क्लेश उठाना पड़ता है। बच्चों की मांग अटपटी रहती है, सारा वैभव मुझे मिल जाय ऐसा चाहते हैं। उनका कषाय, उनका वचनव्यवहार सुन-सुनकर, देख-देखकर इसे बड़ा दु:खी रहना पड़ता है और भी इस जीवन में अनेक कष्ट समय-समय पर होते रहते हैं। कोई कष्ट समाज की ओर से है, कोई कष्ट पंचों की ओर से है, कोई कष्ट स्त्री-पुत्र की ओर से है, कोई कष्ट पडौसियों की ओर से है। और मान लो सब कुछ सम्पन्नता हो तो यही सोचकर वह अपना कष्ट बढ़ा लेता है कि इस लोक में सर्वत्र मेरा एकक्षत्र यश नहीं फैल रहा है। दु:ख तो सर्वत्र भरे ही पड़े हैं ना? ऐसे इन दु:ख-परम्परारूपी जंगली पशुवों का जहाँ निवास है—ऐसे देहरूप वृक्ष से भयंकर यह वन है।

ढाक के तीन पात—इस संसार वन में यह कालरूपी अग्नि सबका भक्षण कर रही है। होता ही क्या है यहाँ? जन्मे, तरसे, मरे। तीन ही तो यहाँ काम हैं—जन्म लें, तृष्णा कर करके विषय-कषाय करके दु:खी हों और मरण करें। फिर जन्म ले, फिर दु:खी हों, फिर मरण करें। इन तीन बातों के सिवाय और यहाँ रक्खा क्या है? इस संसारवन में बुद्धिरूपी जल सूख रहा है। ज्ञान तो ठीक-ठीक काम ही नहीं करता। अज्ञान के वश होकर विषय—कषाय, देह कर आराम, देह का सुखियापन इन सभी बातों की तृष्णा में अपने आपको दु:खी कर डाला है। इन जीवों के सम्यक श्रद्धान नहीं है, इनकी बुद्धि भ्रष्ट हुई है।

कल्याणार्थी की मुख्य असुविधा—इस संसारवन में कोई कल्याण की, सत्यानन्द की भी चाह करे, विषय कषायों के दु:ख से ऊबकर कुछ यह भी भावना बनाए कि मैं सब दंदफंदों को त्यागकर आत्मा का कल्याण करूँ तो आत्मकल्याण के लिए यह जब उद्यम करता है नाना धर्म, नाना बातें, नाना मार्ग सामने आते हैं। कोई शास्त्र, कोई गुरु कुछ कहते हैं और कोई शास्त्र, कोई गुरु कुछ कहते हैं, यह परेशान हो जाता है। यहाँ कुनय मार्गों का बड़ा फैलाव है। जैसे कोई भयानक जंगल में फँस गया हो और उस जंगल से निकलने का मन में भाव करता हो तो वहाँ छोटी-छोटी अनेक पगडंडियाँ हैं, वे कभी किसी पगडंडी से चलते हैं, यों घूम-घूमकर जहाँ का तहाँ ही रहा करता है। उसे उस भयानक जंगल से छुट्टी नहीं मिलती है। ऐसे ही इस संसाररूपी भयानक वन में कुछ कल्याण की यह चाह करे तो यहाँ कुनय की पगडंडियाँ अनेक पड़ी हुई हैं। कोई कभी किसी मार्ग पर चलता है, थोड़ी देर में उस पर विश्वास नहीं जमता तो दूसरे मार्ग पर चलता है। विश्वास कहीं नहीं जमता तो यों मार्गों को बदल-बदलकर अपना जीवन खो देता है।

अपना शरण—महान दुर्गमतम इस संसाररूपी वन में अन्य कौन शरण है? सो बतावो। किस जीव की शरण जाय? कहीं भी जायें तो शरण नहीं मिलती है, बल्कि धोखा ही मिलता है। शान्ति नहीं मिल पाती है। किसकी शरण जाएँ कि आत्मा को शान्ति मिले? खूब सब पदार्थों की खोज तो कर लो। स्त्री की शरण जावो तो शान्ति की शरण मिलेगी क्या? अरे, वहाँ से भी ऊब जावोगे, वह थोड़ी देर का राग-भरा एक प्रवाह है, इसलिए उस ओर झुकाव होता है, किन्तु कुछ समय उस झुकाव में रहकर खुद ही अनुभव कर लोगे कि

यहाँ शान्ति नहीं है, ऊब हो जाएगी। कौनसा पद ऐसा है इस लोक में कि जहाँ जावो तो अपना सच्चा शरण मिल जाए? कहीं कुछ शरण नहीं है। एक मात्र रागद्वेष के जीतनहारे भगवान के द्वारा प्रणीत यह जैनदर्शन ही शरण है, जो दर्शन वस्तु की स्वतंत्रता को दर्शाता है।

वस्तुस्वातन्त्र्य के निष्पक्ष दर्शन से मोहियों को अरुचि—प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप-किले को मजबूत बनाए हुए है। इसमें किसी भी परपदार्थ के द्रव्यगुणपर्याय का त्रिकाल भी प्रवेश नहीं हो सकता है। स्वयं स्वरक्षित समस्त पदार्थ हैं। यह मैं आत्मा भी ज्ञानदर्शनस्वरूप अपने ही प्रदेशों में शाश्वत रहने वाला स्वयं स्वरक्षित हूँ। मेरी सत्ता का कौन विघटन कर देगा? यह मैं ही अपने आपको आरक्षित मानकर परपदार्थों से मुझे सुख होता है, परपदार्थों के सम्पर्क से मेरे को ज्ञान बढ़ता है, ऐसी भ्रमबुद्धि करके मैं स्वयं आकुलित होता हूँ। परन्तु मैं आत्मा सदैव स्वरक्षित हूँ। ऐसे वस्तुस्वातन्त्र्य की सुध करने वाला यह दर्शन, परमसमाधि का सत्य उपाय बताने वाला यह दर्शन है। इस दर्शन की मोहीजन कैसे प्रशंसा कर सकेंगे? पापियों को पापियों की गोष्ठी में ही रहना सुहाता है, धार्मिकों को धार्मिकों की गोष्ठी में ही रहना सुहाता है। यह जगत मोहियों का जाल है। इस मोही जीव का शुद्ध मार्ग में प्रेम नहीं हो सकता।

अपनी और पुराण पुरुषों की सुध—भैया ! अपने आपकी सुध कराने वाला यह जैनदर्शन भले ही मोहियों के द्वारा निन्दित हो रहा हो, लेकिन तुम यदि आनन्द चाहते हो, अपने आत्मा का उत्थान चाहते हो तो उस निन्दा के वातावरण को देखकर इस जैनमार्ग में अश्रद्धा मत करो। इस मार्ग का अनुसरण करने वाले जो अपने कुलपरम्परा के पुराण-पुरुष हुए हैं उनकी भी सुध लो। इस तीर्थ परम्परा में वर्तमान अवसर्पिणीकाल के तीर्थंकरों में सर्वप्रथम श्री ऋषभदेव हुए हैं, तब से लेकर श्रीमहावीर पर्वत तीर्थंकर हुए हैं। इस परम्परा को देख लो और तीर्थंकर काल के अनेक सेठ, राजावों, महाराजावों को देख लो, जिन्होंने इस जैनदर्शन का, तपश्चरण का आदर किया था, उसके प्रताप से वे सदा के लिए निर्वाण पधारे। इन जैनश्वरों का स्तवन करने में बड़ी सामर्थ्य है। यदि इनका अभ्युदय न होता तो आज हम इन आध्यात्मिक वचनों को कहाँ सुनते, कहाँ धारण कर सकते थे?

शुद्ध मार्ग के अनुसरण की शिक्षा—जैसे जगत के अन्य मनुष्य निरन्तर विषय—कषायों में उन्मत्त हो रहे हैं—ऐसी उन्मत्त अवस्था तो अपनी भी थी। उससे छूटकर आज जो इतने धर्म के वातावरण में आए है, ज्ञान और वैराग्य के बल से कभी-कभी शान्ति पाने के पात्र होते हैं, यह सब जिनेश्वरों की अपार अनुकम्पा का फल है। हम भक्तिपूर्वक प्रभु का वन्दन करते रहें और अपने आत्मा में नित्य अन्त:प्रकाशमान् इस शुद्ध चैतन्य—ज्योति का स्मरण करते रहें। इन छोटे विषय-भोगों में, संसारसमागम में न बँध जायें, अपने आपको सँभाल लें तो इससे अपना कल्याण है। इस नियमसार ग्रन्थ के अन्तिम प्रसंग में इस गाथा में शिक्षा दी गई है भव्य जीवों को कि तुम शुद्ध मार्ग का निर्णय करो और उस पर दृढ़ता के साथ चलो, फिर किसी के डिगाने पर भी मत डिगो। इस प्रकार जैनमार्ग का अनुसरण करने का शिक्षण इस गाथा में किया गया है।

गाथा 187

णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसाणामसुदं।

णच्चा जिणोवदेसं पुव्वावरदोसणिम्मुक्कं।।187।।

ग्रन्थनिर्माण में ग्रन्थकर्ता का आशय—नियमसार ग्रन्थ की यह अन्तिम गाथा है। इसमें कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने ग्रन्थनिर्माण का अपना आशय बताया है। मैंने यह नियमसार नाम का शास्त्र अपनी आत्मभावना के लिए

बनाया है और वह भी पूर्वापर दोष से रहित है जैसा कि जैनेन्द्र का उपदेश है। इससे पहिले 185 वीं गाथा में कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने अपनी नम्रता प्रकट करते हुए कहा था कि मैंने नियम और नियम के फल का वर्णन किया है, रत्न व रत्न के फल का वर्णन किया है। यदि इसमें पूर्वापर कोई विरोध हो तो सिद्धान्तवेत्ता साधुजन उसकी पूर्ति करें। यह उनका एक अपनी लघुता अपने मुख से दर्शित करने वाला वाक्य है। पूर्वापर दोष न होने पर भी कितनी विनयशीलता का इसमें परिचय दिया गया है। अब इस श्लोक में तो बताया है कि पूर्वापर दोष से रहित है, वह अपनी महत्ता बताने के लिए नहीं बताया है। यहाँ आचार्यदेव ने अपने लिए यह विशेषण नहीं कहा है कि मैंने पूर्वापरदोष से रहित ग्रन्थ बनाया है, किन्तु जो परम्परा से आगत जिनेन्द्र का उपदेश है, वह पूर्वापरदोष से रहित है।

नयवाद के योग्य उपयोग से रहित श्रोताओं की दृष्टि में पूर्वापरविरोध की संभावना—पूर्व गाथा से हम आपको यह भाव न लेना चाहिए कि भगवान कुन्दकुन्दाचार्य के वचनों में पूर्वापर दोष नहीं है, किन्तु शब्द स्वयं अपना अर्थ तो बताते नहीं हैं। शब्द तो शब्द ही हैं। उनके अर्थ के जाननहार हम आप सभी हैं। किसी शब्द का कुछ भी अर्थ लगाया जा सकता है अथवा जैनसिद्धान्त में नयवादपूर्वक ही व्याख्या होती है। तो नयों की खींचातानी अथवा शब्दों की द्वयर्थता अथवा जाननहार की अल्पबुद्धि आदि कारण से ग्रन्थ में पूर्वापर विरोध मालूम हो सकता है और इसी कारण विवाद हो सकता है। इस ही ग्रन्थ में तथा समयसार और प्रवचनसार ग्रन्थ में भी जगह-जगह ऐसा देखने को मिलेगा जैसे कि अब इस गाथा में यह कह रहे थे, अब इस गाथा में यह कहा गया है अथवा एक ही गाथा में पहिली पंक्ति में यह बताया है, दूसरी पंक्ति में यह बताया है। सुनने में सीधा विरोध-सा मालूम होता है, लेकिन विरोध रंच नहीं है। नयवाद का ठीक ढंग से प्रयोग करने पर, समझने पर सब विरोध मिट जाता है।

पूजा का ही एक प्रकरण ले लो। इस पर ही व्याख्यान दिया जाए, पूजा के गुण बताए जायें—ऐसा भी प्रकरण हो सकता है और ऐसा भी प्रकरण हो सकता है कि देखो यदि आत्मदर्शन की बात बीच-बीच में नहीं आती है तो यह पूजा करना केवल परिश्रम है, ऐसा भी प्रकरण आ सकता है। अब इन दो बातों में से एक बात को लोग अपने-अपने लिए पुष्ट करेंगे। तो इस प्रकार विरोध सम्भव है, यहाँ तो उनकी लघुता में बतायी गयी बात का अर्थ लेना चाहिए।

योग्य कृति से कृतार्थता का अनुभव—कुन्दकुन्दाचार्यदेव करीब-करीब 100 अध्यात्मशास्त्रों के कर्ता होंगे। 84 पाहुड़ तो प्रसिद्ध ही हैं। ऐसे परम अध्यात्मशास्त्रों के परिज्ञान और रचना में कुशल कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने जो यह नियमसार नाम का शास्त्र बनाया है, सो उसमें अन्त में मानों एक बड़े संतोष के साथ यह अन्तिम गाथा बोल रहे हैं। कोई काम प्रारम्भ किया जाए और उस कार्य की सफलता मिल जाए, अन्त तक उसे निभा लें, प्रारम्भ किए हुए सभी कर्मों का यदि अन्त तक निभाव होता है तो अपने आपमें कृतार्थता का अनुभव होता है।

तीन प्रकार के व्यवहारी—जघन्य श्रेणी के पुरुष विघ्नों के भय से काम का प्रारम्भ नहीं करना चाहते। उनके ऐसा संदेह बना रहता है कि इनमें ऐसा विघ्न आए तो क्यों करना? विघ्न के भय से कार्य प्रारम्भ न करो। मध्यम श्रेणी के जन कार्य का प्रारम्भ करते हैं, विघ्नों का भय भी नहीं करते, किन्तु दृढ़ता के साथ अन्त तक नहीं निभा पाते और उत्कृष्टजन जिस काम की उनकी धुन हो जाए, जो हितकारी हो, उसको अन्त तक निभाते हैं।

ग्रन्थरचना का मूल लक्ष्य—कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने इस नियमसार नामक श्रुत को प्रारम्भ किया और जो उनका व्यक्तव्य था, शुद्ध चैतन्यस्वभाव की दृढ़ दृष्टि करते हुए निश्चयाचार में कुशल बनकर निर्वाण प्राप्त करना बताने जैसा उपदेश था, बताया और उससे सन्तुष्ट होकर अब अन्तिम गाथा में यह कह रहे हैं कि मैंने इस

ग्रन्थ को आत्मभावना के लिए बनाया है। मर्मपूर्वक ज्ञान किसी कुशल गुरु के प्रसाद बिना नहीं प्राप्त होता है, सो यह भी प्रकट करते जा रहे हैं कि श्री परमगुरु के चरणकमल के, गुरु के प्रसाद से तत्त्व को जानकर यह श्रुत भाषा है। देखिये भैया ! श्रद्धा में यह है कि कलम में कलम है, स्याही में स्याही है, देह में देह की क्रिया है, आत्मा में आत्मभाव की परिणति है, पर निमित्तनैमित्तिक योग का फैलाव तो देखो, सभी वस्तुवों में काम उनमें अपनी-अपनी योग्यता से चल रहा है। एक आत्महितकारी धर्ममार्ग पर चलने की जिसके भी धुन हुई हो, जो काम निर्दोष निच्छल है, उसी काम में जो प्रवीण पुरुष हो, वह वस्तुतत्त्व का जो ज्ञाता है, उस कल्याणपथ पर जो चलना चाह रहे हैं—ऐसे श्रीकुन्दकुन्ददेव कह रहे हैं कि परमगुरुवों के प्रसाद से इस जिनोपदेश तत्त्व को जान करके यह नियमसार श्रुत किया गया है।

परमागम की प्रामाणिकता—यह भगवान का उपदेश परमप्रामाणिक है, क्योंकि इसकी परम्परा एक निर्दोष वीतराग स्रोत से निकली है। अरहंत प्रभु सर्वज्ञ हैं और वीतराग हैं, जिनकी मूर्ति पंचकल्याणक समारोह से प्रतिष्ठित करके हम आप उस मूर्ति के समक्ष अपना धार्मिक भाव बढ़ाते हैं। भला बतावो जिसकी मूर्ति बनाकर पूजें, उनके प्रति हमारी कितनी बड़ी आस्था कहलायेगी? जब प्रभु के प्रति भक्ति तीव्र जगती है तो प्रभु की मूर्ति बनाकर हम अपने को भक्ति करके कृतार्थ मानते हैं। भला जब लौकिक कार्यों में भी पिता, दादा, बाबा आदि जो घर-गृहस्थी के सुधार में उपयोगी हुए हैं, उनके गुणों के स्मरण से प्रेरित होकर फोटो, तैलचित्र बनाये बिना नहीं रहते, जो तीन लोक के गुरु हैं, तीन लोक के इन्द्रों द्वारा जो वंदनीय हैं—ऐसे प्रभु की भक्ति में यह मूर्ति की परम्परा अनादि से चली आयी है। जिस प्रकार अब का बीता चतुर्थकाल था, उसमें धर्मपरम्परा चल रही थी—ऐसे चतुर्थकाल अनेक बार हो चुके हैं और यह धर्मपरम्परा भी अनादि से है।

जैनदर्शन की सर्वव्यापकता—जैनधर्म का दूसरा नाम आप वस्तुधर्म कहें अथवा आत्मधर्म कहें तो वह भी युक्तिसंगत है। जैसे पदार्थ अनादि काल से है, वैसे ही पदार्थों का स्वभाव अर्थात् धर्म भी अनादि काल से हैं। आत्मा अनादिकाल से है तो आत्मा का स्वभाव अर्थात् धर्म भी अनादिकाल से है। उस धर्म की दृष्टि करना, रुचि करना, धर्मरूप अपना परिणमन करना यही धर्म है और इसी को जिनेन्द्रदेव ने प्रतिपादित किया है, इसी कारण इस उपदेश का नाम, इस शासन का नाम जैनधर्म हो गया है। जो वस्तु में बात हो, उसको बताना, यह जैनशासन का प्रण है। इसी कारण जैनशासन में पूर्वापर कहीं विरोध नहीं आता। हम अपनी कल्पना से कोई नियम बनाएँ, कोई वस्तु की चर्चा करें और उसमें उसके अनुसार बाहर में व्यवस्थाएँ बनाएँ तो अनेक बार पूर्वापर विरोध आएगा।

जैनदर्शन का वस्तुगततत्त्व के निरूपण का प्रण—जैसे जनता की निर्विघ्नता के लिए जो योग्य वृत्ति चलती है और चलना चाहिए, उसे देखकर जो कानून बनाया जाता है, वह कानून तो निर्विरोध सफल होता है और अपनी स्वच्छन्दता से कानून बनाएँ जाएँ, जनता में ठीक बैठें या न बैठें, देश के अनुकूल न्याय हो अथवा न हो, ऐसा कानून बनाकर पालन कराया जाए तो वह मुश्किल हो जाता है। जो पदार्थ में धर्म, शील, स्वभाव हो, उसी को जैनधर्म बताता है; आत्मा में, परमात्मा में जो गुण और परिणमन है, उसको बताता है यह जैनशासन; तथा अपनी भलाई के लिए हमें किस गुण और परिणमन की रुचि करनी चाहिए इसे बताता है जैनशासन, इस कारण इस जिनेन्द्र उपदेश में पूर्व अथवा ऊपर में कहीं भी दोष नहीं पाया जाता। बच्चों को पढ़ाई जाने वाली बालबोध जैसी छोटी किताब और बड़े धुरन्दर विद्वानों की चर्चा में आने वाले बहुत बड़े शास्त्र उनमें भी कहीं परस्पर विरोध नहीं है। यह सब नय की कुशलता का परिणाम है।

धर्मपरिज्ञान में जैनी पद्धति की उपयोगिता—भैया ! कहीं भी कुछ ऐसा जँचे कि समयसार ग्रन्थ में तो यों लिखा है कि एक चैतन्यस्वभाव ही जीव है त्रस और स्थावर, एकेन्द्रिय आदिक बादर, सूक्ष्म आदिक ये सब जीव नहीं हैं और बालबोध में तो यह पढ़ा है कि जो चले-फिरे, उठे-बैठे वह जीव है, जो खाये पिये वह जीव

है और समयसार में यह लिखा है कि यह जीव नहीं है, एक चैतन्यस्वभावी जीव है। तो यह विरोध हुआ ना? विरोध नहीं है, नयवाद का उचित प्रयोग करें। व्यवहारदृष्टि से ये सब जीव हैं तो खाते-पीते, उठते-बैठते, चलते-बढ़ते हैं। निश्चयदृष्टि से जीव वह है जो शाश्वत रहा करे, ये तो परिणमन मिट जाते हैं, ये परिणमन जीव नहीं हैं। बालकजन अथवा धर्म की जानकारी में प्रथम प्रवेश करने वाले जन इस ही पहिली पदवी में हैं कि उन्हें व्यवहारदृष्टि के कथन द्वारा समझाया जाए। बाद में कुछ प्रवीणता होने पर परमार्थदृष्टि से समझाया जाए। फिर वे व्यवहार परमार्थ दोनों का अपने-अपने स्थान में उपयोग की श्रद्धा कराकर दोनों पक्षों को छोड़कर एक शुद्ध निर्विकल्प समाधिभाव में लगें, वह है जैनी पद्धति की उपयोगिता।

आप्तवचन की निर्दोषता—यह जिनेन्द्र-उपदेश भगवान आप्त के मुख से निकला हुआ है अर्थात् प्रभु की दिव्यध्वनि से चला हुआ है। आप्त का हिन्दी में अर्थ है पहुँचे हुए और संस्कृत में अर्थ है आप्त। किसी मनुष्य की प्रशंसा करनी हो तो साहब यह तो बहुत पहुंचे हुए पुरुष हैं अर्थात् बड़े ज्ञानी हैं और उपकार के क्षेत्र में भी यह साहब उलझनों से रहित सुलझे हुए दिमाग के हैं, यह अर्थ पहुँचे हुए का लोग समझते हैं। ये अरहंत भगवान तो सर्वोत्कृष्ट पहुंचे हुए हैं, वीतराग होने से इनके कोई उलझन नहीं रही और सर्वज्ञ होने से कोई अयथार्थ वचनों का संदेह नहीं, पूर्वापर दोष तो वहाँ हो जाता है जहाँ मोह, रागद्वेष वर्त रहा हो जिससे कभी कुछ कह दें, कभी कुछ कह दें। इस कारण जिनके ज्ञान की निर्मलता न बनी हो उनके ही सम्भव है कि पूर्वापर दोष आ जाय। पर प्रभु वीतराग हैं, सर्वज्ञ हैं अतएव उनकी जो वाणी है, दिव्यध्वनि है और उसकी परम्परा से चला आया हुआ आगम आज भी जो हम पढ़ा करते हैं वह सब निर्दोष है।

जैनदर्शन में विपरीत कथन का अटिकाव—यद्यपि दुर्भाग्य से अनेक पुरुषों ने इस निर्दोष शासन में भी अपने मन से मनगढंत बातें लिख दी हैं लेकिन जैसे असली रत्न में नकली रत्न छुपते नहीं हैं, प्रकट हो जाते हैं ऐसे ही थोड़ा भी विवेक बनायें तो उसमें भी यह प्रकट हो जायेगा कि इस पुस्तक में इतनी बात रागद्वेषवश लिखी है और यह बात शुद्ध है। कदाचित यह शंका की जा सकती है कि न जान सकें हम इतना तो? न सही, मगर नकली चीज की परम्परा न चल सकेगी। कहीं पर अगर रागद्वेष बढ़ाने का कथन हो तो उसकी परम्परा नहीं चल सकती। जो वीतरागता को पुष्ट करने वाला कथन है, जो भगवान आप्त द्वारा कथित कथन है उसकी परम्परा चलती है। एक तो यही पहिचान है। दूसरी पहिचान यह है कि जो स्याद्वाद की मुद्रा से मुद्रित वचन हो, जिन वचनों पर स्याद्वाद की छाप लगी तो वे प्रभु की परम्परा के वचन है, और जिनमें स्याद्वाद की छाप न हो वे अमान्य वचन हैं।

आत्मभावना—कुन्दकुन्ददेव ने इस नियमसार शास्त्र में क्या कहा है, उस सबका वर्णन अभी संक्षेप में थोड़ा सा किया जायेगा, जिसमें एक बार उसका आलोड़न करने से गत समस्त प्रतिपादन सामने आ जायें। यहाँ तो कुन्दकुन्दाचार्यदेव अपने कार्यसिद्धि की प्रसन्नता में संतोष की श्वास के साथ यह बता रहे हैं कि मैंने यह ग्रन्थ आत्मभावना के निमित्त किया है, जो बात कही जा रही हो उसके साथ अपने भाव चलते हैं, जो आत्मा के आन्तरिक मर्म की बात कही जायेगी उसमें अपना उपयोग बहुत विशुद्ध बनाए बिना यह काम न हो सकेगा। जैसे कि आत्मा के आन्तरिक गुणों की बात जब हम सुनने बैठते हैं तो कितना विशुद्ध उपयोग बनाना पड़ता है, फिर जो प्रतिपादन करे उसे तो विशुद्ध बनाना ही होता है। और उसमें यह भावना उस समय नियम से रहती है कि मैं आत्मा की भावना चिरकाल तक बनाये रहूँ। केवल आत्मकल्याण की धुन और आत्मभावना वहाँ रहती है। नियमसार नामक शास्त्र का नाम लेकर शास्त्र का उपसंहार इस अंतिम गाथा में किया गया है। अब यह शास्त्र कैसा है और इस शास्त्र को किस विधि से हमें समझना चाहिए और इस शास्त्र के परिज्ञान से हम क्या लाभ पायेंगे, इन तीन बातों का वर्णन आगे आयेगा।

प्रायोजनिक तत्त्व के प्रतिपादन की विशेषता—नियमसार ग्रन्थ में नियम का और नियम के फल का वर्णन किया है, आत्मा का वास्तविक नियम सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप परिणमन करना है। और इस नियम का फल है, बाधावों से रहित शाश्वत, आनन्दमय निर्वाण को प्राप्त करना। ऐसे नियम और नियमफल का वर्णन करने वाला यह ग्रन्थ समस्त आगमों के अर्थसमूह का प्रतिपादन करने में समर्थ है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल 6 जाति के द्रव्यों का भी इसमें प्रसंग पा-पाकर वर्णन किया गया है। विशुद्ध मोक्षमार्ग का अर्थात् नियम का इसमें विशेषतया प्रतिपादन है। जब तक यह जीव वस्तु की स्वतंत्रता न ज्ञात कर ले, प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपमात्र है इतना जब तक श्रद्धान में न आये तब तक इसको कल्याण का मार्ग शुरू भी नहीं होता है। इसके लिए पंच अस्तिकायों का और काल सहित छहों द्रव्यों का ज्ञान होना चाहिए, उसका वर्णन इस ग्रन्थ में है।

आन्तरिक और व्यवहार आचारों के वर्णन की विशेषता—जीव ज्ञान, आनन्द आदिक अपने ही गुणों में तन्मय है। इस जीव का काम जीव से बाहर कुछ करने का नहीं है। कल्पनाएँ भले ही कोई करता जाय कि मैं अमुक काम करता हूँ, किन्तु यह आत्मा अपने गुणों के परिणमन के सिवाय अन्य कुछ नहीं करता। यह बात दृष्टि में आ जाय तो अभी अनेक दु:खों के बोझ दूर हो जायेंगे? यह ही अपनी स्वच्छन्दता बनाकर स्वयं दु:ख का बोझ बढ़ा रहा है। स्वयं कैसा है, इसका भान हो तो संकट इस पर नहीं मँडरा सकते। इस ग्रन्थ में इस शुद्ध आत्मा की उपलब्धि का कारण बताते हुए, उपाय कहते हुए 5 आचारों का विशेष वर्णन है, जिनका पालन करके यह आत्मा शुद्ध, सर्वज्ञ वीतराग बन जाता है। वे 5 आचार हैं—दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चरित्राचार, तपाचार और वीर्याचार। ये आचार आत्मा में हैं। लोकव्यवहार में जिसे लोक सदाचार कहते हैं उसका सम्बन्ध मनुष्यों से है, यद्यपि उन आचरणों में भी आत्मा से सम्बन्ध है, पर उसका प्रधान सम्बन्ध मनुष्य पर्याय से है और इन आचरणों का सम्बन्ध आत्मा से है।

मूलानुभव का प्रतिपादन व ज्ञानी की नि:शंकता व निर्वांछता—इन 6 द्रव्य, 7 तत्त्व, 9 पदार्थों का सही परिज्ञान करके, बाह्य की उपेक्षा करके अपने आपको ज्ञानानन्दस्वरूप अनुभव किया जाय तो इस परम विश्राम में जो शुद्ध निराकुलता का अनुभव होता है वह है आत्मानुभव। इस आत्मानुभव से सम्यक्त्व प्रकट होता है। उस सम्यक्त्व को प्राप्त करने के उपाय में अथवा उस सम्यक्त्व की स्थिति में 8 अंगों का पालन किया जाता है। सम्यग्दृष्टि पुरुष नि:शंक होता है, उसे कभी किसी बात का शोक नहीं होता है, वह तो जानता है कि मेरे स्वरूप में दु:खों का प्रवेश ही नहीं है। जहाँ यह दृष्टि बनी है कि मेरे धन आदि बढ़ें, संकट तो वहाँ ही अनुभव में आते हैं। और जहाँ इतना विशुद्ध ज्ञान हुआ कि मैं तो स्वयं ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, स्वरक्षित हूँ, अब पर्याय की जो बात बीतनी होगी बीत जायेगी, यदि ज्ञानबल बना हुआ है तो दु:खों का कहीं काम नहीं है। सम्यग्दृष्टि पुरुष विषयों के साधनों का निदान नहीं बाँधता, धर्म करके विषयों की वाञ्छाएँ नहीं करता। उनका धर्मकार्य भी शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए होता है। यदि यह उद्देश्य नहीं है तो शान्ति का मार्ग न मिल सकेगा। मुझे तो समस्त कर्मबन्धों से छूटना है ऐसा हमारा उद्देश्य होना चाहिए। इतना होने पर भी हमारा उद्देश्य केवल यही है कि मैं आत्मा अकेला जिस स्वरूप में हूँ तैसा ही बनकर रहूँ, मेरा एक यही उद्देश्य है, श्रम कुछ हो, पर उद्देश्य एक ही है।

निर्विचिकित्सादि अंगों की भावना—सम्यग्दृष्टि पुरुष बाह्य पदार्थों का जैसा स्वरूप है वैसा जानते हैं। वे तो परभावों में राग, द्वेष, क्षुधा, तृषा, वेदना आदिक में भी ज्ञाताद्रष्टा रहते हैं, वे उनमें आसक्त नहीं होते। वे दर्शनाचार के अंग कहे जा रहे हैं। ये कभी भी मिथ्यादृष्टियों के कुछ चमत्कारों को निरखकर उनकी ओर झुकते नहीं है। इन्हें दृढ़ श्रद्धान है कि मेरे आत्मा का आनन्द मुझमें ही है। मेरा सर्वस्व अपने में अपने आपके लिए है। सम्यग्दृष्टि पुरुष धर्म के अपवाद को नहीं सह सकते। धर्म का दोष जगत में जाहिर नहीं कर

सकते। धर्म में दोष नहीं होता, किन्तु कोई अज्ञानी किसी प्रकार चूक जाय और वेष में चल रहा हो तो सम्यग्दृष्टि पुरुष उसके दोष दूर करेंगे, जहाँ तक हो सकेगा उसकी असमर्थता को वे दूर करेंगे। धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि पुरुष दूसरे धमात्मावों को देखकर प्रेम से हर्षविभोर हो जाते हैं और उस पर कोई आपत्ति आए तो उसके वे सहायक बनते हैं। जिस प्रकार भी अपने आचरण से धर्म में प्रभावना हो सकती है प्रभावना करते हैं, ऐसे दर्शनाचार के 8 अंगों का पालन करते हुए भी ये ज्ञानी पुरुष उन बाह्य प्रवृत्तियों से उपेक्षित रहते हैं और शुद्ध ज्ञानस्वरूप अपने को अनुभवने में ही प्रयत्नशील रहते हैं।

ज्ञानाचारादिकों का प्रतिपादन—ऐसे ही ज्ञान के अनेक आचार हैं। ज्ञान की बहुत-बहुत विधियाँ मिला करके भी ध्यान यह रहता है कि एक शुद्ध ज्ञान का ही अनुभवन करते रहें। चारित्रपालन करते हुए भी याने बाह्य में अनेक चारित्र प्रवृत्तियाँ पालन कर रहे हैं, पर ध्यान इस ओर है कि मैं केवल जाननहार ही रहूँ। उपवास आदिक अनेक व्रत करके भी मुझे अपने चैतन्यस्वरूप में ही मग्न होकर तपना है, इस परमार्थ तत्त्व को भूलते नहीं है और जो भी वर्तमान में सामर्थ्य मिली है, इसका उपयोग अपने आत्मा की उन्नति में ही करते हैं। ऐसे 5 आचारों का इस ग्रन्थ में वर्णन किया है।

तत्त्वनिर्णय—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, ये 7 तत्त्व तो मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत हैं। मैं जीव हूँ, मेरे साथ जो उपाधिकर्म लगे हैं वे अजीव हैं। मैं जब बिगड़ता हूँ, विकार करता हूँ तो ये कर्मबन्धन आते हैं और कर्म बँधते हैं। जब मैं अपने आपको संभालता हूँ, भेदविज्ञान करता हूँ, अपने निकट पहुंचता हूँ, तो कर्म आने रुक जाते हैं, कर्मप्रकृतियाँ सब झड़ जाती हैं, ऐसे सम्यग्दृष्टि पुरुष अति निकट काल में ही समस्त कर्मों से मुक्त हो जाते हैं। ऐसे 7 तत्त्वों का और उसमें भी परमार्थ पद्धति से अपने आपमें इन 7 तत्त्वों का उन्हें यथार्थ निर्णय रहता है।

पञ्च भावों का वर्णन—भैया ! यहाँ इस जीव का क्या है? धन तो इसका है नहीं, वह तो प्रकट भिन्न है। देह है क्या इस जीव का? अरे ! यह देह भी इस जीव का नहीं है। फिर इस जीव का तत्त्व क्या है, इसका वर्णन 5 भागों में बताया गया है। कर्मों के उदय से जो जीव में भाव उत्पन्न होते हैं वे औदयिक भाव हैं, वे मेरे परमार्थभूत नहीं हैं। रागद्वेष, मोह आदिक भाव ये मेरे स्वरूप नहीं है, ये तो मेरी बरबादी के लिए होते हैं। जैसे पलास के पेड़ में लाख लग जाय तो वह लाख यद्यपि बाहर से आयी हुई चीज नहीं है, पेड़ में से ही निकली हुई चीज है, किन्तु वह लाख उस पेड़ को बरबाद करके रहती है, ऐसे ही ये रागद्वेष, मोह कहीं पुद्गल की चीज नहीं हैं, ये मेरे ही प्रदेशों में से निकल कर आये हैं, उपाधि पाकर, किन्तु ये मुझे बरबाद करने के लिए आये हैं आनन्द देने के लिए नहीं। ये औदयिक भाव मेरे परमार्थ स्वरूप नहीं हैं। औदयिक भाव थोड़े समय को उत्पन्न होते हैं, फिर क्षय को प्राप्त होते हैं। ये औदयिक भाव भी मेरे स्वरूप नहीं है। कर्मों के उपशम से जो निर्मलता प्रकट होती है, वह अध्रुव होने से मेरा स्वरूप नहीं है। कर्मों के क्षय से जो निर्मलता प्रकट होती है वह निर्मलता यद्यपि मेरी ही है लेकिन क्षय से प्रकट होती है इस नाते से मेरी नहीं है। कर्मों के कुछ दबाने से कुछ विनाश से, कुछ उदय आने से जो एक गंदला परिणाम होता है ऐसी भी वृत्ति मेरी नहीं है। मैं तो साफ, स्वच्छ परमपारिणामिक भाव स्वरूप हूँ। यों 5 भावों का इस ग्रन्थ में वर्णन किया है।

प्रतिक्रमणादिकों का वर्णन—संसार में रहते हुए हम आप सबके अनादि से दोष लगे आ रहे हैं, उन दोषों को दूर करने का उपाय निश्चय से प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, प्रायश्चित्त, आलोचना, नियम उत्सर्ग ये अन्त: कार्य हैं। मैं केवल ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, मेरे स्वभाव में दोष नहीं है। यों शुद्ध दृष्टि करके अपने निर्दोष सहज स्वरूप का अवलोकन करना सो प्रतिक्रमण है। यों अपने ज्ञानस्वरूप को निरखकर यह साहस करो कि मेरे में दोष आने का अवसर ही न रहे। मैं निर्दोष रहूँ। मैं अपना निर्दोष उपयोग रक्खूँगा और वर्तमान में इस अपने

सहजस्वरूप की भावना से अपने आपको प्रसन्न रखने का यत्न करूँगा। ये सब उपाय हैं अपने आत्मा को समर्थ बनाने के लिए।

तात्पर्य—परमार्थभूत जो पदार्थ हैं उनका यथार्थ निरूपण करने वाले इस भागवत उपदेश के दो तात्पर्य देखने हैं—एक सूत्रतात्पर्य दूसरा शास्त्रतात्पर्य। सूत्रतात्पर्य तो जब जो गाथासूत्र कहा गया है उस ही समय वहाँ बता दिया गया है। शास्त्रतात्पर्य यह है कि इस शास्त्रोपदेश को जो स्याद्वाद से जाने उसको शाश्वत शुद्ध जो निर्वाण है उस निर्वाण की प्राप्ति होगी। ये शास्त्र भगवान जिनेन्द्रदेव की परम्परा से चले आये हैं, इनका नाम है भागवत शास्त्र। भगवान जिनेन्द्रदेव की परम्परा से जो चला आया है उसका नाम भागवत है। जैसे जो जिनके द्वारा कहा गया है वह जैन है ऐसे ही जो भगवान की परम्परा से आगत है उसे भागवत कहते हैं। जो मुक्ति के परमआनन्द को करने वाले हैं और जो निरञ्जन निज कारण परमात्मा है उसके भावने का उपाय दिखाने वाला यह नियमसार ग्रन्थ है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने 84 पाहुड़ रचे हैं और उनमें भी आज प्रसिद्ध मुख्य ग्रन्थ हैं समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय आदि। इनमें जो निजकारण परमात्मा है उसकी उपासना की बात कही गई है। भैया ! जगत् में कोई परपदार्थ ऐसा नहीं है जिसकी शरण में हम पहुँचें और हमें शान्ति रहे। खूब अनुभव से सोच लो। स्त्री, पुत्र, वैभव, कुटुम्ब कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं है कि जिसकी शरण गहें तो शान्ति मिले। परसम्पर्क से एक न एक उपद्रव इस आत्मा में जगते रहते हैं एक परमात्मतत्त्व का आश्रय ही शरण है।

परमात्मतत्त्व का परमार्थ शरण—इस ग्रन्थ में समस्त नयवादों का उचित उपयोग किया गया है। इससे इसके अनुशासन में कहीं भी धोखा का सन्देश नहीं है। इसका जो अध्ययन करता है उसके ज्ञानभावना जगती है, समता परिणाम उत्पन्न होता है, रागद्वेष, मोह हटते हैं और वह निर्वाण का पात्र होता है। समस्त धार्मिक प्रसंगों में रागद्वेष, मोह को दूर करने का प्रयत्न करो। किसी प्रकार का राग अथवा द्वेष रखकर अपने को पापबंध में मत बांधो। समस्त अध्यात्मशास्त्रों के हृदय को जानने वाला, वीतराग सुख की अभिलाषा रखने वाला जो पद है उस पद में निर्ग्रन्थ होकर इस ज्ञानमय आत्मस्वरूप की भावना रक्खेंगे तो नियम से निर्वाण प्राप्त होगा। जब यहाँ भी हम आप कुछ कार्य किया करते हैं तो करने का बड़ा फल मिलता है ना, यदि हम परमार्थभूत आत्मस्वरूप की भावना का कार्य निरन्तर बनाये रहें तो निर्वाण न प्राप्त हो, यह कैसे हो सकता है? अपना लक्ष्य केवल एक ही रखना है। मुझे मुक्ति प्राप्त करना है। जैसे स्वतंत्रता के आन्दोलन में एक उनका नारा था—'चलो आगे बढ़े चलो, दिल्ली चलो', ऐसे ही नारा लगावो मुक्ति के लिए चलो। व्यवहार में पचासों बातें आयेंगी। रागद्वेष की जहाँ कुछ घटनाएँ आयें, उनमें उपयोग न दो और एक अपने निर्वाण मार्ग की प्राप्ति की धुन बनावो। जो पुरुष इस प्रकार निरावरण निज परमात्मतत्त्व की श्रद्धा रखता है, ज्ञान करता है, आचरण करता है, जो अपने हितरूप में स्थिर रहता है वह अवश्य निर्वाण का फल पायेगा।

शब्दब्रह्म—ब्रह्म को भैया ! तीन पद्धतियों में देखो—ज्ञानब्रह्म, अर्थब्रह्म व शब्दब्रह्म। ज्ञानब्रह्म, ज्ञानस्वरूप अथवा ब्रह्म के सम्बन्ध में जो हमने ज्ञान किया है वह समस्त अनुभवन ज्ञानब्रह्म है और जो त्रिकाल निरुपाधि निरञ्जन ज्ञायकस्वरूप है वह अर्थब्रह्म है। इस अर्थब्रह्म के परिचय के लिये जो शब्द रचे गये हैं वह है शब्दब्रह्म। बड़े सुन्दर शब्दों में यह शास्त्र बनाया गया है। जो अपने आत्मा का विशुद्ध कल्याण चाहते हों तो साहस धारणकर इसका मर्म जानेंगे उनको, अवश्य निर्वाण प्राप्त होगा।

लघुताप्रदर्शन—इस शास्त्र में यदि कोई पूर्वापर दोष हुआ हो तो आचार्यजन, सिद्धान्तवेत्ता विद्वान् उसे शुद्ध करें, ऐसा कहते हुए आचार्य का मार्दव धर्म व्यक्त हो रहा है। यहाँ तो चाहे अपने ही ज्ञान में आ जाय मैंने जो कुछ चर्चा की है, परन्तु मोहमत्त जन इसे गलत स्वीकार नहीं कर सकते हैं और यहाँ ऐसे धुरन्धर विद्वान् आचार्य कुन्दकुन्दाचार्यदेव अन्त में अपनी लघुता ही प्रकट कर रहे हैं।

अन्तिम शिक्षण—ग्रन्थ की समाप्ति के प्रसंग में एक यह भावना भावो कि जो समस्त कर्मकलंकों से मुक्त है, शुद्ध भगवंत है, वह मेरे हृदयकमल में सदा विराजा रहे और मेरा जो शुद्ध आत्मस्वरूप है, ज्ञानानन्दस्वभाव है, यद्यपि इस मुझमें परद्रव्यों के सम्बन्ध के कारण कलंक आया है तो भी उस कलंक से रहित है, उसको और अपने आपके ही अस्तित्त्व के कारण जो मुझमें स्वरसत: है ज्ञान और आनन्द भाव है उसको अपने अनुभव में लेते रहो। मैं अमुक नाम का हूँ, अमुक परिवार का हूँ, अमुक गाँव का हूँ, अमुक जाति का हूँ, इस प्रकार से अपने आपको अनुभव में न लें। इस प्रकार से अपने को अनुभव करने में क्लेश ही आयेगा। अपना ध्येय शरीर से रहित होने की स्थिति पाने का रखें और इस स्थिति के पाने के उद्यम में शरीररहित शुद्ध ज्ञायकस्वरूप की भावना करें। यह पुरुषार्थ सब नियमों का मूल नियामक है।

कारणसमयसार का जयवाद—हे कारणसमयसार ! तुम प्रति व्यक्ति सदा जयवंत प्रवर्तो। तुम्हारे आश्रय से यह कार्यपरमात्मतत्त्व प्रकट होता है, जहाँ अनन्त ज्ञान-दर्शन आनन्द व वीर्य का विकास है। हे आनन्दघन ! तुम्हारा स्वच्छ यश:प्रसार निर्बाध प्रवर्तो। तुम्हारी दृष्टि के प्रताप से एक भी संकट स्थान नहीं पाता। हे ज्ञानस्वरूप शुद्ध अन्तस्तत्त्व ! तुम उपयोग में सदा विराजो। तुम्हारे उपयोग के प्रसाद से यह आत्मलोक अलौकिक प्रकाश पाकर सहज आनन्द से सुरभित हो जाता है। हे सच्चिदानन्दस्वरूप कारणपरमब्रह्म ! तेरी भक्ति की धुन में ऐसा आन्तरिक साहस जगे जिससे समस्त परद्रव्यों का विकल्प छोड़कर निर्विकल्प होकर तेरी अभिन्न उपासना कर लूँ। हे प्रवचन के वक्तव्य के सारभूत, आत्मनियमन के सार आश्रयभूत समयसार परमब्रह्म ! तुम अन्तर्दृष्टि में सदा समक्ष रहो। ॐ शान्ति:।

नियमसार प्रवचन ग्यारहवाँ भाग समाप्त